नानेश वाणी क्रमांक-3

अनुभूति के क्षण

(आत्म समीक्षण भाग-2,

आचार्य श्री नानेश

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
मेवाड़ क्षेत्रीय समिति
वर्षीतप के पारणे के उपलक्ष्य में
सादर भेंट
सौजन्य :- श्री धनराज नागोरी, डूंगला
अक्षय तृतीया 4 मई 2003

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❑ नानेश वाणी -3
अनुभूति के क्षण (आत्म समीक्षण भाग-2)

❑ आचार्य श्री नानेश

❑ प्रथम संस्करण : अक्टूबर 2001, 1100 प्रतियां

❑ मूल्य : 30/-

❑ अर्थ सहयोगी :
श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा संघ, चैन्नई

❑ प्रकाशक :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

❑ मुद्रक :
अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
दूरभाष : 547073

(प्रथम संस्करण से)

प्रस्तावना

यह पुस्तक जैन आम्नाय के सम्मान्य एवं पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा. के राणावास प्रवचनों पर आधारित तथा श्री शांतिचंद्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन में जैन दर्शन एवं अध्यात्म साधना के समग्र समाहित हैं। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचारांग के वाक्यों को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एवं चिरंतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधकों के लिए एक संजीवनी है जिसमें समता-योग एवं ध्यान की क्रमागत एवं सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन् की भाषा प्रांजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एवं दिशादर्शक हैं और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एवं आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश हैं। इस आकलन की एक अपूर्व एवं अनुपम विशेषता यह भी है कि यहां किसी अन्य पुरुष को संबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यों का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचारांग की भांति ही प्रथम-पुरुष में ही कर अध्याय का प्रारंभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चिंतन से इतना क्रमागत एवं गुंफित है कि यह ग्रंथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष में अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एवं पथ-बंधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खंडन-मंडन नहीं है। जैन दर्शन एवं सिद्धान्त का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्मय से ऊर्ध्वारोहण कर अंनत-चेतना स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है। अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक संकीर्ण स्वार्थों से संचालित तथाकथित प्रगति एवं मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओं, अंध-परंपराओं, साम्प्रदायिक मताग्रहों, सामाजिक कुरीतियों का समीक्षण और उनके दुष्प्रभावों से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए यहां समस्त गुणस्थानों, संवर-निर्जरा एवं तप के समस्त भेद-प्रभेदों एवं ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियों का विवेचन उपलब्ध है। संक्षेप में यह पुस्तक संप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एवं साधना के सूत्रों का संक्षिप्त एवं सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता, दिनांक 26.5.95 — डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएं अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को ''नानेश वाणी'' पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर में फैले श्रद्धालुओं से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्संकल्पों की पूर्ति में कभी बाधाएं नहीं आती। ऐसा ही इस संकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सहयोग ने संघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुंचा दिया जिसमें संकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस संदर्भ में बैंगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एवं संघ समर्पणा भाव ने उन्हें प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करें। उन्होंने ऐसा ही किया। उन्हीं के सद्प्रयासों से ''नानेश वाणी शृंखला'' का 40 प्रकाशनाधीन पुस्तकों के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी संघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओं के प्रशस्त सहयोग हेतु हम आभारी हैं।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है। हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा में गतिमान हो गये हैं।

हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण में प्रकाशित एवं प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियों के नवीन संस्करण प्रकाशित किये जाने हैं। द्वितीय चरण में अप्रकाशित असंपादित प्रवचनों को संकलित कर नयी कृतियों के रूप में प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम में आचार्य नानेश की कृति **अनुभूति के क्षण** की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठकों, साधकों, स्वाध्यायियों एवं श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के हाथों में अर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओं एवं आशाओं के अनुरूप बन पड़ी है।

यहां यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि जैन श्रमण परम्परा में साधुमार्गी जैन संघ का आत्म साधना, तपोराधना, धर्म प्रभावना एवं साध्वाचार की प्रवृत्तियों को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अहं भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों ने इस संघ को अनवरत ऊंचाईयां की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म.सा. यदि निर्ग्रन्थ संस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म.सा. ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म.सा. श्रमणाचार व संघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म.सा. अनन्य योग साधक व बेजोड़ भविष्यदृष्टा बने। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होंने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि संयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शांत क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म संघ, आत्मचिंतन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाएं उन्मुक्त कीं।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रों में नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे धर्माचार्य श्री नानेशाचार्य कें साहित्य की सतत् सहज उपलब्धता जहां धार्मिक आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से अपरिहार्य है वहीं एक प्रज्ञासम्पन्न साधक, आदर्श चिंतक एवं दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल. प्रतिबोधक एवं आध्यात्मिक आराधक के रूप में उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप में उन्होंने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य में प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओं, कथाओं, प्रवचनों उपदेशों एवं उद्बोधनों के रूप में उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण, चरित्र

के सुसंस्कार एवं जीवन के परिष्कार में सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहंगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते ''साहित्य'' के अर्थों के संदर्भ में इसमें सभी रूपों का प्रतिनिधित्व है। यह शास्त्र की भांति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ में सत्य, शिव, सुंदर का समन्वित रूप भी है। इसमें सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अंग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ में लें तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनों के रूप में मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध संत थे यद्यपि सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होंने अपने प्रवचनों में यही संदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वयं को कषायों से मुक्त करें और परिधि से केन्द्र में स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चिंतन को छोड़कर अन्तर्मुखी बनें। वस्तुत: उनका बहुआयामी चिंतन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु सम्प्रदायातीत जीवन मूल्यों के विकास एवं संरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनों, फुटकर लेखों एवं भक्तजनों द्वारा संकलित/संग्रहित सामग्री के रूप में है। संघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासंभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत.करने हेतु कृत संकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गों में विभाजित कर पाना कठिन है। इसमें समाविष्ट हैं प्रवचन-संकल्प, आगम-ग्रन्थों/विषयों का विवेचन, कथा साहित्य, काव्य कृतियाँ, सुभाषित व सूक्तियां। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखांकित किया जा सकता है। वस्तुत: उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा में हो, वह उनकी उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक संत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एवं समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामों तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रों में परिचित कराने में भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, संस्कार-निर्माण एवं आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलंत समस्याओं के संदर्भ में हुआ है। उन्होंने समाजवादी और साम्यवादी चिंतन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यायित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होंने जहां जीवन की विषमताओं/विभीषिकाओं, अधर्म के विस्तार, काषयिक प्रवृत्तियों, अभावों, अशांति, तनाव, असंतोष आदि का चित्रण किया है, वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी में सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा संकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो निःसंदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हें जन कल्याणकारी चिंतन को जन-जन तक पहुंचाने की विशेष चिन्ता है। हमें उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा को उपलब्धि में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन संघ गर्व कर सकता है। संत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक हैं।

प्रस्तुत कृति *अनुभूति के क्षण* (नानेश वाणी क्र.-3) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा संघ, चैन्नई के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एवं वंदनीय है।

हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भवदीय

राजमल चोरड़िया — अध्यक्ष
धनराज बेताला — महामंत्री
शांतिलाल सांड — संयोजक

कमल सिपानी
अभय कुमार चोरड़िया
जयचन्दलाल सुखानी
उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर)

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदाहरता तिमिर जग का,
सहज शान्त अभीत !

छोटा सा दीपक, गांव की मिट्टी की सोंधी गंध से सुवासित, सुसंस्कारों के नेह से सिंचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन में युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहुं ओर परिव्याप्त निबिड अंधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मंगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारों ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार में वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात ब्रह्म ही तो थे जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हैं- 'वटस्य पत्रस्य पुटः'' 'शयानम् बालमुकुंदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के संरक्षण में नव सृष्टि का विकास संभव

हुआ था। अज्ञानांधकार के हरण में महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योंकि ''उतमतं गुणेहि चेव पविज्झई''। उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है और गुणों की ही पूजा होती है-'गुण: पूजास्थानं न च लिंग न च वय:।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवें पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा में उन्हें युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृंगार बाई का ममताव्याकुल संशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, यां पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अंधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत: ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का संकल्प। इस संकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली में सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी संकल्प की पूर्ति में ''नाना दीप'' ने दीपित संत-सतियों की एक सुदीर्घ शृंखला ही सर्जित कर दी थी। एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई थी। सम्पूर्ण संसार को अपनी ज्योति-परिधि में आवेष्ठित कर लेने के लिये और जगती का आंगन आचार्य श्री के नेश्राय में दीक्षित दीपकों की लम्बी शृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असंदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था। क्योंकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पांच सौ वर्षों में भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियां अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहों से टकराव, विरोधों की उग्रता एवं दुर्बल संघीय व्यवस्था अपने आप में विकट समस्याएं थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्जवलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत: भीषण झंझावात के उस काल में जब श्रमण संघों एवं श्रावक संघों की भावनाएं भीषणरूप से आलोड़ित थी, इस संघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी।

''संघर्ष से ही नवनीत निकलता है और संघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नों पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लड़ाई- दिये की और तूफान की, जिसमें दीया विजयी हुआ था। झंझावत शांत हुआ था सद्‌भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मंद फुहारों से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नातं हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमंगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग में तपने की। संवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी संत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावों से मुक्त होते हैं। सोना तप कर कुन्दन बनता है और संघर्षों में स्थिरमति रहकर मनस्वी वंदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थीं न गणयति दुःख न च सुखं।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचन कान्तवर्णम्॥

अशांति, विरोध और संघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्‌भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतंक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियों के उपचार में यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य संदेशों द्वारा इस संत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुंदर काव्यात्मक दिग्दर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा में यात्राओं, चातुर्मासों और उद्‌बोधनों के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामंडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस संपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन में समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चंदन और संत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भंडार सबके लिये उन्मुक्त रखते हैं। फिर इस प्रकाशपुंज की ज्योति सीमा में कैसे बंधती ? प्रसंग अनेक हो सकते हैं। परंतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालों की अटूट शृंखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो ''कम्मणा बम्भणा होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।'' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रव्रज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क संगत कहां बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमें गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामों के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहिं जानत, कंचन करत खरो- तब संत के संसर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यों नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गंगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा में मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल में उलझी अवधारणाओं को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिंतन को सैद्धान्तिक आग्रहों से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखंड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हें अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का ही सहज समाधान। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप में मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वयं किया एवं करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान

की पद्धतियों को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुंचाने में आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से संबंधित विविध चिंतन धारांओं का जिस प्रकार समता दर्शन में समन्वय किया गया, वह स्वयं में उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार संहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को संस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पांच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध:पतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता में व्यवधान डालने वाले भी हैं।

पांच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटे दिवस अरू संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई॥

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए संत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बांबि में, लारे सांपणि धाई,
उलटि मूसै सांपिण गिली यह अचरज भाई।
नाव में नदिया डूबी जाई॥

आकाश के औंधे कुएं से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हंस ही पीता है।

यह उलटबांसी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत किसी रूप में अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य में निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण

करता है और अपने पीछे छोड़ जाता है, एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की संध्यावंदन करते साधकों ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन: आकाश मार्ग से लौट गई थी !! यह चमत्कार था और हम जानते हैं, चमत्कार होते हैं। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, संपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माएं आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ज्वलित कर गया है........रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ़ कंधों पर वहन करने में पूर्ण सक्षम है........ दीप की आदित्य बनने की दिशा में एक और यात्रा प्रारंभ हो गई है। साधुमार्ग में यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परंपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये हैं। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरें लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पांच सौ वर्षों तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

–डा. आदर्श सक्सेना
बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज.)

अर्थ सहयोगी परिचय

श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा संघ, चैन्नई की स्थापना हुक्म-संघ के अष्टम पट्टधर समता विभूति आचार्य श्री नानेश के सुशिष्य पं. रत्न श्री धर्मेश मुनि जी म.सा., कविरत्न श्री गौतममुनिजी म.सा.,विद्वद्वर्य श्री प्रशममुनिजी म.सा. ठाणा 3 की प्रेरणा से उनके चैन्नई (टी.नगर) चातुर्मास के दौरान वि.सं. 2040 श्रावण कृष्णा तृतीया पूज्य गणेशाचार्य जन्म-जयन्ती पर हुई।

श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा संघ, चैन्नई एक सक्रिय, शासननिष्ठ एवं प्राणवान संघ है। स्थापना के बाद से ही संघ ने अदम्य उत्साह के साथ उल्लेखनीय प्रगति की है। वर्तमान में श्री पन्नालालजी सिपाणी युवा संघ के अध्यक्ष हैं, श्री सुगनचन्दजी धोका मंत्री एवं श्री गौतमचन्दजी बोहरा कोषाध्यक्ष हैं। अपने शासननिष्ठ कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के समर्पण भाव से युवा संघ सामाजिक, धार्मिक इत्यादि विभिन्न दिशाओं में लोक कल्याणकारी कार्य कर रहा है।

साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में भी युवा संघ ने अपने कदम बढ़ाये हैं। अपने स्तर पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कर उनका निःशुल्क वितरण भी किया है।

-अनुक्रम-

अध्याय चार

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 3

मैं विज्ञाता हूं, दृष्टा हूं !
मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है
और कौनसे सिद्धान्त अपनाने हैं ?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा एवं श्रेष्ठ सिद्धान्तों से कितना दूर हूं ? मैं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूंगा, श्रावकत्व एवं साधुत्व के पालन में संत्सिद्धान्तों के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूँगा और ज्ञान व क्रिया के संयोग से निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

सूत्र तीसरा

मैं विज्ञाता हूँ, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान का महासागर मेरे भीतर तरंगित हो रहा है। ऐसा महासागर जिसमें अनन्त सीपियाँ अपने मुंह बंद किये विश्राम कर रही हैं। उनमें अनन्त मोती हैं परन्तु बन्द हैं। ये ज्ञान विज्ञान के मोती–अमूल्य मोती हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मैं इस रहस्य को जानंता हूँ या इस रहस्य से मैं अभी तक अनभिज्ञ ही हूँ ? इस अवसर पर मुझे एक कथा याद आ रही है। एक हीरों की खान थी बिना खोदी हुई। कोई नहीं जानता था कि इस छोटी सी टेकरी के नीचे बहुमूल्य हीरे दबे पड़े हैं। एक महात्मा ही उसे जानता था जो टेकरी पर बैठा हुआ था। उस ओर से एक आदमी गुजर रहा था, महात्मा ने उसे बुलाया और कहा–भद्र, यहाँ आओ और यहाँ से भूमि को खोदो –नीचे हीरों की खान है। एक ही प्रयत्न में तुम्हारा जन्म–जन्मों का दारिद्रय समाप्त हो जायेगा। उस आदमी ने जैसे सुना ही नहीं और यह कहते हुए आगे चला गया कि क्यों राह से गुजरने वालों को पागल बनाते हो ? यदि तुम कहते हो, वैसा ही है तो तुम ही क्यों नहीं खोद लेते हो ?

थोड़ी देर बाद एक दूसरा आदमी वहाँ से निकला। उसे भी महात्मा ने वही बात कही। उसने महात्मा की बात ध्यान से सुनी और अपना उत्साह भी प्रकट किया। महात्मा ने उसे एक कुदाली भी दे दी। वह उस टेकरी को खोदने लगा। कुछ मिट्टी खोदकर वह खड़ा हो गया। तब महात्मा ने कहा–भद्र, अभी तो बहुत खोदना होगा। हीरे बहुत गहराई में पड़े हुए हैं। उसने अपने माथे से पसीना पोंछा और आलस्य से बोला– मैं तो बुरी तरह से थक गया हूँ। कौन जाने, आप सच कह रहे हैं ? फिर एक अविश्वास भरी नजर महात्मा पर फेंकी और धीरे–धीरे वहाँ से चला गया।

फिर आया तीसरा आदमी। उसके चेहरे पर ओज झलक रहा था। महात्मा ने उससे भी वही बात कही। वह रुक गया और महात्मा को उसने नमस्कार किया, फिर बोला–आपने मुझे अपूर्व जानकारी दी है इसके लिए

मैं आपका कृतज्ञ हूँ। तब उसने महात्मा के पैर छुए और कुदाली हाथ में पकड़ ली। वह खोदता गया, खोदता चला गया बिना रुके, अश्रद्धा बताये और बिना थकान दिखाये। महात्मा मुस्कराते जा रहे थे और वह जैसे उस मुस्कराहट से अधिकाधिक ऊर्जा ग्रहण करते हुए अथम परिश्रम करता चला जा रहा था। परिश्रम पुरुषार्थ में और पुरुषार्थ पराक्रम में बदलता गया। जब पराक्रम परम ओजस्वी बन जाय तो कौनसा ऐसा लक्ष्य होगा जो लक्षी के चरणों में न आ गिरे? उसका पराक्रम सफल हो गया। बहुमूल्य हीरे चरणों में लोट गये।

महात्मा ने तीनों को एक सा ज्ञान दिया। एक ने विश्वास ही नहीं किया। दूसरे ने विश्वास किया पर छिछला और क्षुद्र कि वह जल्दी ही उखड़ गया। प्रमाद ने उसे आ घेरा और वह क्लान्त हो उठा। लेकिन तीसरे ने उस ज्ञान के प्रति गहरा विश्वास किया और परिश्रम में जुट गया। यदि वह भी हीरों की बात जान कर उसे मानता नहीं और मानकर उन्हें निकाल लेने का पुरुषार्थ नहीं करता तो क्या वह हीरों को प्राप्त कर सकता था ?

मैं भी विज्ञाता हूँ क्योंकि वीतराग देवों का ज्ञान मुझे आचार्य परम्परा से मिला है किन्तु मुझे देखना है कि विज्ञाता होकर भी मैं क्या कर रहा हूँ ?

मैं दृष्टा भी हूं क्योंकि मुझे अपने आप को देखने की अभिलाषा है। यह जानना और देखना ही मुझे प्रेरित कर सकेगा कि मुझे जो ज्ञान लाभ मिला है उसे मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से मानता हूँ या नहीं ? क्योंकि मेरा उसे मानना ही मुझे उसके लिए करने की अनुप्रेरणा दे सकेगा।

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मैं जान गया हूँ कि मेरे भीतर ज्ञान और विज्ञान का महासागर तरंगित हो रहा है, उसमें अनन्त सीपियाँ अपना मुंह बन्द किये पड़ी हैं तथा उनमें अनन्त अमूल्य मोती भरे हुए हैं। और मैं यह सब देख रहा हूँ और यह भी देख रहा हूँ कि मैं उन अमूल्य मोतियों को पाने के लिए क्या कुछ पुरुषार्थ कर रहा हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि क्या मेरा पुरुषार्थ उन अमूल्य मोतियों को निकाल लाने के कठिन लक्ष्य के अनुकूल भी है या नहीं ? इस ओर मुझे अभी बहुत गहराई से देखना है ताकि मैं अपने पुरुषार्थ को सक्रिय बना सकूं। उस कठिन लक्ष्य के अनुकूल अधिक सक्रिय बन सकूं।

आत्मा का ज्ञाता व दृष्टाभाव

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, इस कारण मैं ज्ञान का स्मरण करता हूँ, विशेष ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ और उस ज्ञान के प्रकाश में अपने आचरण की सक्षमता का मूल्यांकन करता चाहता हूँ। क्योंकि मूल्यांकन की इस

कसौटी पर कसा जाकर ही मेरे ज्ञान–विज्ञान का मापदंड स्थापित होगा कि वह हीरों की खान खोदने के लक्ष्य के प्रति चलने वाले तीसरे आदमी जैसा है जिसने ज्ञान लेने के साथ ही अपना अटल विश्वास दिखाया, विश्वास के सम्बल से अथक पुरुषार्थ किया और सफलता को अपनी बाहों में भर ली।

मेरे भीतर में सवाल उठता है कि यह मूल्यांकन करेगा कौन ? मेरा 'मैं' जान गया है कि साध्य क्या है और उसे किन साधनों से प्राप्त किया जा सकेगा और समझिये कि वह उन साध्य–साधनों को मान भी गया है तथा कुदाली उसने अपने हाथ में पकड़ भी ली है, लेकिन वह कुदाली चलायेगा। इसे कौन देखेगा कि 'मैं' स्वयं उस कुदाली को कितने वेग से चला रहा हूँ और जमीन किस कदर खुद रही है ? कौन करेगा उसके पुरुषार्थ का मूल्यांकन ?

मेरे 'मैं' के भीतर तब एक जिज्ञासा जागती है। उसकी अन्दर की आँख जैसे अन्दर ही खुल पड़ती है। वह अपने को ही अपनी आंख से देखता है और उसके अन्दर एक बिजली सी कौंध जाती है। अरे, यह तो मैं ही मैं को देख रहा हूँ– फिर समस्या कहाँ रह जाती है ? मेरी करनी को मैं ही देखूंगा–मेरे पुरुषार्थ का मैं ही मूल्यांकन करूंगा। क्योंकि मैं ही मेरा दृष्टा भी हूँ।

तब मेरी आन्तरिकता के कपाट खुलते हैं कि मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मेरा विज्ञान अपनी किरणें फैंकने लगा है और मेरे भीतर की आंख चारों ओर देखने लगी है। यह 'चारों ओर' बाहर का चारों ओर नहीं, भीतर का चारों ओर है, जिसे चर्म चक्षु नहीं, भीतर के 'ज्ञान चक्षु' ही देख सकते हैं। ये ज्ञान चक्षु भीतर ही भीतर देखते हैं, किन्तु भीतर का विश्व इतना विराट् है कि वे देखते चले जाते हैं–देखते चले जाते हैं फिर भी क्षितिज के समीप नहीं पहुँच पाते हैं। क्षितिज विस्तीर्ण से विस्तीर्ण होता हुआ दिखाई देता है। यह विराट् विश्व ही मेरे 'मैं' का अन्तर्जगत् है – आत्मा का अन्तर्जगत है।

मुझे इस अन्तर्जगत् को थोड़ा–थोड़ा करते हुए भी सम्पूर्ण रूप से देखना है, तभी मेरा दृष्टा–भाव सिद्ध हो सकेगा। जब मैं को ही मैं पूरी तरह से जानूंगा–मैं को ही मैं पूरी तरह देखूंगा, तभी मैं पूरी तरह से विज्ञाता बनूंगा, दृष्टा बनूंगा। अभी तो मेरे विज्ञाता और दृष्टा–भाव का पहला ही चरण उठा है, अभी मुझे अपने विज्ञान और अपनी दृष्टि की कई मंजिलें पार करनी हैं।

इस दृष्टि से मैं अपना अभ्यास बना रहा हूँ कि मैं जानूं, जितना जान सकूं उससे और अधिक जानने की पिपासा जागृत करता रहूं। मैं जानूं जो

वीतराग देवों ने अपने स्वानुभाव के बाद कहा है और मैं उसे जानूं अपने ही जीवन के क्रिया-कलापों तथा उनके परिणामों से। चेष्टा यह हो कि मैं जानता रहूं, अपने बाहर के और भीतर के नैत्र हमेशा खुले रखूं। और जो जानता जाऊं उसे अपने देखने की कसौटी पर कसता जाऊं। जानूं भीतर बाहर से लेकिन देखूं भीतर से अपने ज्ञान चक्षु से, क्योंकि मूल्यांकन वहीं होगा और वहीं से उसके परिणाम का पता चलेगा तो वहीं से आगे के लिए यथोचित निर्देश भी मिलेगा। मेरा यह अभ्यास चलता रहे जिसके चलते रहने से ही मेरा आचरण ढलता रहेगा, सुधरता रहेगा और निखरता रहेगा। जानने और देखने की प्रक्रियाएँ क्रमानुसार चलती रहेगी और मेरे भीतर के प्रकाश एवं सामर्थ्य को बढ़ाती रहेगी।

मैं जानूंगा तो देखूंगा और देखूंगा तो करूंगा, लेकिन करने को भी देखता रहूंगा और जानता रहूंगा कि मैं क्या कर रहा हूँ, तथा जो कर रहा हूँ- सही कर रहा हूँ या नहीं और सही नहीं कर रहा हूँ तो उस करने को सही कैसे बनाऊं ? इसके लिए सही क्या है—यह मुझे अपने देखने से भी जानना पड़ेगा तो वीतराग देवों ने जो देखा और किया है उसको जान कर भी जानना पड़ेगा। मैं जिसे सही जानूंगा उसको मन से भी सही मानूंगा। इस तरह जान और मान लेने के बाद करने का काम मुख्य बन जायेगा, फिर भी उस करने को भी मुझे हमेशा देखते और जानते रहना होगा। और इसी रूप में मेरा यानी कि मेरी आत्मा का विज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव सतत जागृत बना रहेगा।

मैं अपने ही ज्ञान और विज्ञान के असीम कोष के कपाट कितने खोल पाता हूँ- यह मेरे अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है परन्तु यह सत्य तो मेरे गले उतर ही जाना चाहिये कि मेरा ज्ञान कोष अपार है और मेरी दृष्टि अनन्त है। अभी मैं जितना जानता हूँ या जितना देख पाता हूँ, वह उस महासागर की एक बूंद भी नहीं है। तो मुझे समझना होगा कि मेरे आत्म-विकास की महायात्रा कितनी दीर्घ, कितनी कठिन और कितनी श्रमसाध्य हो सकती है ? किन्तु मुझे सत्संकल्प करना होगा कि मैं अपनी इस महायात्रा का उत्साहजनक श्रीगणेश भी करूं तो तीव्रगति के साथ उसे सम्पूर्ण करने के लिए निरन्तर आगे से आगे भी बढ़ता चलूं।

तर्क और आस्था का अन्तर

मैं जानता हूँ कि मैं विज्ञाता हूँ और मेरा यह जानना भी मेरे विज्ञाता होने का ही प्रमाण है। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे विज्ञाता बनने के

लिये अभी बहुत—बहुत जानना है। अगर मैं मात्र अपने ही प्रयासों से इस जानने के पूरे क्षेत्र की यात्रा करना चाहूंगा तो हो सकता है कि मुझे कई वर्ष ही नहीं, अपने कई जन्म भी पूरे कर देने पड़ें।

क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि मैं कम से कम समय में अधिक से अधिक जान सकूं ? मैं अपनी आत्मा के विकास की महायात्रा पर हूँ यह सही है, किन्तु अनन्त आत्माओं ने अब तक अपना आत्म—विकास सिद्ध भी किया है और वे अपने चरण चिह्न छोड़ गये हैं—ऐसे चरण चिह्न जो ज्ञान—विज्ञान और दृष्टि की उनकी परिपूर्णता सिद्ध हो जाने के बाद अंकित हुए हैं। वे चरण चिह्न ही हमें उनका वह अपार ज्ञान कोष और उनकी असीम दृष्टि बताते हैं जिन्हें हम अपने ज्ञान व दृष्टि के वर्तमान विकास के स्तर से ग्रहण कर सकते हैं। जितना नवनीत हम वहाँ से ले लें, उतना दूध हमें कम जमाना पड़ेगा—बिलौना कम करना पड़ेगा। सच तो यह है कि हमें दूध से मक्खन निकालने का श्रम ही न करना पड़े, यदि हम आत्मविकास के सम्पूर्ण विज्ञान का उन चरण चिह्नों से सम्यक् अनुसरण कर लें।

लम्बे रास्ते को छोटा करने का यही श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि हम भी दूध जमायेंगे और खूब मथनी घुमायेंगे तो वही मक्खन निकलेगा जो हमें वीतराग देवों की आज्ञा के रूप में सीधा ही मिल रहा है। वह सिद्धान्त—सार हमारे सामने हैं, हम स्वतंत्र हैं कि उसकी विशेषताओं को हृदयंगम करें और उनको अपने आचरण में उतारें। लेकिन क्या हम उस सिद्धान्त—सार को यों ही अपने आचरण में उतार पायेंगे ?

यहीं आकर आस्था का प्रश्न खड़ा होता है। आस्था का प्रश्न सामने आते ही तर्क तन कर पूछता है— क्या आस्था आंख मींच कर की जाय ? आस्था आंख मींचकर करने का प्रश्न ही नहीं है—वह तो अन्धश्रद्धा कहलायेगी और अन्धश्रद्धा से कभी किसी का भला नहीं हो सकता है। आस्था आंखें खोलकर ही की जायगी, बल्कि हमारे सम्यक् ज्ञान और विवेक का जो भी स्तर हो, उस पर आस्था के विषय को खरा मानकर ही आस्था से ओतप्रोत होंगे।

तर्क एक प्रश्न और प्रस्तुत करता है और वह यह कि जब वीतराग देवों की आज्ञापालन करने की बात कही जाती है और उसके प्रति पूरी आस्था रखने की भी बात कही जाती है तो क्या यह चिन्तक आत्मा की विचार—स्वतंत्रता का हनन नहीं है ? और इसी प्रश्न का उत्तर खोजने में हमें आस्था और तर्क के अन्तर को भलीभांति समझ लेना चाहिए।

मैं बिना लागलपेट सोचता हूँ कि मेरा मन कब किसी की बात को मानना चाहता है ? यह सही है कि मैं किसी की बिना हाथ–पैर की बात कभी भी नहीं मानना चाहता हूँ। बात के हाथ–पैर होने चाहिए। क्या मतलब है इसका ? समझिये कि किसी ने आकर मुझे एक बात कही तो पहले मैं उस बात की संभावना पर सोचता हूं, फिर कहने वाले व्यक्ति की विश्वसनीयता पर। यदि दोनों बातें अनुकूल हैं तो मैं कहने वाले से तर्क करता हूँ–सीधा भी और उल्टा भी ताकि कहने वाले का जितना असत्य हो बाहर फूट जाय। इतना करने के बाद जब मेरा मन आश्वस्त हो जाता है, तब ही कहने वाले की बात को मैं मानता हूँ। मानने के बाद भी उस बात की सत्यता की अपने आचरण के माध्यम से बराबर जांच करता रहता हूँ।

इस सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से मैं कहना यह चाहता हूँ कि मानव मात्र का स्वभाव अपने ज्ञान और विवेक के अनुसार किसी भी बात को मानने का ही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य किसी भी तथ्य की पुष्टि के लिए पहला आश्रय तर्क का ही लेता है। तर्क का अर्थ हाता है कि जैसी भी और जितनी भी बुद्धि उसके पास है, उसकी सहायता से सामने आई हुई बात की जांच–पड़ताल करना। तार्किकता मनुष्य का स्वभाव होता है और हठवाद से दूर एक सीमा तक यह स्वभाव सही काम करता है। किसी भी बात को आंख मींच कर मान लेने को बुद्धिमानी नहीं कहा जाता है। बुद्धि का माप तर्क से ही निकलता है।

किन्तु मेरा मानना है कि तर्क का उपयोग एक सीमा तक ही किया जा सकता है और इसके परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिये कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतंत्रता का हनन नहीं है ? यह साफ है कि तर्क का वाहन बुद्धि ही होता है और प्रत्येक की अपनी–अपनी बुद्धि के विकास के स्तर भिन्न–भिन्न होते हैं और यह भी सही है कि अपूर्ण व्यक्तियों की बुद्धि भी पूर्ण नहीं होती है। अपूर्ण बुद्धि वाले को तर्क के आधार पर पूर्ण समाधान मिल जाय–यह भी संभव नहीं है। तर्क की गति बुद्धि तक और बुद्धि की गति उस व्यक्ति के आत्म–विकास तक, फिर वह व्यक्ति उससे आगे किस आधार पर निर्णय ले–यह एक ज्वलंत प्रश्न उठा खड़ा होगा। या तो वह उस बिन्दु तक पहुँच कर अपनी गति को विराम दे दे या अनसोचे वातावरण में और अविचारित योजना के साथ अंधे जंगल में वह अपनी गति को मोड़ दे दे ? क्या दोनों बातें सही होगी ? गति का विराम भी गलत और विगति भी गलत तब क्या किया जाय ?

आगे भी प्रारंभिक आश्रय तो तर्क का ही लिया जायेगा। यह होगा व्यक्ति की विश्वसनीयता जांचने का तर्क। कल्पना करें कि एक व्यक्ति के साथ आपका बीसों बार काम पड़ा और हर बार उसकी बात पूरी सच निकली। उसके बाद उसकी बात की विश्वसनीयता आप कैसी मानेंगे ? कहेंगे—तर्क की जरूरत नहीं है, हम उसे सही ही मानते हैं। यदि उसकी विश्वसनीयता की गहराई और अधिक हुई तो भले ही आप तार्किक हों पर इतना तक कह देंगे—आप क्यों टोकते हैं ? मैं तो उसकी बात आंख मींच कर मानतां हूँ।

इस बिन्दु पर मैं यह कहना चाहूंगा कि तर्क से जब हम सन्तुष्ट हो जाते हैं तब आस्थावान बन जाते हैं। फिर तर्क छोटा पड़ जाता है और आस्था बहुत बड़ी हो जाती है। उस वृहदाकार आस्था में कोई तर्क उठावे तो आप उसे बचकानापन ही मानेंगे।

तो प्रारंभिक तर्क से हम यह जानने का यत्न करते हैं कि उस व्यक्ति का भव्य स्वरूप कैसा हो सकता है जिसने अपनी आत्मा का पूर्ण विकास सिद्ध कर लिया हो। यह अध्ययन और तर्क का विषय होगा। ये कसौटियाँ वीतराग देव के स्वरूप पर कसकर जब आप सन्तुष्ट हो जायेंगे तब आप उनकी आज्ञा की वास्तविकता एवं सार्थकता के प्रति भी सन्तुष्ट हो जायेंगे। जिस विधि विधान पर उन्होंने अपनी सफल आत्मसाधना की और स्वानुभव से जो आनन्द उन्होंने प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने सर्व जगत् कल्याण हित प्रकट कर दिया। यह प्रकटीकरण बिना किसी पक्षपात या भेदभाव के समान रूप से उन्होंने किया। उनकी आज्ञाएं ऐसी ही हैं जैसी कि सूरज की धूप होती है या चंदा की चांदनी। इन सब पर किसी का एकाधिकार नहीं होता यानी कि वे सबकी होती हैं और सबको सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की प्रेरणा देती है। अब प्रश्न है इन आज्ञाओं के प्रति आस्था का।

मैं विचारता हूँ कि तर्क और आस्था का अन्तर स्पष्ट हो गया है। तर्क निरूपयोगी नहीं होता और आस्था कभी अंधी नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक मेरी बुद्धि और मेरा विवेक दौड़ सकता है, वहां तक मेरा विचार है कि मेरा तर्क भी दौड़ना चाहिए किन्तु अन्तर यही है कि तर्क के दौड़ने की सही सीमा मेरी अपनी बुद्धि और मेरे अपने विवेक से आगे बहुत कम रहती है। बस इतनी ही कि वह मोटे तौर पर विश्वसनीयता की समस्या को भली प्रकार से समझ ले और उसका सही समाधान निकाल ले। मैंने अनुभव किया है कि आस्था के आगे तर्क सदा ही झुकता आया है क्योंकि आस्था की कोई सीमा नहीं

होती—वह असीम बन सकती है। अतः आस्था की अनिवार्यता यह मानकर स्वीकार करनी होगी कि जहाँ तर्क की गति समाप्त हो जाती है, वहीं से आस्था की गति आरंभ होती है।

आस्था की अनिवार्यता

मैं इस विश्लेषण के साथ आज्ञापालन के महत्त्व तथा आस्था की अनिवार्यता के प्रश्न को सुलझाना चाहता हूँ। आज्ञापालन में मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन होगा तब माना जायेगा, जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जा सकने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को ही प्रथम और अन्तिम महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो और जहाँ पहुँच कर तर्क भी थम जाये, ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी एवं समतादर्शी महापुरुषों की आज्ञाओं का पालन एक साधक के लिये अपने आत्म—विकास का सबल माध्यम हो सकता है। कहा गया है कि संसार को जानने के लिये संशय अनिवार्य है और संशय तर्क को जन्म देता है किन्तु समाधि (आत्म—सुख) के लिये आस्था अनिवार्य है।

मैं अपने व्यावहारिक अनुभव का भी चिन्तन करता हूँ तो लगता है कि वहाँ पर भी व्यक्ति की विश्वसनीयता का महत्त्व कम नहीं है। पूरा विश्वास उपज जाने पर अंधेपन से भी उस व्यक्ति का आश्रय ले लिया जाता है अपने गहरे विश्वास के कारण। फिर उन महापुरुषों की आज्ञाओं पर भला आस्था बलवती क्यों नहीं बनेगी, जिनकी आज्ञाएँ मूलतः और पूर्णतः मेरे ही व्यापक हित के लिये हैं। यह नहीं कि मैं उन आज्ञाओं को समझूं ही नहीं। नहीं समझूंगा तो उनका पालन ही कैसे करूंगा ? लेकिन समझने के साथ अपनी गहरी आस्था को उनके साथ जोड़ूं, क्योंकि उनका वस्तुविषय कम से कम अभी मेरे लिये अगम्य है। किन्तु आस्था मजबूती से जुड़ेगी तो वह अगम्यता मेरे लिये बाधक नहीं बनेगी। बाधक क्या, मैं उस अगम्यता में भी साहस के साथ प्रवेश कर जाऊँगा, क्योंकि आस्था मेरा सुदृढ़ संबल हो जायेगी।

कल्पना करें कि मैं बम्बई कभी नहीं गया, लेकिन मेरा एक विश्वसनीय मित्र कई बार बम्बई जा चुका था तो क्या मैं अपने उस मित्र का निर्देशन लेकर पहली बार ही सही मगर भरोसे से बम्बई नहीं जा सकता हूँ ? निर्देशन हो या आज्ञा—अधिक अनुभवी पर विश्वास किया ही जाता है। यह सामान्य बात है। किन्तु गहन आध्यात्मिकता के क्षेत्र में तो आस्था ही मुख्य बात होगी। किसी स्थूल उपलब्धि की बात हो या सांसारिकता का विषय हो तो तर्क से ही काम चला सकते हैं। संसार की बातों में तो तर्क उचित भी रहता है क्योंकि

तर्क के आधार पर नई—नई जानकारियां होती हैं। संसार के क्षेत्र में संशय हो या असन्तोष—उससे भौतिक विषयों का ज्ञान—विज्ञान बढ़ता है। यह स्थूल उपलब्धियों की बात है। किन्तु जहाँ अपने ही आत्मस्वरूप का ज्ञान करना है अथवा अपने भीतर अक्षय सुख की खोज करनी है तो इन सूक्ष्म विषयों में तर्क का कोई काम नहीं रहता। केवल आस्था का काम रहता है कि उन महापुरुषों की आज्ञा मानी जाये जिन्होंने स्वयं ने अपने आत्मस्वरूप को हस्तामलकवत् जाना है और अक्षय सुख से स्वयं को परमानन्द स्वरूप बना लिया है। आत्मानुभूति के क्षेत्र में आस्था की अनिवार्यता है।

मैं आत्मानुभूति के क्षेत्र को सुखानुभूति का क्षेत्र मानता हूँ। सांसारिक सुखों में सच्चाई नहीं होती—वे सुखाभास मात्र होते हैं। आत्मा का सुख ही सच्चा सुख होता है—ऐसा सुख जिससे आन्तरिक समाधि प्राप्त होती है। आत्म समाधि के इस मार्ग पर चलने तथा लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये आत्मानुभवियों तथा समदर्शियों की आज्ञा का पालन अनिवार्य ही नहीं साधक का एक पावन कर्त्तव्य भी है। वीतराग देवों की आज्ञाओं का पालन करके ही आध्यात्मिक रहस्यों को जानने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है और इन आज्ञाओं के साथ साधक की आस्था एकात्म रूप से जुड़ी हुई होनी ही चाहिये।

वीतराग देवों द्वारा दर्शित आध्यात्मिक साधना कोई सामान्य साधना नहीं, मूल्यों की साधना होती है और मूल्यों की साधना में मूल्यों के प्रति अमिट आस्था होनी चाहिये। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि संसार के व्यवहार में मनुष्य कोई सत्कार्य भी प्रशंसा या यश प्राप्त करने के लिये अधिकांशतः करता है परन्तु उसकी इस भावना का दुष्परिणाम यह होता है कि यदि उसे वांछित प्रशंसा या कीर्ति नहीं मिलती है तो वह निराश होकर अपने सत्कार्यों को ही छोड़ देता है अथवा उसके सत्कार्य अपने 'सत्' गुण को त्याग देते हैं क्योंकि वह कैसा भी जोड़ तोड़ करके प्रशंसा या कीर्ति प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहता है। इस कारण मूल्यों के साधक के लिये प्रशंसा या कीर्ति की चाह करना निषिद्ध है। एक तो उसके इस असाधारण कार्य को सामान्य जन समझ नहीं पायेंगे तो दूसरे, प्रशंसा या कीर्ति की लालसा उसके कार्य की शुद्धता को बनाये नहीं रखेगी। इस कारण मूल्यों के साधक के लिये आस्था ही नौका हो और आस्था ही खिवैया। एक आस्थावान् साधक अपनी आस्था के सम्बल के साथ अपने को सर्वाधिक सुरक्षित मानता है। वैसा साधक तो अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में भी मूल्यों की साधना से अमिट आस्था के साथ जुड़ा हुआ रहता है।

मैं जान गया हूँ कि मुझे भी यदि आत्मविकास की इस महायात्रा में विज्ञाता और दृष्टा बनना है तो आस्था का सम्बल लेना ही होगा। वह आस्था सम्यक् हो याने कि सम्यक् प्रतिमानों के प्रति हो, सम्यक् श्रद्धा होगी, तभी ज्ञान भी सम्यक् बनेगा और आचरण भी सम्यक्त्व स्वरूपी होगा।

मैं यह भी जान गया हूँ कि आत्मा के ज्ञाता और दृष्टा-भाव का सम्यक् विकास भी वीतराग देवों की आज्ञाओं का सम्यक् श्रद्धा के साथ पालन करने से ही होगा। जो आत्मस्वरूप का ज्ञाता होता है, वही दृष्टा बनता है तथा जो आत्म-दृष्टा हो जाता है, वह अप्रमादी, जागृत, अनासक्त और कुशल वीर भी हो जाता है क्योंकि आत्म-दृष्टा के लिये फिर किसी उपदेश की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है। आत्म-दृष्टा के ज्ञान चक्षु इतने विस्तृत हो जाते हैं कि वे सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष देख लेते हैं। आत्म-दृष्टा बंधन और मुक्ति के विकल्पों से परे होने लग जाता है तो शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से दूर होकर द्वन्द्वातीत भी बन जाता है। आत्म-दृष्टा आध्यात्मिकता में ही जागता है और सदा अनुपम प्रसन्नता में रहता है। मैं इस दृष्टा-भाव को आस्था के आधार पर ही जागृत बना सकूंगा-यह मैं जान गया हूँ।

विश्वसनीयता के प्रतिमान

मैं मान चुका हूँ कि आत्मविकास की मेरी महायात्रा में आस्था का अवलम्बन अपरिहार्य है। वहाँ तर्क की उपयोगिता समाप्त हो जाती है यह जानने के बाद कि इस महायात्रा में हमारी विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमान कौन सिद्ध हो सकते हैं ?

विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमानों का निर्धारण करने के लिये अवश्य ही मैं अपनी तार्किक बुद्धि का उपयोग करता हूँ। मुझे मेरी इस महायात्रा में वे प्रतिमान चाहिये जो इस महायात्रा का सार्थक अनुभव रखते हों या स्वयं इस महायात्रा में अग्रगामिता के साथ गतिशील हों अथवा जिसके माध्यम से इस महायात्रा के गूढ़ रहस्यों तथा विधि-विधानों का सम्यक् ज्ञान होता हो।

मेरी विश्वसनीयता के पहले प्रतिमान होंगे वीतराग के रूप में सुदेव जिन्हें अरिहंत नाम से जानते हैं। मेरे तर्क ने कई देव नामधारी व्यक्तित्वों की जांच परख की है तो अधिकांश को यह निर्देश देते हुए पाया है कि मुझे ही पूजो, मेरी ही स्तुति करो तब मैं ही तुम्हें तारूंगा। 'मैं ही सच्चा हूँ और बाकी सब झूठे हैं'-यह कथन मेरे तर्क को भाया नहीं। जो खुद खुद को ही सच्चा कहता है, वह हकीकत में कितना सच्चा होगा ? लोग कहने चाहिये कि वह सच्चा है तो उसकी सच्चाई की तरफ नजर डाल सकते हैं। फिर 'व्यक्ति' कब

तक सच्चा रहेगा और कब बदल जायेगा—इसकी क्या गारंटी है ? इस वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे तर्क ने निश्चय किया कि गुणमूलक व्यक्तित्व को ही अपनी आस्था का केन्द्र बनाया जाये, किसी व्यक्ति को नहीं, क्योंकि मेरा तर्क व्यक्ति—पूजा को कतई महत्त्व नहीं देता।

यही कारण है कि मेरे तर्क ने वीतराग या अरिहंत को सुदेव के रूप में प्रतिष्ठित कर मुझे आस्था को सौंप दिया है। वीतराग वे महापुरुष कहलाते हैं जो राग—द्वेषातीत हो जाते हैं—समभावी और समदर्शी बन जाते हैं। कौन समभावी या समदर्शी हैं इसका निर्णय मेरे तर्क ने कर दिया और यह भी बता दिया कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति ही निष्ठा बनाने या बनाये रखने का सवाल नहीं है। जो भी समभावी और समदर्शी व्यक्तित्व हुए हैं, वतर्मान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब सुदेव हैं इसलिये वे ही मेरी विश्वसनीयता के प्रतिमान हैं—मेरी श्रद्धा के केन्द्र हैं।

तो पहला प्रतिमान मैंने निर्धारित कर लिया है देव अरिहंत को। अरिहंत का भी वही अर्थ है जो वीतराग का अर्थात् जिन महान् आत्माओं ने अपने समस्त घातीकर्म शत्रुओं (कर्मों) को परास्त कर दिया और जो समग्र ज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्म—गुणों से विभूषित बन गये। ऐसे अरिहंत का आदर्श ही मेरे लिये सच्चा आदर्श हो सकता है और उन्होंने आत्म विकास का जो मार्ग बताया है, वही मेरे लिये ग्राह्य हो सकता है। इसलिये मैं उनकी आज्ञापालन को ही सबसे बड़ा धर्म मानता हूँ। इस मान्यता के साथ ही मेरे तर्क का कार्य समाप्त हो जाता है और मेरा समूचा जीवन अमित आस्था से आप्लावित बन जाता है।

जब मैंने सुदेव के रूप में अरिहंत जैसी महान् आत्माओं को अपनी विश्वसनीयता का पहला प्रतिमान निर्धारित कर लिया है तो शेष दो प्रतिमान—सुगुरु तथा सुधर्म भी वे ही हो सकते हैं जो अरिहंत देव की महानता की कसौटी पर खरे उतरते हों। मैंने अरिहंत देव की आज्ञा को ही प्रधानता दी है तो मेरे लिये सुगुरु वे ही हो सकते हैं जो उनकी आज्ञा में विचरण करते हों और स्वयं के निर्माण के साथ धर्म का प्रचार करते हों। ऐसे सुगुरु निर्ग्रंथ होने चाहिये। निर्ग्रंथ का अर्थ है ग्रंथिरहित। उन साधु—महात्माओं के जीवन में संसार के काम—भोगों या पदार्थों की अथवा सांसारिक वृत्तियों या प्रवृत्तियों की कोई ग्रंथि नहीं होनी चाहिये। इसीलिये मेरे तर्क ने सुगुरु पद के लिये मुझे समाधान दिया है कि सुगुरु वे, जो निर्ग्रंथ हों। चूंकि अरिहंत देव प्रत्यक्ष में आज हमारे सामने विराजमान नहीं है अतः उनके ज्ञान—विज्ञान

की ज्योति लिये निर्ग्रंथ साधु ही कल्याण कार्य में लगे हुए हैं। 'गुरु—गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पांय' —की उक्ति के अनुसार आज का सीधा समाधान होगा—गुरु पद की प्रमुखता। मैंने सुगुरु पद के लिये निर्ग्रंथ का चयन कर लिया है जिनके प्रति मेरी अमिट आस्था ढल रही है।

किन्तु निर्ग्रंथत्त्व की कसौटी के लिये मैं अपने तर्क को भी सक्रिय बनाये रखता हूँ। मैं हर किसी साधु को निर्ग्रंथ नहीं मान लेता हूँ। किसी साधु के दर्शन होते हैं तो मेरा तर्क सतर्क हो उठता है। मैं जांचता हूँ—परखता हूँ कि वह साधु निर्ग्रंथ है या नहीं और अरिहन्त देव की आज्ञा में चलता है या नहीं। जब मेरा तर्क सन्तुष्ट हो जाता है तभी मेरी आस्था मुड़ती है क्योंकि मेरी आस्था अंधी नहीं है।

तीसरा प्रतिमान-मुझे चाहिये सुधर्म का। यों तो हर अच्छी बुरी बात धर्म के नाम में लपेट कर ही की जाती है ताकि आस्थावान् लोगों को भ्रमित किया जा सके, लेकिन वे सब धर्म वास्तविकता से परे ही होते हैं। कुछ व्यक्तिपरक धर्म होते हैं जो श्रद्धा का केन्द्र व्यक्ति विशेष को बनाने की बात कहते हैं। वे धर्म भी उतने वास्तविक नहीं होते। सच्चा धर्म वही कहलायेगा जो संसार की सभी आत्माओं में 'एगे आया' (एक ही आत्मा) के दर्शन कराता हो, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो संसार के समस्त प्राणियों के प्रति अपने हृदय की दया को बिखेर देने की प्रेरणा देता हो। जो धर्म दयामय हो, वही सच्चा धर्म होगा—ऐसा मैं मानता हूँ और ऐसे धर्म का मार्ग प्रशस्त किया है अरिहंत देवों ने और ऐसे ही धर्म का प्रचार करते हैं निर्ग्रंथ मुनिगण।

इस प्रकार मैंने अपनी आत्म—विकास की महायात्रा में अपने विश्वसनीय तीनों प्रतिमान सुनिश्चित कर लिये हैं जो हैं—1. देव अरिहंत —सुदेव, 2. गुरु निर्ग्रंथ—सुगुरु तथा 3. धर्म दयामय—सुधर्म और इन्हीं प्रतिमानों को मैंने अपनी समग्र आस्था अर्पित कर दी है। इस समर्पण के पश्चात् मेरा आत्म—विश्वास सुदृढ़ बन गया है कि मैं अपने आत्मस्वरूप को भी अरिहंत देवों की आत्माओं के समान ही परमोज्ज्वल स्वरूप प्रदान करने में अवश्य सफल बनूंगा।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति

किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी आस्था को समर्पित करने की अपेक्षा मैं सदा ही सत्य सिद्धान्तों तथा गुणमूलक संस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने को श्रेष्ठतर मानता हूँ। मेरी इस मान्यता के कई समुचित तथा पुष्ट कारण हैं।

मैं मानता हूँ कि व्यक्ति–पूजा सामान्यतः किसी भी साधक को तटस्थ अथवा पक्षहीन नहीं रहने देती। वह उसे एक तरफ झुकाती है तो निश्चय है कि वह दूसरी तरफ से उपेक्षित बनता है। इससे वह भेद, हठ और पक्ष के भंवर में गिर जाता है। इसी भंवर से राग और द्वेष की ज्वालाएँ उठती हैं। जो इन ज्वालाओं में खुद भी सुलगने लग जाता है, वह फिर भला साधक ही कहां रहता है ? वह पथभ्रष्ट हो जाता है। ऐसी व्यक्ति–पूजा का मैं अनुसरण कैसे कर सकता हूँ ? मैं जानता हूँ कि कोई भी व्यक्ति पूजा जाता है तो अपने श्रेष्ठ सिद्धान्तों तथा उत्तम आचरण के आधार पर ही–तो मैं व्यक्ति को क्यों अग्रिम स्थान दूं ? मैं उन सिद्धान्तों और उस आचरण को ही प्रथम महत्त्व क्यों न दूं, जिन्होंने व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्माण किया है। अतः मैं सत्सिद्धान्तों को मानता हूँ, उत्तम आचरण को मानता हूँ और आत्मीय गुणों के विकास को मानता हूँ–ये जिनमें पाये जाये वह व्यक्ति भी आस्था का केन्द्र बन सकता है।

मैं सत्सिद्धान्तों में अपनी आस्था का नियोजन इस दृष्टि से करता हूँ कि एक सिद्धान्त सदा एक समान रहता है और सिद्धान्त जिसे भी अपनी ओर प्रभावित करता है, वह प्रभावित व्यक्ति को परिवर्तित करता है। सिद्धान्त गुणमूलक होता है जो गुणों को उसके गुण में ढालता है और किसी अन्य के साथ भेद नहीं करता। सिद्धान्तों पर आधारित सभ्यता अथवा संस्कृति ही दीर्घजीवी होती है। इसका कारण है कि सद्गुण और सत्सिद्धान्त व्यक्ति की विकासशीलता के सामने सदैव ज्योतिस्तंभों के रूप में चमकते रहते हैं और सन्मार्ग दर्शाते रहते हैं।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति ही अपने यथार्थ अर्थ में मूल्यों की संस्कृति होती है–ऐसा मैं मानता हूँ। वस्तुतः गुणों का नाम ही मूल्य हैं। गुण वे हैं जो गुणी को गुणवान् बनाते हैं या यों कहें कि एक मनुष्य को मनुष्यता के गुणों से विभूषित करते हैं। मनुष्य मात्र होना उतना सार्थक नहीं है, बल्कि यदि उसमें मनुष्यता के गुणों का सम्यक् विकास नहीं हुआ है तो वह निरर्थक भी कहला सकता है। मनुष्य होने के साथ मनुष्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा जल हो जिससे प्यास ही नहीं बुझती हो तो फिर उसे जल मानेगा ही कौन ? जल का गुण है प्यास बुझाना और यदि गुणी में उसके गुण का ही अभाव है तो गुणी निर्गुणी ही कहलायेगा। इसी प्रकार मनुष्यता के अस्तित्व से ही मनुष्य का बोध होता है अतः मनुष्यता उसका मूल गुण है–उसका मुख्य मूल्य है। मनुष्य के लिये यही मूल्यात्मक जीवन है कि

वह सर्वप्रथम मनुष्यता को धारण करे। यदि एक मनुष्य में मनुष्यता ही नहीं है तो वह गुणहीन होगा—मूल्यहीन कहलायेगा।

मनुष्यता होती है मानवोचित सिद्धान्तों तथा गुणों का पुंज। यही मनुष्य के मूल्यों का समूह भी होगा। मानवोचित विशेषण का क्या अर्थ लें ? मानवोचित का अर्थ होता है जो मनुष्य के लिये उचित हो। मनुष्य के लिये उचित क्या ? इस विषय पर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण प्रकाश डाला है जिसे हम आत्मसात् करके अपने आप को भी मनुष्यता पहिचानने की कसौटी बना सकते हैं। इस पहिचान में मेरी मान्यता है कि मेरी आस्था भी उपयोगी होती तो मेरा तर्क भी कार्य करेगा। व्यावहारिक वातावरण के प्रत्येक क्रिया—कलाप के साथ जब मैं अपने हृदय को जोड़ूंगा तो स्वाभाविक रूप से मुझे समझ में आता रहेगा कि मानवोचितता क्या होती है ? उसे बताने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वयंमेव मेरी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में समाहित होती जायेगी जिसका सभी अनुभव कर लेंगे। एक हृदय से दूसरे, तीसरे और इस तरह कई हृदयों को स्पन्दित करती हुई मानवोचितता एक स्पष्ट मूल्य का रूप ले लेगी। अतः सब सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति को ही मैं अपने और सभी प्राणियों के आत्मविकास के अबाध मार्ग के रूप में देखता हूँ।

सत्सिद्धान्त कौनसा ? सद्गुण क्या ? अथवा श्रेष्ठ मूल्य किसे कहें ? यह जांच—परख मुझे करनी होगी। मेरी आस्था मुझे बता देगी कि जो सिद्धान्त—निरूपण, गुण—प्रतिपादन एवं मूल्य—समर्थन वीतराग जैसे सुदेवों ने किया है तथा निर्ग्रंथ जैसे सुगुरु जिसे परिभाषित कर रहे हैं तथा जिसका समस्त ज्ञान दयामय धर्म में समाविष्ट है, वह मेरे लिये माननीय है। मेरा तर्क भी मुझे बतायेगा कि जो सिद्धान्त, गुण और मूल्य नाना प्रकार के नाम से अथवा भांति—भांति के रूपों में मेरे सामने आते हैं, इसकी परीक्षा कैसे की जाये ? जो सत्यांश है उसे कैसे धारण कर लें और जो असत्य है उसे कहाँ और कब छोड़ दें ? तर्क और आस्था से मंडित मेरा मन कसौटी का पत्थर बन जायगा जो प्रत्येक सिद्धान्त, गुण या मूल्य की रगड़ देख कर बता देगा कि कौन—सा सोना है और कौनसा पीतल ? यह भी बता देगा कि जो सोना है, वह कितना खरा है और कितना खोटा ? वीतराग देवों की आज्ञा यही बताती है कि सत्यांशों को संचित करते रहो ताकि एक दिन पूर्ण सत्य से साक्षात्कार हो सके।

सिद्धान्तों की इस रूप में परीक्षा के क्रम में मैं सर्वथा ऐसे गुणमूलक सिद्धान्तों की चर्चा करना चाहता हूँ जिनका यदि सम्यक् रूप से आचरण

किया जाय तो वे मनुष्य को मनुष्यतामय ही नहीं, मनुष्य को देव भी बनाने की क्षमता रखते हैं।

आचरणदर्शिका अंहिसा

अहिंसा का मूल स्वरूप आचरण–दर्शक है। संसार के समस्त प्राणियों के साथ रहते हुए एक सामान्य मनुष्य को अपना व्यवहार किस रूप में ढालना चाहिये कि वह सबके साथ हिलमिल कर प्रेमपूर्वक रह सके—यह विधि अहिंसा का सिद्धान्त बताती है। इस सिद्धान्त के विशिष्ट महत्त्व का अंकन करते हुए ही अहिंसा को परम धर्म कहा गया है।

अहिंसा नकारात्मक याने निषेध रूप शब्द है जिसका विपर्यय है हिंसा। हिंसा की व्याख्या इस तरह की गई है कि किसी भी प्राणी के सभी या किन्हीं प्राणों को अथवा किसी भी एक प्राण को प्रमाद के योग से छेदना–भेदना, कष्ट देना अथवा किसी भी रीति से संत्रस्त बनाना हिंसा है। इतना ही नहीं, किसी भी प्राणी पर निरर्थक हकूमत चलाना या अपने वर्चस्व को थोपना भी हिंसा में ही लिया गया है। मात्र किसी का वध करना ही हिंसा नहीं है। यह तो स्थूल हिंसा है। इसके अनेक सूक्ष्म रूप हैं जो दस प्राणों से सम्बन्धित हैं। किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय को भी कष्ट पहुंचाओ या हैरान करो तो वह भी हिंसा है। कोई तेज आवाज सह नहीं सकता और किसी ने जाकर वहाँ ढोल बजाना शुरू कर दिया तो उसके श्रोतेन्द्रिय प्राण को कष्ट पहुंचाने के कारण ढोल बजाने वाला हिंसा का आचरण कर रहा है—ऐसा माना जायगा। मैं मानता हूँ कि किसी भी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, उसके मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तथा आयुष्य पर आघात करने वाला भी हिंसा का ही आचरण है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की हिंसा को सर्वत्र रोकना अहिंसा है और यह अहिंसा का निषेध रूप है। जबकि अहिंसा का विधि रूप होगा—प्राणियों के कष्ट दूर करना, उनके प्राणों की रक्षा करना, षड्काया के सभी जीवों पर दया—अनुकम्पा रखना आदि।

यह एक प्राकृतिक तथ्य है कि हिंसा का आचरण क्रूरता, निर्दयता और राक्षसी वृत्ति को पैदा करता है जिसके कारण मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर पशुता की तरफ जाता है। इस के विपरीत मनुष्य अपने आचरण में जितना अधिक अहिंसा का समावेश करता है, उतने ही अधिक मानवीय गुण उसके जीवन में फूलते फलते हैं। इतना ही नहीं, यदि मन, वाणी और कर्म में पूर्णतः अहिंसा की वृत्ति अपना ली जाय तो वैसा मनुष्य स्वाभाविक रूप से देवत्त्व की सीढ़ियाँ चढ़ने लगेगा।

मैं आज जब अपने देश और सारे संसार की परिस्थितियों पर सरसरी नजर दौड़ाता हूँ तो मुझे साफ महसूस होता है कि समूचा वातावरण हिंसा के आवरण में लिपटता जा रहा है। जहाँ देखें, वहीं हिंसा का तांडव दिखाई दे रहा है। चाहे सामूहिक समस्याएँ हों अथवा व्यक्तिगत उलझनें, सबको हिंसा से निपटाने की ही चेष्टाएँ की जाती हैं। परिणामस्वरूप अपराध वृत्ति बढ़ गई है, काले धंधे धड़ल्ले से चल रहे हैं और हिंसापूर्ण दंगों, आन्दोलनों या युद्धों की आशंकाएं मुंह बाए खड़ी होती जा रही हैं। मेरा मानना है कि वर्तमान वातावरण में अहिंसामय आचरण की अधिक आवश्यकता है।

मैं इसे विचारणीय मानता हूँ कि अहिंसा के सिद्धान्त के पीछे कितने व्यापक लक्ष्य अन्तर्निहित उन्हें समझने की आवश्यकता है। इस संसार में छोटे हो या बड़े, सूक्ष्म हों या स्थूल सभी जीव शरीरधारी होते हैं। इन शरीरों में अधिकांश अक्षम शरीर होते हैं और जिनके शरीर कार्यक्षम होते हैं उनमें भी कई दुर्बल होते हैं तो कुछ सबल ? कइयों के पास अपनी रक्षा के साधन नहीं होते तो कुछ के पास रक्षा के साधन और सामर्थ्य दोनों इतनी मात्रा में होते हैं कि वे सिर्फ अपनी रक्षा ही नहीं कर सकते बल्कि दुर्बलों के अधिकार व पदार्थ छीन कर उनको संत्रास भी दे सकते हैं। शरीर होने से निर्वाह की आवश्यकता होती है तथा निर्वाह के साधन अपार नहीं होते, सीमित होते हैं। निर्वाह के वे साधन, समानता से वितरित नहीं होते अथवा विकेन्द्रित नहीं होते। सशक्त शरीरधारी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें केन्द्रित कर लेते हैं, संचित बना लेते हैं। इस संचय वृत्ति से प्राणियों के बीच निर्वाह के साधनों के लिये संघर्ष और टकराव पैदा होते हैं। यही संघर्ष सत्ता और सम्पत्ति के शोषण व संचय की अंधी गलियों से गुजरता हुआ महायुद्धों के विध्वंस तक पहुंच जाता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस दृष्टि से अहिंसा व्यक्ति के आचरण को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को सदाशयमय बनाना चाहती है। कोई भी प्राणी किसी भी दूसरे प्राणी के किसी प्राण को कष्टित नहीं करे—इसका आशय यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों या हितों अथवा अपनी निर्वाह योग्य आवश्यकताओं को इतनी सीमित बनादे कि उसको किसी भी स्तर पर टकराव न करना पड़े अथवा टकराव न झेलना पड़े। इस वृत्ति से संचय की कोई गुंजाइश नहीं रह जायेगी। यदि संचय नहीं होगा तो संघर्ष भी नहीं होगा और संघर्ष के अभाव में प्राप्त पदार्थों के सम—वितरण की ओर सबके प्रयास प्रारंभ होंगे। सहृदयता ऐसे सम—वितरण की आत्मा बन जायगी।

मैं अहिंसा के सिद्धान्त की पृष्टभूमि में थ्योरी क्या है, उसका भी जिक्र करदूं। यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है। वे सुख चाहते हैं और दुख नहीं चाहते। उन्हें वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय। इसी संदर्भ में भगवान् महावीर ने भी कहा है—मैं कहता हूँ कि भूतकाल में जो तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल में जो तीर्थंकर हैं और भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे, उन सभी ने यही कहा है, कहते हैं और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीवन और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिये, उन पर शासन नहीं चलाना चाहिये, उन्हे अधीन नहीं बनाना चाहिये, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिये तथा उन्हें प्राणों से वियुक्त नहीं करना चाहिये। यह धर्म का ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

मैं सबसे पहले अपने लिये सोचना चाहता हूँ कि क्या मैं जीना नहीं चाहता ? क्या मुझे सुख प्रिय नहीं है ? क्या मुझे दुःख या वध प्रिय है ? मेरा यही उत्तर होगा कि मुझे जीवन और सुख प्रिय है, दुःख और वध अप्रिय है। तो मुझे यही सोचना है कि जो मुझे प्रिय है वहीं सभी जीवों को प्रिय है तथा जो मुझे अप्रिय है, वह सभी जीवों को अप्रिय है। इसके साथ ही मैं निश्चय करना चाहता हूँ कि मैं अन्य प्राणियों के साथ वैसा ही व्यवहार करूंगा, जो मुझे और उन्हें प्रिय लगता है। अप्रिय व्यवहार मैं नहीं करूंगा। इसी भावना की भूमिका पर अहिंसामय आचरण का श्री गणेश किया जा सकता है।

तदनन्तर मेरे मन, वाणी तथा कर्म में निरन्तर अहिंसा का सुप्रभाव अभिवृद्ध होता जायगा। विश्व के सभी जीवों की रक्षा रूप दया को मैं हृदय में बसा लूंगा। मैं जानता हूँ कि दया की आराधना से जीवों के दुःख और पापों का शमन होता है तथा सभी का कल्याण सधता है। मैं इस सत्य की गांठ बांध लूंगा कि जिस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय लगता है, उसी प्रकार से संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है अतः सभी प्राणियों पर मैं आदर एवं उपयोग के साथ दया करूंगा। मैं जब किसी भी प्राणी को हनन, आज्ञापन, परिताप, परिग्रह या विनाश के योग्य समझूंगा तो सबसे पहले यह विचार करूंगा कि जिसके साथ तुम हिंसा का आचरण करना चाह रहे हो, वह कोई अन्य प्राणी नहीं, तुम स्वयं हो, क्योंकि मेरी और उसकी आत्मा एक समान होती है। मैं मानता हूं कि यह जीव हिंसा ही ग्रंथि (आठ कर्मों का बंध) है, यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। मुझे अनुभव है कि जो पुरुष स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरे से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने लिये वैर ही वैर बढ़ाता है।

मैं अहिंसा के इस मूलमंत्र को हृदयंगम करना चाहता हूँ कि जीवन पर्यन्त संसार के सभी प्राणियों पर—फिर भले ही वे शत्रु हो या मित्र—समभाव रखूं और सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करूं जो अपने आप में एक अति दुष्कर कार्य है। जीव की हिंसा करना अपनी आत्मा की हिंसा करना है और जीवों की रक्षा करना अपनी आत्मा की रक्षा करना है। मैं यह भी जानता हूँ कि संसार में जो कुछ भी उदार सुख, प्रभुत्व, प्रकृति की सुन्दरता, आरोग्य एवं सौभाग्य दिखाई देता है, वह सब अहिंसा का ही फ़ल है। जगत् में सुमेरू पर्वत से ऊंचा तथा आकाश से विशाल कोई नहीं है, उससे भी अधिक निश्चय पूर्वक मैं समझता हूँ कि अखिल विश्व में अहिंसा जैसा दूसरा धर्म नहीं है।

मैंने किन्हीं अज्ञानियों के आरोप सुने हैं कि अहिंसा कायरता सिखाती है। यह एकदम गलत है। अहिंसा का सिद्धान्त सम्पूर्ण वीरता का परिचायक है। कायरता अथवा दुर्बलता के लिये उसमें कोई स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है। किन्तु कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता है। यह अहिंसा आत्म—बल पर आधारित होती है। इसी तरह इस आरोप को भी मैं सही नहीं मानता कि अहिंसा जीवन में अव्यावहारिक है। अहिंसा का व्यवहार तो एक नागरिक या सामाजिक सदस्य के लिये व्यावहारिक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अहिंसा को अपनाने से एक ओर काम क्रोध आदि विकारों को हटा कर क्षमा, शान्ति आदि सद्गुणों को ग्रहण कर सकते हैं तो दूसरी ओर आवश्यकताओं को निरन्तर कम करते हुए और सादगी को बढ़ाते हुए श्रेष्ठ व्यावहारिक जीवन का निर्माण भी कर सकते हैं।

मैं इन आप्तवचनों का स्मरण करके सावधान हो जाता हूँ कि कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं, कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं। किन्तु हिंसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। प्राणवध चंड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है और महा भयंकर है। इसलिये मैं निष्प्रयोजन या क्रोध, लोभ व अज्ञान से हिंसा नहीं करने का निश्चय करूंगा बल्कि प्रयोजन पूर्ण हिंसा को भी विवशता व दुर्बलता मानूंगा तथा उसे छूटते रहने का यत्न करूंगा। प्राणवध को मैं सर्वथा हेय समझूंगा और अपनी क्रियाओं में हिंसा के प्रति पूरी सावधानी रखूंगा। इस प्रकार का चिन्तन प्रत्येक पुरुष के लिए आवश्यक है।

सत्य भगवान होता है

यह आप्तवचन मेरे हृदय में जमा हुआ है कि सत्य वास्तव में भगवान् होता है। यह जो आत्म–साक्षात्कार है, वहीं तो सत्य का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से सत्य ही साध्य है और उसकी साधिका है अहिंसा। अहिंसामय आचरण ही मुझे सत्य की ओर ले जायगा। सत्य ही शिव (कल्याण) को प्राप्त कराता है तो सर्व कल्याण ही सुन्दरता का प्रतिरूप होता है। सत्य ही आत्मा को कल्याणकारी स्वरूप प्रदान करके उसे भव्य सौन्दर्य से विभूषित बनाता है।

अतः सत्य की उपलब्धि की शोध ही मेरा परम साध्य है और जब मेरे मन, वचन तथा कर्म में सत्य रम जायेगा तब मेरे जीवन में सत्य का क्या, ईश्वरत्त्व का ही स्वरूप निखरने लगेगा। सत्य तेजोमय भी होता है तो अमिट शान्ति का प्रदाता भी। मैं हमेशा सत्य को ही हृदय में स्थान दूं, सत्य ही बोलूं और अपने प्रत्येक आचरण को सत्यमय ही बनाऊं यह मेरा जीवन मंत्र होना चाहिये। सत्य बोलूं लेकिन सावद्य नहीं बोलूं अर्थात् सत्य बोलूं और प्रियकारी सत्य बोलूं, अप्रियकारी नहीं।

मैं जानता हूँ कि सत्य–भाषण से आत्मा की ओजस्विता बढ़ती है क्योंकि सत्य और निर्भीकता सदा जुड़े हुए रहते हैं। सत्य और भय का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता है। चारों ओर से दुःखों से घिरे हुए रहने पर भी एक सत्यवादी कभी झूठ नहीं बोलता क्योंकि वह सत्य के सहयोग से निर्भय होता है। वह अपने उद्देश्य से कभी डिगता नही है। इसलिये मैं अवधारणा लेता हूँ कि मैं अपने लिये भी झूठ नहीं बोलूं, दूसरों से भी झूठ नहीं बुलवाऊं तथा झूठ का कभी भी अनुमोदन भी नहीं करूं। सत्य को जानते हुए मैं कभी अपनी आत्म–प्रशंसा भी नहीं करूं तो पर निन्दा के पाप में भी नहीं पडूं। मैं न तो किसी स्वार्थ के बहकावे में आकर झूठ बोलूं और कभी क्रोध के आक्रोश में भी झूठ बोलूं। मैं जानता हूं कि एक झूठ के कारण हजारों दोष मुझे घेर लेंगे। सत्य मुझे गंभीर बनायेगा, शान्त और प्रशान्त करेगा तो मेरी आस्था को अडिग रखेगा।

मैं यह भी जानता हूँ कि सत्य असह्य होता है, फिर भी सत्य को मैं एक पल के लिये भी अपने से दूर नहीं करूंगा। सत्य और शुद्ध सत्य का मैं पुजारी बनूंगा। सत्य को मैं इस दुर्भावना से तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करूंगा कि वह ऊपर से तो सत्य दिखाई दे परन्तु भीतर से मैं उसकी आड़ में अपने स्वार्थो को साधूं। सत्य को मैं किसी पर प्रहार का साधन नहीं

बनाऊंगा याने कि सत्य होते हुए भी मैं न किसी का मर्म उधाडूंगा और न मर्मभेदक वचन कहूंगा। सत्य को मैं मर्यादा–पालन का सबल सहायक बनाऊंगा। सत्य को मैं मूर्खता का चिह भी नहीं बनाऊंगा—एक एक शब्द को तोलकर—उसके परिणाम को आंककर ही बोलूंगा। यथायोग्य स्थान पर यथायोग्य रीति से इस प्रकार बोलूंगा कि मेरे भाषा के सुसंस्कार सबको दिखाई दें और उनका सब पर सुप्रभाव पड़े। मेरे वचन सत्य होते हुए भी न तो हिंसक रूप लें और न मैं अप्रियकारी सत्य बोलूं। कपटपूर्वक सत्य बोलने को भी मैं झूठ का ही रूप मानूं। सत्य भाषी के साथ मैं मित भाषी भी बनूं। जिससे हित साधन होता हो, वही प्रखर सत्य होता है अतः ऐसे सत्य का दमन मैं अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी न छोडूं। मेरा सत्य पूर्वापर–अविरुद्ध हो तथा मन, वाणी एवं कर्म के तीनों योगों से अकुटिल हो। मैं स्पष्ट सत्य का पक्षधर रहूंगा। मैं असत्य पक्ष का कभी साथ नहीं दूंगा और सत्य का अन्वेषण निरन्तर करता रहूंगा। मैं सत्य वचन का न तो कभी स्वयं अपमान करूंगा और न दूसरों से उसका अपमान सहूंगा।

मैं जीवन भर सत्यान्वेषी बना रहूंगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि सत्यान्वेषण ही विचार समन्वय का प्रतीक होता है। मैं कहता हूँ वही सत्य है और जो दूसरे कहते हैं वह सर्वथा असत्य है छद्मस्थ के ऐसे हठाग्रह से ही मिथ्या का जन्म होता है। जहाँ भी मैं एकान्तवाद ले आया वहां सत्य असत्यमय बन जायेगा। इस संसार में जितने मस्तिष्क होते हैं, उतने ही भांति–भांति के विचार होते हैं और चूंकि अधिकांश अपूर्ण लोगों के मन में जो यह हठाग्रह जम जाता है कि उनका विचार ही सत्य है, उससे बढ़कर सत्य का अहित दूसरा नहीं होता है। पूर्ण सत्य के निकट पहुंच जाना मैं बहुत दूर की बात मानता हूँ, अतः मैं यह विचार रखता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में कुछ न कुछ सत्यांश सामान्यतया रहता है अतः मुझ जैसे सत्यान्वेषी की यह चेष्टा रहनी चाहिये कि मैं किसी भी अन्य के विचार में स्थित सत्यांश समादर करूं और उस सत्यांश को उद्घाटित करूं। असत्य को छोड़ता रहूं और सत्य को ग्रहण करता रहूं। इस प्रकार सत्यांशों का चयन ही एक दिन मुझे पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करा सकेगा।

मैं सर्वत्र फैले सत्यांशों का चयन कैसे करूंगा—इस पर मुझे गहरा विचार करना होगा। सत्य के कई पहलू होते हैं। यदि उन सभी पहलुओं को मैं नहीं समझूं तथा एक पहलू पकड़ कर ही सत्य का हठ करलूं तो यह हठ मुझे सत्य से दूर फैंक देगा। उदाहरण के तौर पर सोचूं कि एक व्यक्ति पुत्र

भी है, पिता भी है, पति भी है और इस प्रकार भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न–भिन्न प्रकार से सम्बन्ध रखता है। ये सभी पहलू सही हैं। किन्तु यदि मैं हठ करलूं कि मैं तो पिता ही हूँ तो क्या यह सच होते हुए भी झूठ नहीं हो जायेगा ? यह सच है कि वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। तो अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है। जहाँ तक विभिन्न अपेक्षाओं को नजर में रखते हुए वह 'भी' का प्रयोग करता है तो वे सब पहलू सच है लेकिन जहां उसने एक पहलू पद 'ही' लगा लिया तो वह एकान्तवाद होकर झूठ हो गया। सात अंधों और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जब दृष्टिहीन वे लोग हाथी के एक एक अंग को पकड़ कर उसको 'ही' हाथी बता रहे थे तब वे आंशिक रूप से सच कहने के बावजूद झूठे कहलाये। और जब किसी नैत्रधारी ने उनको यह रहस्य बताया कि तुम सभी अंगों को मिला लो तो पूरा हाथी बन जायेगा, तब वे सभी सच हो गये।

इस तरह मैं देखता हूँ कि इस संसार में अधिकांश लोग अपने सत्यांश को ही पूर्ण सत्य बताकर विवाद और संघर्ष करते रहते हैं। वे लोग अपने हठ को छोड़ते नहीं और दूसरे के सत्यांश को समझना चाहते नहीं, जिससे विचार संघर्ष चलता रहता है। विचार संघर्ष जितना बढ़ता है, उतना मनभेद और कर्मद्वन्द्व भी बढ़ता जाता है। कहते हैं कि मतभेद हो लेकिन मनभेद नहीं होना चाहिये–उसका आशय मैं यही समझता हूं कि मतभेद स्वाभाविक है किन्तु यदि उस मतभेद को अनेकान्त, स्यात् अथवा सापेक्षता की रीति से समझलें तो मनभेद की स्थिति तो पैदा ही नहीं होती है बल्कि मतभेद भी मिट जाते हैं। वहां विचार समन्वय की सदाशयता फैल जाती है। अनेकान्त, स्यात् या सापेक्षता का यही मर्म है कि सत्य को उसके अनेक पहलुओं से परखो, स्यात् अस्ति और स्यात्–नास्ति के तराजू में तोलो तथा सभी अपेक्षाओं से सत्य के विराट स्वरूप को जानो।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस संसार में मुख्य रूप से दो ही प्रकार के संघर्ष होते हैं। एक तो होता है स्वार्थों का संघर्ष और दूसरा विचारों का संघर्ष। स्वार्थों का संघर्ष इस कारण फैलता है कि मनुष्य अहिंसा का आचरण नहीं करता। अपने ही उचित–अनुचित सभी स्वार्थ पूरे कर लेना चाहता है किन्तु दूसरों के उचित हित को भी काटता रहता है। ऐसा जीवन के आचरण में अहिंसा के अभाव से होता है क्योंकि एक अहिंसावादी एक ओर अपने स्वार्थों को उचित आवश्यकता से अधिक फैलाता नहीं तो दूसरी ओर अपने स्वार्थों से भी ऊपर दूसरों के हितों को पहले स्थान देता है। हृदय का ऐसा

उदारवाद ही टकराव समाप्त कर सकता है। उसी प्रकार हृदय का ऐसा उदारवाद विचारों के टकराव को भी समाप्त कर सकता है। और उसका मार्ग है अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद का।

मेरा विचार है कि सभी प्रकार के संघर्षों से विचारों का संघर्ष अधिक जटिल और अधिक घातक होता है। उद्देश्यों में असमानता कम होती है लेकिन उन्हें प्राप्त करने के उपायों के बारे में ही मतभेद अधिक होता है। यह मतभेद बहुत करके व्यक्तिगत हठ से अधिक बढ़ता है। विचारों के टकराव का निवारण सत्य के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में लेने तथा सभी विचारों का समादर करने से ही हो सकता है। सभी के विचारों के सत्यांश का समादर होगा तो व्यर्थ का असन्तोष नहीं भड़केगा। प्रत्येक विचार में रहे सत्यांश को खोजा जायगा तो विभिन्न विचारों का विश्लेषण भी सम्यक् रीति से किया जा सकेगा तथा समस्याओं के समाधान भी आसानी से निकाले जा सकेंगे। यही विचार समन्वय की सही विधि हो सकती है। समन्वय के लिये सत्य का सुदृढ़ आश्रय भी आवश्यक है तो हृदय का उदारवाद भी। यही सत्यान्वेषण का मार्ग भी है।

मैं जानता हूँ कि संसार में सत्य ही सार भूत है जो महासमुद्र से भी अधिक गंभीर होता है। सत्य चन्द्रमंडल से भी अधिक सौम्य तो सूर्यमंडल से भी अधिक तेजस्वी होता है। मैं ऐसा सत्य वचन बोलूं जो हित, मित और ग्राह्य हो, लेकिन सत्य से संयम की घात होती हो तो वैसा सत्य भी नहीं बोलूं। मैं न क्रोधवश असत्य बोलूं, न लोभवश। सत्य वचन के दस प्रकारों का मैं पूरी तरह से ध्यान रखूं। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताऊं फिर भी एक जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताता है तो दूसरी जगह दूसरे अर्थ को, किन्तु मेरी विवक्षा ठीक रहे तो दोनों जगहों पर प्रयुक्त शब्द सत्य ही रहेगा। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य के ये दस प्रकार बताये गये हैं (1) जनपद—सत्य—जिस देश या क्षेत्र में जिस वस्तु का जो नाम हो, वह नाम वहां सत्य है। दूसरे देश या क्षेत्र में उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी क्षेत्रीय दृष्टि को ध्यान में रखते हुए वह असत्य नहीं है। (2) सम्मत सत्य—आचार्यों या विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है, उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य है। जैसे पंकज का अर्थ कमल ही होता है। मेंढक नहीं यद्यपि मेंढक भी कीचड़ से उत्पन्न होता है फिर भी उसको पंकज नहीं कहा जाता। (3) स्थापना—सत्य के दो भेद हैं—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। सद्भाव स्थापना है सद्भूत पदार्थों को सद्भूत के रूप

में कहना और लिखना और असद्भाव स्थापना है असत् भूत को असत् भूत कहना और लिखना। (4) नाम सत्य–गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से पुकारना। जैसे अंधे को नयनसुख कहना। (5) रूप सत्य–वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे नाटक के पात्र को राजा कहना। (6) प्रतीत सत्य (अपेक्षा सत्य)–किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बड़ी कहना। (7) व्यवहार सत्य–जो बात व्यवहार में बोली जाती है, जैसे पर्वत पर लकड़ियां जलती है लेकिन कहा जाता है कि पर्वत जल रहा है। (8) भाव सत्य–निश्चय ही अपेक्षा कई बातें होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसे वही बताना जैसे तोते में कई रंग होते हैं फिर भी उसको केवल हरा बताते हैं। (9) योग सत्य–सत्य किसी चीज के सम्बन्ध में व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना, जैसे लकड़ी ढोने वाले को लकड़हारा कहना। (10) उपमा सत्य–किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना।

सत्य से विपरीत मृषावाद होता है तथा मृषा वचन भी दस प्रकार से निकलते हैं–(1) क्रोध से निकलने वाला, (2) मान से निकलने वाला, (3) माया से निकलने वाला, (4) लोभ से निकलने वाला, (5) प्रेम से निकलने वाला, (6) द्वेष से निकलने वाला, (7) हास्य (हंसी) से निकलने वाला, (8) भय से निकलने वाला, (9) आख्यायिका (कहानी) के बहाने निकलने वाला तथा (10) उपघात– प्राणियों की हिंसा से निकलने वाला वचन। इस प्रकार सत्यामृषा याने मिश्र भाषा के भी दस प्रकार होते हैं–(1) उत्पन्नमिश्रिता, (2) विगतामिश्रिता, (3) उत्पन्न–विगत मिश्रिता, (4) जीवमिश्रिता, (5) अजीव मिश्रिता, (6) जीवाजीव मिश्रिता, (7) अनन्त मिश्रिता, (8) प्रत्येक मिश्रिता, (9) अद्रामिश्रिता व (10) अद्रद्रामिश्रिता।

सत्य–निर्णय की दृष्टि से भाषा के चार भेद किये गये हैं– (1) सत्यभाषा–विद्यमान जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप कहना। (2) असत्य भाषा–जो पदार्थ जिस स्वरूप में नहीं है, उन्हें उस स्वरूप में कहना। (3) सत्यामृषा (मिश्र) भाषा–जो भाषा सत्य भी हो और मृषा भी। (4) असत्यमृषा (व्यवहार) भाषा–जो भाषा न सत्य है और न असत्य है।

असत्य भाषा भी चार प्रकार की बताई गई है–(1) सद्भाव प्रतिषेध–विद्यमान वस्तु का निषेध करना, (2) असद्भावोद्भावन–अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना, (3) अर्थान्तर–एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना एवं (4)

गर्हा—दोष प्रकट कर किसी को पीड़ाकारी वचन कहना।

सत्य के विश्लेषण एवं अन्वेषण के महत्त्व को आत्मसात् कर मैं सदा सत्य की आराधना करूंगा, सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखूंगा तथा सत्य पर दृढ़ रहूंगा क्योंकि लोक में जो भी मंत्र, योग, जप, विद्या, जृम्भक, अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थित हैं तथा सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगों का विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह पूज्य होता है और स्वजन की तरह सभी को प्रिय लगता है।

अस्तेय की ओजस्विता

अस्तेय शब्द भी अहिंसा की तरह निषेध रूप है। चौर्य कर्म करना स्तेय या चौर्य कहलाता है तो इसका प्रतिपक्ष अस्तेय या अचौर्य होता है। इसे अदत्तादान—विरमण भी कहते हैं। इसका सामान्य अर्थ यह होता है कि जो दी नहीं गई है या बिना आज्ञा ली गई है, वह चोरी कहलाती है। चोरी नहीं करना अस्तेय है याने कि दूसरे की कोई चीज आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिये।

अस्तेय व्रत के संदर्भ में मैं जब आप्त वचनों का स्मरण करता हूँ तो मुझे प्रतीति होती है कि ज्ञानियों ने इस व्रत का लक्ष्य बहुत ही गहरा और व्यापक रखा है। कहा गया है कि जो असंविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण नहीं करता है और असंग्रह रुचि है याने कि साथियों के लिये समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर रखने में रुचि नहीं रखता है तथा अप्रमाण भोजी है अर्थात् मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता है। इसके विपरीत जो संविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण करता है और संग्रह व उपग्रह में कुशल है याने कि साथियों के लिये यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने में दक्ष है, वही अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

मैं गंभीरतापूर्वक सोचता हूँ कि आप्त—पुरुषों ने अस्तेय व्रत के संदर्भ में संविभाग को इतना महत्त्व क्यों दिया है ? संविभाग का अर्थ होता है समान रूप से विभाजन। संविभागी है वह अचौर्य व्रत का पालक है, वरना असंविभागी को चोर कहा गया है। इस मंतव्य को हमें समाज के विस्तृत क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। सोचें कि एक व्यक्ति अर्थोपार्जन करता है जो अपनी कुशलता अथवा सुसाधन संयुक्तता से अच्छा अर्जन कर लेता है या यों कहिये कि दूसरों से अधिक अर्जन कर लेता है। जहाँ तक उसने अधिक अर्थोपार्जन किया है किन्तु साथ ही संविभाग की वृत्ति रखता है व प्रवृत्ति

करता है, तब तक वह उपार्जन चोरी नहीं है। परन्तु यदि वह उस उपार्जन को अपने पास अपने ही लिये रख लेता है और उसका संविभाग नहीं करता है तो उसका उपार्जन अनुचित है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि अर्थोपार्जन की विधि में अन्य प्राणियों के हित की भावना रहती हो और उपार्जित–संचित पदार्थों के यथास्थान सवितरण की आस्था हो वह अचौर्य है तथा उपार्जन की विधि में परहित का किंचित भी ख्याल न रखा जाता हो एवं उपार्जित–संचित पदार्थों के यथा स्थान संवितरण की आस्था न हो वह चौर्य कर्म परिधि में समाविष्ट हो जाता है।

मेरा चिन्तन चलता है कि अर्जन वह अपनी कुशलता या साधन सामग्री (पूंजी आदि) से करता है, फिर उस अर्जन को निन्दनीय क्यों माना गया है ? मैं अर्जन को निन्दनीय इसलिये कह रहा हूँ कि यदि वह उसका संविभाग कर देता है तो यह कह कहते हैं कि उसने उसका प्रायश्चित कर लिया और संविभाग नहीं करता तो यह माना गया है कि वह अस्तेय व्रत की आराधना नहीं करता। संविभाग कैसे करें–उसका भी कुछ स्पष्टीकरण आप्त पुरुषों ने दिया है। अधिक अर्थोपार्जन करने वाले के पास अपने निर्वाह से अधिक सामग्री है तो संविभाग की दृष्टि से उसे अपनी प्राप्त सामग्री का सम्यक् रीति से वितरण कर देना चाहिये। वितरण की सम्यक् रीति क्या होगी ? जिसको जिस सामग्री की आवश्यकता हो, उसे वह सामग्री देने में संकोच न हो। सामाजिक आवश्यकता–पूर्ति को इस रूप में व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य कहा गया है। यथायोग्य अवसर पर यथायोग्य लोगों ने यथायोग्य रीति से अपनी प्राप्त सामग्री का यथोचित वितरण कर देना अस्तेय या अचौर्य है। संविभाग की दूसरी बात यह कि वह अपने पास सामग्री का संग्रह भी करे तो अपने लिये नहीं, जरूरत मंद आवश्यक मंद अन्य प्राणियों के लिये करें, ताकि आवश्यकता होने पर यथावसर उन्हें वह सामग्री सहायता रूप दी जा सके। संविभाग की तीसरी बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि अधिक अर्थोपार्जन भले किया है, लेकिन स्वयं अप्रमाण भोजी (भोगी) न हो, भोजन भी वह संयत करे और अन्य सामग्रियों का भोग–उपभोग भी वह मर्यादित बनावे। यदि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला सामाजिक आवश्यकता–पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता, संग्रह या संचय का उपयोग अपने साथियों के लिये नहीं करता अथवा अपने ही सुख भोग के लिये प्राप्त सामग्री बेमाप और बेहिसाब खर्च करता है तो वह असंविभागी है और अस्तेय व्रत का आराधक नहीं है। जो अस्तेय व्रत का आराधक नहीं माना जायेगा, वह निश्चय ही उस प्रकार स्तेय या चौर्य कर्म कर रहा है।

मैं अपनी दृष्टि को व्यापक बनाता हूँ और सोचता हूँ कि आप्त पुरुषों ने आज के अर्थ युग की जटिलताओं और समस्याओं को ज्ञान में देख लिया था और उन्होंने इन जटिलताओं के समाधान रूप में ही संविभाग का मंत्र प्रदान किया। जो आज की अर्थोपार्जन प्रणाली से परिचित हैं, वे जानते हैं कि आवश्यकता से अधिक अर्थ का उपार्जन करना नैतिकता से संभव नहीं है। अधिकांशतया समाज में अधिक होशियार लोग कम-समझ लोगों की मेहनत का फल चुराते हैं तभी अधिक अर्थोपार्जन संभव होता है। अनैतिक अर्थ संचंय का तो आधार ही चौर्य अथवा शोषण होता है वर्तमान युग मशीनी युग है और इसमें एक साथ हजारों लोग श्रम करते हैं। श्रमिक का श्रम ही प्रमुख साधन होता है जबकि (श्रमिकों की तरह) श्रम न करने वाला कारखाने का मालिक पूंजी, बुद्धि आदि के साधनों से सशक्त होता है। इस आर्थिक प्रणाली मे आसानी से ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि प्रत्येक को उसके श्रम का पूरा लाभ न दिया जाय या दूसरे शब्दों में यह कहें कि उसके श्रम के लाभ का काफी अंश मालिक अपने पास रखले। तो नैतिक धर्म इसे चौर्य कहता है और आज का अर्थ जगत् उसे शोषण का नाम देता है। यह चौर्य अथवा शोषण ही आज कुछ हाथों में हो रहे धन संचय का मूल है।

मुझे आश्चर्य होता है कि इस प्रकार का मह संचय तो चौर्यपूर्ण होगा लेकिन चौर्य कर्म समाप्त कहां होता है ? यदि प्राप्त सामग्री का ठीक से वितरण कर दिया जाय और संविभागी हो जाय, तब तो उस चौर्य कर्म का प्रायश्चित हो जायेगा। लेकिन आज के भौतिक वैभव सम्पन्न क्या ऐसा करते हैं ? वे तो चौर्य से प्राप्त सामग्री को अपने ही लिये संचित करते हैं व संचित धन का अधिक शोषण के लिये अधिक नियोजन करते हैं। फलस्वरूप चौर्य या शोषण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है तो संचय का परिमाण भी बढ़ता जाता है। संचय वृद्धि और संविभाग का अभाव जो निरन्तर चलता रहे तो क्या वह उसे एक मानव से मानवेतर तो नहीं बना देगा ? चोरी के धन से आदमी देव तो बन ही नहीं सकता, लेकिन क्या वह अपनी मनुष्यता को भी बचा सकता है ? धन-सामग्री मिल जाने के बावजूद मनुष्य की मनुष्यता को बचाने के लक्ष्य से ही वीतराग देवों ने संविभाग की आज्ञा दी है।

मैं इस अर्थ विन्यास को स्पष्ट करता हूँ तो लगता है कि दूसरे के द्वारा न दी गई वस्तु को लेना तो चोरी है ही, किन्तु यह चोरी का उससे भी अधिक घृणित रूप होगा कि किसी भी लाभांश इस तरह छीन लिया जाये जिससे छीनने वाला तो बिना श्रम अधिक अर्थोपार्जन करे और जिनका

लाभांश छीना जाय तो अपने निर्वाह के आवश्यक साधनों से भी वंचित हो जाये। संविभाग वृत्ति का अर्थ–विन्यास सामाजिक संदर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक प्रभाव वाला है। जब व्यक्ति समाज में एक साथ रहते हैं तो उनके बीच में अधिकाधिक समता–भरा वातावरण भी होना चाहिये। आर्थिक समता मूल में दूसरी प्रकार की समताओं का विकास करती है। इसी से अहिंसामय आचरण का विस्तार हो सकता है। इसके विपरीत विषमताएँ हिंसा और कटुता को जन्म देती हैं। आर्थिक हो या अन्य प्रकार की––विषमता सामाजिकता के पृष्ठ बल के ही तोड़ती है। इसी विषमता को समाज में न आने देने के लिये तथा अधिक अर्थोपार्जन करने वाले सदस्यों के मन में व कर्म में समता को जागृत बनाये रखने के लिये ही संविभाग का निर्देश दिया गया है। संविभागी को ही अस्तेय व्रत का सम्यक् आराधक इसीलिये कहा गया है कि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला केवल अपने लिये धन सामग्री का संचय करने से डरे और अपने माथे पर चोरी का कलंक न लगने दे। व्रती साधक के लिये चौर्य कर्म त्याज्य माना गया है और इसी त्याग के प्रेरक रूप संविभाग का प्रावधान किया गया है। अतः संविभाग का अर्थ–विन्यास सामाजिक समता की दृष्टि से बहुत व्यापक भी है।

मैं इस परिप्रेक्ष्य में जब अस्तेय की ओजस्विता पर चिन्तन करता हूँ तो मैं स्तब्ध रह जाता हूँ क्योंकि अस्तेय व्रत आर्थिक संविभाग के माध्यम से सामाजिक समता का धरातल तैयार करता है तथा व्यक्ति को समाज के हित में त्याग करने की प्रेरणा देता है। चौर्य कर्म को उकसाने वाला होता है लोभ और लोभ व्यक्ति को पतित बनाता है तो व्यक्ति की लोभ वृत्ति के दुष्परिणाम रूप समाज भी विषम, कदाग्रही और कलुषित बनता है। यदि अस्तेय व्रत का यथार्थ अर्थ में पालन किया जाये तो व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और सन्तोषी व्यक्तियों का समाज सदा ही सुखी होगा। अधिक लोभ से अधिक लाभ कमाने की लालसा ही व्यक्ति को चौर्य कर्मों में प्रवृत्त बनाती है। छोटे स्तर पर वह देते वक्त माल कम तोलता है या कपड़ा कम नापता है तो लेते वक्त तराजू के टल्ला मारकर अधिक तोलकर कम का मूल्य देता है। यह दुष्कर्म जितना फैलता जाता है, व्यक्ति अपने आपको शोषण, काले धंधों और तस्करी आदि में लगाकर अधिक से अधिक मुफ्त का लाभ कमाना चाहता है। व्यक्ति ऐसे उद्यमों पर स्वयं भावनापूर्वक अंकुश लगाने और अस्तेय व्रत की महत्ता को महसूस करे, परन्तु उसके साथ ही उस लोभ पर अंकुश लगाने का कोई सामाजिक प्रयास किया जाये तो उसके कारण भी लोभी व्यक्तियों की वृत्ति संविभाग की दिशा में मोड़ी जा सकेगी।

यह सब समझ कर मैं सोचता हूँ कि मैं संविभागी बनूंगा, लोभ को खत्म करूंगा तथा अपनी आवश्यकताओं को भी मर्यादित बनाऊंगा। चाहे किसी का तिनका ही क्यों न लेना हो मैं उसकी बिना आज्ञा नहीं लूंगा। मैं औरों के धन पर कभी भी अपना अधिकार नहीं करूंगा। प्राप्त वस्तुओं का सम्यक् विभाग करके धन पर अपना राग–भाव मिटाने का प्रयत्न करूंगा। और अस्तेय व्रत में कहीं भी गांठ नहीं रखूंगा। मैं अपनी भावना बनाऊंगा कि जब मैं परिपूर्ण अस्तेय व्रत को अपनाऊंगा तब मैं भिक्षा तक को भी बांट कर खाऊंगा और अप्रमाण योगी कभी नहीं बनूंगा। चौर्य कर्म करके मुझे कितना भी मान–सम्मान मिलता हो तब भी मैं उसे ठुकरा दूंगा।

मैं जानता हूँ कि मनोज्ञ रूप आदि इन्द्रिय विषयों से जो सन्तुष्ट नहीं रहता है, वह उनके परिग्रह में आसक्ति एवं लालसा वाला बना रहता है और अन्त में असन्तोष से दुःखी एवं लोभ से कलुषित वह आत्मा अपनी इष्ट वस्तु पाने के लिये चोरी करता है। इस कारण मैं चौर्य कर्म को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से इन्द्रिय–संयम को धारण करूंगा। इन्द्रियों और मन की गतिविधियों पर नियंत्रण करके मैं अपनी आवश्यकताओं को सीमित व मर्यादित कर सकूंगा जिसके कारण लोभ रूप कषाय मेरे अन्तर्मन को कलुषित नहीं कर पायेगी और लोभ को मैं रोक लूंगा तो अदत्तादान विरमण भी साध लूंगा। अस्तेय व्रत की ओजस्विता में अपने चरित्र को निर्भीक व निर्मल बना लूंगा।

प्रभावकतापूर्ण ब्रह्मचर्य

मिथुन या कुशील सेवन को एक अनाचार माना गया है तो ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय संयम को एक महानतम तप, क्योंकि ब्रह्मचर्य से विवेक जागृत होता है और जीवन की प्राभाविकता सिद्ध होती है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की सम्यक् साधना का मूल ब्रह्मचर्य माना गया है। ब्रह्मचर्य के बिना मुक्ति की संभावना ही नहीं मानी जा सकती है। ब्रह्मचारी एक कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को सिकोड़ कर काम भोगों से दूर हो जाता है तथा भय से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश तो यों मानिये कि सभी आत्मगुणों का नाश और ब्रह्मचर्य की साधना तो एक लाठी से सभी भैंसों को हांकने की तरह सभी आत्म गुणों का आधिपत्य है। यह सही है कि ब्रह्मचर्य अति दुष्कर व्रत है किन्तु जो काम की मार को मार देता है, वह आत्म–शत्रुओं को भी मार देता है।

मैं देखता हूँ कि इस संसार में काम वासना का तांडव बड़ा भीषण होता है। कहीं पर भी वासना जन्य दुःखों को देखकर ब्रह्मव्रत के महात्म्य का

अनुभव किया जा सकता है। गंध, शब्द, रूप, रस एवं स्पर्श रूपी काम भोग पांच प्रकार के होते हैं और इनके प्रति रही हुई वासना दुर्जेय बन जाती है। पुरुष के लिये स्त्री संसर्ग और स्त्री के लिये पुरुष संसर्ग वासना के बांध को तोड देता है, बल्कि यहां तक कहा गया है कि वैतरणी दुःस्तर नहीं, नर–नारी का परस्पर संग दुःस्तर है समस्त विषय भोग अस्थिर होते हैं तथा विषयग्रस्त व्यक्ति अस्वस्थ और संत्रस्त रहता है। वासना तो तालपुट विष रूप मानी गई हैं। ये तीन बातें जिसमें पहली देहविभूषा, दूसरा स्त्री संसर्ग और तीसरा सरसप्रंणीत भोजन है। इन तीनों से आत्मगवेषी ब्रह्मचारी बच कर चलता है। उसके चित्त में से कामेच्छा निकल जाती है, नैनों में से राग निकल जाता है और स्त्री के प्रति हृदय में वैराग्य जाग जाता है। उसे स्त्रियों के रूप की चर्चा करने का अवकाश ही नहीं मिलता है क्योंकि वह अपना सारा समय निर्मल ज्ञानाभ्यास में लगा देता है। वह पूर्वकृत काम क्रीड़ाओं को भी याद नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि उस याद से भी उन्माद पैदा हो सकता है। एक ब्रह्मव्रती को कंप, स्वेद या मूर्छा की आशंका नहीं रहती तो शक्ति क्षय की ग्लानि भी नहीं। वह तो आत्म–रमणमय बन जाता है क्योंकि वह देह तृप्ति से दूर हट कर आत्म–सन्तुष्टि में लीन हो जाता है। जिसके मन पर काम की सूक्ष्म छाप भी नहीं रह जाती, वह मुक्तात्मा बनने लगता है। वह आत्मानन्द का रसास्वादन करने लग जाता है।

'स्व' स्थ जीवन के लिये ब्रह्मव्रत की आराधना अपरिहार्य है–ऐसा मेरा अनुभव है। जैसे ब्रह्मचर्य को मुक्ति का प्रतीक माना है, वैस ही काम–भोग संसार के प्रतीक माने गये हैं। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है अतः ब्रह्मचर्य की साधना की दिशा में आगे बढ़ते रहना अनिवार्य है। सर्वांशतः ब्रह्मचारी नहीं बन सकते हैं तब तक भी इन्द्रिय संयम में आचरण का अभ्यास चलता रहना चाहिये। जब जब किसी वर्ग में ऐसा अभ्यास टूटा है और मुक्त मैथुन का समर्थन किया गया है, तब तब उस वर्ग में विषय वासना की ऐसी आंधियाँ चली हैं, जिनमें क्षत–विक्षत होने से कोई नहीं बचा होगा। यह ठीक है कि संसार में कामेच्छा अपनी जगह पर होती है तथा प्रजनन भी संसार के संसरण का एक प्रमुख साधन है, तब भी विकसित संस्कृतियों ने काम को सदा ही सुसंस्कारित तथा नियमित बनाने का प्रयास किया है। विवाह संस्था की स्थापना ऐसे ही प्रयासों का परिणाम है। छुट्टे सांड की तरह आदमी भोग लिप्त बन कर अपनी ही रचनाओं को उजाड़ने न लग जाये–इस उद्देश्य से विवाह प्रथा प्रारंभ हुई कि कामेच्छा–पूर्ति की दृष्टि से एक पुरुष और एक स्त्री परस्पर प्रतिबंधित हो जायं। इसे दुष्चरित्र माना गया कि ऐसे प्रतिबंधित

स्त्री–पुरुष अपने प्रतिबंध को तोड़कर अन्य स्त्री अथवा पुरुष के साथ गमन करें। गुप्त रूप से भी ऐसा करना पाप माना गया। ऐसी संस्कृति के फलस्वरूप काम भोगों के विकराल दुष्परिणामों से भारतीय समाज बचा हुआ रहा है।

वर्तमान विश्व में काम भोगों की लिप्तता के जघन्य रूप को जब मैं देखता हूँ, तो पश्चिम के देशों का ध्यान आता है, जहां काम–पूर्ति के लिये मुक्त वातावरण चुना गया, किन्तु आज उन देशों में सामाजिक व्यवस्था यौन अपराधों के अंधेरे में छिन्न–भिन्न हो गई है तो काम भोगों में सम्पूर्ण सुख मानने वाले उन देशों के नागरिक आज अपनी ही मानसिकता से अत्यधिक अशान्त एवं विक्षुब्ध हैं। अभी भी वे लोग अपनी अशान्ति को घोर नशीले पदार्थों में डुबो देने की कुचेष्टा ही कर रहे हैं। इसके विपरीत जब वे इन्द्रिय संयम तथा ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व देंगे, तभी वे अपनी वर्तमान दुरावस्था को सुधार सकेंगे।

मेरा अनुभव है कि भारत में भी जब से ब्रह्मचर्य–साधना का महत्त्व किन्हीं वर्गों ने कम करके देखा है तो वे वर्ग यौन अपराधों से संत्रस्त बने हैं तथा उनकी सामाजिकता अति अस्त–व्यस्त हुई है। ऐसे वर्गों की काम लिप्सा एक प्रकार से सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन पर भी बुरा असर डाल रही है। ऐसे विकृत होते वातावरण में संसार के व्यवहार को संशोधित करने की दृष्टि से विवाह–व्यवस्था को व्यवस्थित करना तथा मूल रूप से ब्रह्मचर्य साधना की दिशा में गति करना आवश्यक हो गया है।

मैं मानता हूँ कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है । एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं। किन्तु एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब गुण–शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयंमेव प्राप्त हो जाते हैं। जो शुद्ध भाव से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है। ऐसा हित–मित भोजना करना चाहिये जो जीवन यात्रा एवं संयम यात्रा के लिये उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंशना। साधक को कमल पत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये।

मैं ब्रह्मचर्य की अवधारणा मूलरूप में यह मानता हूँ कि मैं अपने मन, वचन एवं काया के समस्त योगों को सांसारिक वासनाओं से हटाकर

आत्म–चिन्तन में लगा दूं। न तो वैक्रिय शरीर के देव सम्बन्धी भोगों का मन वचन काया से स्वयं सेवन करूं, न दूसरे से कराऊं और न उनकी अनुमोदना करूं और इसी प्रकार मैं औदारिक शरीर के मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी काम भोगों का भी त्याग करूं ताकि मैं अट्ठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन कर सकूं। ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानों का भी मैं ध्यान रखूं तथा अपने–आपकी काम वासनाओं से रक्षा करूं। दस समाधि स्थान इस प्रकार हैं–(1) जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, वहां ब्रह्मचारी न रहें, (2) वह स्त्री सम्बन्धी कथा न करे तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर अन्तःमुहुर्त पहले न बैठे, (3) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे, (4) स्त्री के मनोहर व सुन्दर अंग–प्रत्यंगों को न देखें, (5) पर्दे, दीवाल आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियों के विषयोत्पादक शब्द, गीत, हास्य या विलाप को न सुने, (6) पहले भोगे हुए काम भोगों का स्मरण न करे, (7) सरस और कामोत्तोजक आहार न करे, (8) शास्त्रोक्त परिमाण से अधिक आहार न करे, (9) स्नान, मंजन आदि करके शरीर को अलंकृत न करे तथा (10) सुन्दर शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में आसक्त न बने।

ब्रह्मचर्य–शील की आराधना करते हुए मैं स्त्रियों के रूप लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को अपने मन में तनिक भी स्थान नहीं दूंगा और रागपूर्वक देखने का प्रयत्न भी नहीं करूंगा। मैं स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी नहीं करूंगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से ही उत्तम श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ऋषि है, वही मुनि है, वही साधु है और वही भिक्षु है। मन, वचन, काया का गोपन करने वाले मुनियों को चाहे वस्त्राभूषणों से अलंकृत अप्सराएं भी संयम से विचलित नहीं कर सके तब भी उन्हें एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये–यही अत्यन्त हितकारी और प्रशस्त है। टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है। साधु स्वयं स्थिर चित्त हो फिर भी पुरुष व महिला की साक्षी के बिना आर्या के साथ पठन–पाठन आदि आर्या का सम्पर्क भी ठीक नहीं है। जैसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता है, उसी प्रकार साधु संसर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है।

मैं जान चुका हूँ कि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषों का पुंज रूप है। दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस, और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं। यह ब्रह्मचर्य

धर्म ध्रुव धर्म है, नित्य है, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट है। इसका आचरण कर पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं तथा भविष्य में होंगे। जो पुरुष स्त्रियों का त्रिक त्रियोग से सेवन नहीं करते, उनका सर्वप्रथम मोक्ष होता है। ब्रह्मचर्य सभी तपों में प्रधान है। यह तो ब्रह्मचर्य की प्रचलित व्याख्या हुई किंतु व्युत्पत्ति की दृष्टि से ब्रह्म+चर्य=अर्थात् ब्रह्म याने आत्मा–परमात्मा वीतराग देव उस वीतराग स्वरूप में सदा चित्त की चर्या रहे वह ब्रह्मचर्य है ! यह लक्षण जिसमें पाया जाये उसे ब्रह्मचारी कहते हैं।

अपरिग्रहवादी साम्यता

मैं देखता हूँ कि सारे संसार में परिग्रह के लिये जो दौड़धूप हो रही है, जो कृत्य–अकृत्य किये जा रहे हैं तथा जो तृष्णा व वितृष्णा की लालसा भड़क रही है–वह सब परिग्रहवाद है। जिसके पास परिग्रह नहीं हो वह भी परिग्रहवादी हो सकता है क्योंकि वह परिग्रहवाद की मूर्च्छा (मोह) से पीड़ित होता है। मुख्यतः यह मूर्च्छा या मोह ही परिग्रह है। यदि यह नहीं है और संयम निर्वाहार्थ पदार्थ हुए भी तो वह परिग्रह नहीं पदार्थ मूर्च्छारहित बनकर पदार्थ को धारण करने वाला भी अपरिग्रहवादी हो सकता हैं क्योंकि मूलतः मूर्च्छा को ही परिग्रह माना गया है।

इसलिये मैं मानता हूँ कि समाज में परिग्रह की सुव्यवस्था करके परिग्रहवादी मूर्च्छा मनोवृत्ति की समाप्ति की जा सकती है। वह सुव्यवस्था परिपूर्ण अपरिग्रहवादी साम्यता की होगी, जिसमें व्यक्ति की समानता की इच्छा भी काम करेगी तो ऐसे यथास्थान सामाजिक सुव्यवस्था के उपाय भी कार्यान्वित किये जा सकेंगे जिनके कारण पदार्थ रूप सम्पत्ति के प्रति व्यक्तियों का मोह–जाल कट जाय। इनमें से एक सामाजिक उपाय स्वामित्व समाप्ति का हो सकता है। भगवान् ऋषभदेव से पूर्व में युगलिया (आदिम) काल था। तब सम्पत्ति पर किसी का स्वामित्व नहीं था। वृक्ष सभी के थे, सभी इच्छानुसार फल खाते थे। सरोवर सभी के थे, सभी अपनी तृषा शान्त करते थे। किन्तु जब मनुष्य का निर्वाह स्वाभाविक रूप से प्राकृतिक साधनों द्वारा नहीं होने लगा तो मनुष्य अपने श्रम से उत्पादन की ओर बढ़ा। फिर खेती, व्यापार, उद्योग आदि बढ़ते गये, त्यों–त्यों व्यक्तिगत स्वामित्व की परिपाटी मजबूत बनती गई। व्यक्तिगत स्वामित्व होता है इसीलिये अधिकाधिक संचय करने की उद्दाम लालसा बनी रहती है। इस व्यवस्था में जितना संचय नहीं होता उससे हजार गुनी मूर्च्छा बनी रहती है। चौबीसों घंटे मनुष्य इस मूर्च्छा में मूर्च्छित ही बना रहता है। व्यक्तिगत के विरुद्ध यदि सामाजिक स्वामित्व

की कोई विधि अपनाई जाती है तो संभव है कि व्यक्ति की इस घनघोर मूर्च्छा में कमी आवे। जैसे एक छात्रावास में मेज कुर्सी आदि पर किसी एक छात्र का स्वामित्व नहीं होता, वे मात्र उनका उपयोग ही कर सकते हैं तो उस सम्पत्ति पर किसी भी छात्र की मोह भावना नहीं होती है। वह उनका निरपेक्ष भाव से उपयोग करता है। ऐसी ही निरपेक्ष भावना पदार्थ–परिग्रह के प्रति यदि सारे समाज में ढल जाये तो निश्चित मानिये कि वैसा समाज आत्म विकास की महायात्रा में लम्बे–लम्बे डग भरता हुआ बहुत आगे निकल जायेगा।

मेरा अनुभव है कि वस्तुतः यह परिग्रहमोह ही मनुष्य को सांसारिकता के बंधनों में मजबूती से बाँधे रखता है। इसीलिये देखा जाता है कि सत्ता या सम्पत्ति के अपने मोह के पीछे मनुष्य अपने आत्मीयजनों तक के प्रति कटु और कुटिल बन जाता है। यही मोह मनुष्य को हिंसा और प्रतिहिंसा की आग में जलने–जलाने के लिये छोड़ देता है। मैंने परिग्रह के लिये मूर्च्छाग्रस्त मनुष्यों की दुर्दशा देखी है जिसे देखकर मैं स्तब्ध रह गया हूँ। यह मूर्च्छा शराब के नशे से भी ज्यादा गहरी और घातक होती है। इसलिये मैं इस मूर्च्छा से दूर रहना चाहूंगा जिसका एक मात्र उपाय यह है कि किसी भी वस्तु के संग्रह करने की इच्छा तक न की जाय। मैं थोड़े से लोभ के कारण पहले थोड़ा सा संग्रह करूंगा तो संग्रह से लोभ और लोभ से संग्रह का परिमाण निरन्तर बढ़ता हुआ चला जायेगा, जिस को रोक पाना मेरे लिये कठिन हो जायेगा। यह मैं जानता हूँ कि परिग्रह रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे एकमात्र संयम की रक्षा के लिये हैं और अनासक्त भाव से वे उनका उपयोग करते हैं। इस अनासक्त भाव के कारण, वे परिग्रही नहीं होते क्योंकि उसमें आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है। यदि मैं भी परिग्रह के प्रति मूर्च्छा–मोह छोड़ दूं, आसक्ति त्याग दूं तथा अपने निर्वाह की मूल आवश्यकता रूप पदार्थ ही अपने पास रखूं तो मैं पूर्ण परिग्रही या परिग्रहवादी नहीं कहलाऊंगा। किन्तु यदि एक साधु अपने वस्त्र–पात्र के साथ भी आसक्ति के बंधन में बंध जाय तो वह साधु भी परिग्रही या परिग्रहवादी बन जायेगा। इसलिये ज्ञानी पुरुष संयम के सहायभूत वस्त्र–पात्रादि उपकरणों को केवल संयम की रक्षा के खयाल से ही रखते हैं, मूर्च्छाभाव से नहीं। वस्त्र–पात्रादि पर ही क्या, वे महात्मा पुरुष तो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं।

मैं भी इस ममत्व को घटाने का अभ्यास करूंगा। मैं सचित या अचित थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से नहीं रखूंगा अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा नहीं दूंगा क्योंकि यदि ऐसा करूंगा तो मेरा कभी दुःख से छुटकारा नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूँ कि ज्यों ही मैं परिग्रह–मोह में गिरा नहीं कि मायादि शल्य, दंड, गारव, कषाय, संज्ञा, शब्दादि गुण रूप आश्रव, असंवृत्त इन्द्रियाँ तथा लेश्याएं सभी मेरे आत्मस्वरूप को घेर लेंगे। सारे लोक में सभी जीवों के लिये परिग्रह जैसा कोई दूसरा पाश या प्रतिबंध नहीं है। यह सत्य है कि जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का भी त्याग करता है। जिसके ममत्व और परिग्रह नहीं है, वही मुनि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जानता है। जो साधु वस्त्र–पात्रादि संयम के उपकरणों में मूर्च्छा एवं शुद्धि भाव का त्याग करता है शास्त्र–विहित कुलों से थोड़ी भिक्षा लेता है, संयम को असार बनाने वाले दोषों से तथा क्रय–विक्रय और संचय से दूर रहता है और सभी द्रव्य भाव संयोग से निर्लिप्त रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

मैं मानता हूं कि इस रूप में परिग्रह दो प्रकार का हो गया—मूर्च्छा–मोह रूप आभ्यन्तर परिग्रह तथा धन–धान्यादि बाह्य परिग्रह। इस परिग्रह मोह को जानकर भी जो उसका त्याग प्रत्याख्यान नहीं करता, वह इन ग्यारह उपलब्धियों को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है—(1) केवली–प्ररुपित धर्म सुनना, (2) बोधिप्राप्त करना, (3) गृहस्थावास छोड़कर साधु बनना, (4) ब्रह्मचर्य पालन करना, (5) विशुद्ध संयम प्राप्त करना, (6) संवर साधना का सफल होना, (7) निर्मल मतिज्ञान प्राप्ति, (8) श्रुति–प्राप्ति, (9) अवधि ज्ञान की प्राप्ति, (10) मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति तथा (11) केवल ज्ञान की प्राप्ति। किन्तु जो इस परिग्रह मोह को जान कर उसका त्याग करता है, वही ये ग्यारह उपलब्धियाँ प्राप्त करने में समर्थ बनता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से परिग्रह संज्ञा उसे कहते हैं जो लोभ मोहनीय के उदय से सचित्त आदि द्रव्यों को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा या तृष्णा के रूप में उत्पन्न होती है। यह परिग्रह संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है—(1) परिग्रह की वृत्ति होने से, (2) लोभ मोहनीय कर्म के उदय होने से, (3) सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनने और देखने से तथा (4) सदा परिग्रह का विचार करते रहने से। ऐसी संज्ञा, मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह रूप है। किसी भी वस्तु में चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य, आभ्यन्तर या किसी प्रकार की हो—अपनी हो या पराई हो, उसमे आसक्ति

रखना, उसमें बंध जाना या पीछे पड़कर अंपने विवेक को खो बैठना परिग्रह हैं। धन सम्पत्ति आदि वस्तुएँ परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा की कारणभूत होने से परिग्रह कह दी जाती हैं किन्तु वास्तविक परिग्रह उन पर होने वाली मूर्च्छा है। मूर्च्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट भी अपेक्षा से अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्च्छा होने पर एक भिखारी भी परिग्रही कहलाता है।

बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है--(1) क्षेत्र--धान्य आदि उत्पन्न करने के खेत भूमि आदि, (2) वास्तु—घर, भूमिगृह, महल आदि, (3) हिरण्य—चांदी घड़ी या बिना घड़ी हुई, (4) सुवर्ण—सोना घड़ा या बिना घड़ा हुआ तथा हीरा, माणक, मोती आदि जवाहरात, (5) धन—गुड़ शक्कर आदि पदार्थ व मुद्रा, (6) धान्य— चावल, गेहूं, बाजरा, मूंग, चना आदि (7) द्विपद—दास, दासी पक्षी आदि (8) चतुष्पद—हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, वगैरह एवं (9) कुप्य—सोने, बैठने, खाने, पीने आदि के काम में आने वाली ध ातु की बनी या दूसरी वस्तुएँ (घर—बिखरी)।

आभ्यन्तर परिग्रह के भी ग्रंथि—रूप चौदह भेद कहे गये हैं— (1) हास्य—जिसके उदय से जीव को हंसी आवे, (2) रति—सांसारिक पदार्थों में रुचि हो, (3) अरति—धर्म कार्यों में अरुचि हो, (4) भय—सात प्रकार के भयों की उत्पत्ति हो, (5) शोक—शोक, चिन्ता रुदन आदि पैदा हो, (6) जुगुप्सा—घृणा उत्पन्न हो, (7) क्रोध—गुस्सा पैदा हो, (8) मान—अहंकार पैदा हो, (9) माया—कपट वृत्ति पैदा हो, (10) लोभ—लालच, तृष्णागृहित उत्पन्न हो, (11) स्त्रीवेद—स्त्री को पुरुष की इच्छा हो, (12) पुरुषवेद—पुरुष को स्त्री की इच्छा हो, (13) नपुंसकवेद—नपुंसक को स्त्री व पुरुष की इच्छा हो तथा (14) मिथ्यात्व—मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न हो अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

अपने लक्षणों की दृष्टि से मोह रूप इस परिग्रह के तीस नामों का उल्लेख आया है—(1) परिग्रह (2) संचय (3) चय (4) उपचय (5) निधान (6) संभार (7) संकर (8) आदर (9) पिंड (10) द्रव्य सार (11) महेच्छा (12) प्रतिबंध (13) लोभात्म (14) महर्षि (15) उपकरण (16) संरक्षणा (17) भार (18) सम्पातोत्पादक (19) कलह भाजन (20) प्रविस्तार (21) अनर्थ (22) संस्तव (23) अगुप्ति (24) आयास—खेद (25) अवियोग (26) अमुक्ति (27) तृष्णा (28) अनर्थक (29) आसक्ति व (30) असन्तोष।

मैं इसे सत्य मानता हूँ कि जो अपरिग्रही (अकिंचन) हो जाता है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है। जब लोभ नष्ट हो जाता है तो उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तो उसका मोह नष्ट हो जाता

है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो उसका दु:ख नष्ट हो जाता है। भौतिक उपलब्धियों की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं और इनकी पूर्ति में ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों–त्यों लोभ बढ़ता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है। दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया। मैं इन शाश्वत–प्रभावी बातों पर विचार करता हूं तो वर्तमान युग से सम्बन्धित एक कठिन समस्या मेरे सामने आ खड़ी होती है। वह यह कि एक व्यक्ति तो उच्चतम सीमा तक अपरिग्रही तथा अपरिग्रहीवादी बन सकता हैं किन्तु क्या पूरे समाज को भी एक सींमा तक परिग्रही या अपरिग्रहवादी बना सकते हैं ?

मैं इसमें संदेह नहीं करता कि परिग्रह अधिकांशतः आभ्यन्तर वृत्तियों से जुड़ा हुआ रहता है और अल्पांशतः बाह्य परिग्रह के साधनों के साथ। एक व्यक्ति प्राप्त तो बाह्य परिग्रह के साधन ही करना चाहता है जिसके प्राप्त होने पर वह अपना ऐश्वर्य, वैभव व वर्चस्व को बढ़ा सके लेकिन उस बाह्य परिग्रह के साधनों को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त हो जाने पर उन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिये वह अपनी वृत्तियों को इतनी मोह–मूर्च्छा तथा आसक्तिमय बना लेता है कि जिनके कारण वह भयंकर से भयंकर दुष्कृत्य तथा अनर्थ कर बैठता है, करता रहता है। इनका उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, पूरे सामाजिक जीवन पर भी बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता है। यह मान लें कि व्यक्तिगत बुराइयों से तो व्यक्ति ही छुटकारा पाने का यत्न करे किन्तु उन बुराइयों का जो सामूहिक असर हो जाता है, उसे कैसे मिटाया जायेगा ? निश्चय है कि उसके लिये यत्न भी सामूहिक ही करना पड़ेगा। वैसे भी वर्तमान युग में सामाजिकता अति घनिष्ट भी हो गई है तो अति जटिल भी बन गई है। इस स्थिति में सामूहिक या सामाजिक प्रयत्न भी अति आवश्यक हो गये हैं कि जिनके माध्यम से ऐसा सुधरा हुआ सामाजिक वातावरण तैयार किया जाये जिसमें व्यक्ति को अपना सुधार करना आसान बन जाये। परिग्रह वृत्ति एवं परिग्रह संग्रह के सम्बन्ध में भी ऐसे सामाजिक प्रयास अच्छे परिणाम दिखा सकते हैं जो व्यक्ति की सत्ता या सम्पत्ति की लिप्साओं पर सामूहिक प्रतिबंध लगाते हों।

मेरी मूल भावना यह है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के प्रयासों से परिग्रह मूर्च्छा घटानी चाहिये तथा परिग्रह संग्रह पर भी रोक लगानी चाहिये। समाज की व्यवस्था समता पर आधारित होनी चाहिये। वहाँ की आर्थिक परिस्थितियों में भी विषमता मिट जानी चाहिये। लाभ और लोभ

के व्यक्तिगत प्रयत्न इस तरह प्रतिबंधित किये जायं कि सबको अपनी मूल आवश्यकता की सुलभ उपलब्धि के साथ लाभ–लोभ की दिशा में बढ़ने की लालसा या गुंजाइश ही न रहे। अपरिग्रहवादी साम्यता का यही लक्ष्य माना जा सकता है कि भौतिक सत्ता और सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एवं कर्त्तव्य परायणता का लक्ष्य बने जिससे कि समाज में पदार्थों का कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण न हो और वे सर्व–जन में विकेन्द्रित बनें। यदि कहीं किसी व्यवस्था–दोष से अन्यथा कुछ केन्द्रीकरण भी हो जाता है तो उसे संविभाग द्वारा मिटाया जाये। निर्वाह के साधनं सबको सुलभ हों तथा आसक्तिमूलक संग्रह व संचय को स्थान न रहे। आर्थिक साम्यवाद का ही आदर्श रूप होगी अपरिग्रहवादी साम्यता, जिसके परिणामस्वरूप बाह्य परिग्रह तो समवितरित तथा सन्तुलित होगा ही, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह की कलुषित एवं विकृत वृत्तियाँ समाप्तप्रायः होती चलेगी।

मैं ऐसे अपरिग्रही आदर्श समाज की कल्पना करता हूं जो अपने स्वस्थ वातावरण से सिद्धान्तनिष्ठ संयम वृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहिक बनायेगा। यह अपरिग्रहवाद के मर्मज्ञों पर निर्भर है कि वे वर्तमान अर्थलिप्सु समाज का कायाकल्प कैसे करें तथा कैसे इन विकृतियों को सत्वृत्तियों में ढाल दें ?

सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन

मैं चिन्तवन करता हूं कि मैं इसी जीवन में सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन जीऊँ तथा आत्मविकास की महायात्रा को सार्थक बनाऊँ। मूल में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पांचों सिद्धान्त संयमी जीवन के आधारभूत हैं। सबसे पहले मैं मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलता हूँ तो सम्यक्त्व का प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश से त्याग करने और व्रत लेने की निष्ठा उत्पन्न होती है। तब इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तों का अंशतः पालन शुरू करता हूं जो देशविरति होता है। वहाँ से इन्हीं सिद्धान्तों के सर्वांशतः पालन का मार्ग आरंभ होता है। यह संयमी जीवन दुधारी तलवार पर चलने जैसा कठिन जीवन होता है। इस जीवन में सिद्धान्त–निष्ठा जितनी प्रबल होती जाती है, आत्म–स्वरूप की अनुभूति भी प्रखर बनती जाती है।

मुझे यह ज्ञात है कि मेरी आत्मा का याने मेरा सर्वोच्च लक्ष्य इस जड़ संसार से सभी सम्बन्ध समाप्त कर देना है अर्थात् मेरा मार्ग संसार से निवृत्ति का मार्ग है—प्रवृत्ति का नहीं। जो निवृत्ति व्रत प्रत्याख्यान की धारणा के साथ शुरू होती है, त्याग–तप की कठिन आराधना के साथ ज्यों–ज्यों वह निवृत्ति गहरी होती चली जाती है, त्यों–त्यों सम्पूर्ण सांसारिकता के प्रति मेरी अरुचि

भी बढ़ती जाती है। मैं पदार्थ–मोह को त्यागता हूं किन्तु उसके बाद अपने शरीर के प्रति भी अपने ममत्व को घटा देता हूं। इस शरीर को मात्र धर्माराधना का साधन मान कर चलाता हूँ–इसके सुख के सारे ख्याल मिटा देता हूं। इतना ही नहीं, इच्छापूर्वक इसको सविवेक ऐसे कष्ट भी देता हूं कि इसकी कष्ट–सहिष्णुता सुदृढ़ बन जाये। मैं रत्न त्रय की साधना में निमग्न हो जाता हूँ क्योंकि प्रतिपल मुझे अपने सर्वोच्च लक्ष्य का ध्यान रहता है।

मैं सर्वांशतः सिद्धांनिष्ठ साधु जीवन या अणगार चारित्र धर्म में अपनी समस्त आत्म शक्तियों को नियोजित कर देता हूँ। मैं जानता हूं कि सर्व विरति रूप यह धर्म मुझे तीन करण तीन योग अर्थात् मन, वचन व काया से न करने, न करवाने तथा न अनुमोदना करने के त्याग की प्रेरणा देता है। मेरी सर्वांशतः सिद्धान्त–निष्ठा महाव्रतों का रूप लेती है जो सर्वविरति रूप होते हैं। उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार ही मेरे महाव्रत पांच होते हैं–

(1) प्राणातिपात विरमण महाव्रत– प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर (स्थूल), त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवों के पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास और आयु रूप दस प्राणों में से किसी का अतिपात (नाश) करना प्राणातिपात है। सम्यक् ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण तीन योग से निवृत्त होना प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है। यह महाव्रत सर्वप्राणातिपात से निवृत्ति रूप है। अर्थात् सर्व जीव को अभय दान देने रूप विधायक रूप भी है।

प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं इस रूप में हैं–(1) साधु ईर्या समिति में उपयोग रखने वाला हो, क्योंकि ईर्या समिति रहित साधु प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा करने वाला होता है। यतना पूर्वक गमनागमन करने को ईर्या समिति कहते हैं। (2) साधु सदा उपयोगपूर्वक देखकर चौड़े मुख वाले पात्र में आहार, पानी ग्रहण करे एवं प्रकाश वाले स्थान में देखकर भोजन करे। अनुपयोग पूर्वक बिना देखे आहारादि ग्रहण करने वाले एवं भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीवन और सत्त्व की हिंसा की संभावना रहती है। (3) अयतना से पात्रादि भंडोपकरण लेने और रखने का आगम में निषेध है। इस लिये साधु आगमानुसार देखकर और पूंज कर यतनापूर्वक भंडोपकरण लेवे और रखे, अन्यथा प्राणियों की हिंसा संभव है। (4) संयम में सावधान साधु मन को शुभ प्रवृत्तियों में लगावे। मन को दुष्ट रूप से प्रवर्ताने वाला साधु प्राणियों की हिंसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण होती है। (5) संयम में सावधान

साधु अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन में प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणियों की हिंसा संभव है।

(2) मृषावाद विरमण महाव्रत—प्रियकारी, पथ्यकारी एवं सत्य वचनों को छोड़कर कषाय, भय, हास्य आदि के वश असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म व बादर के भेद से असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा के भेद से असत्य वचन चार प्रकार का भी है। अप्रिय वचन क्या ? चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना या काने को काना कहना आदि अप्रिय वचन है। अहित वचन क्या ? शिकारियों के पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हें विधि रूप में उत्तर देना अहित वचन है। ये अप्रिय एवं अहित वचन व्यवहार में सत्य होने पर भी पर–पीड़ाकारी होने से एवं प्राणियों की हिंसा के पाप–हेतु होने से सावध है। अतः हिंसायुक्त होने से वास्तव में असत्य ही हैं। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन पर्यन्त तीन करण योग से निवृत्त होना मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत है।

मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं—(1) सत्यवादी साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये, क्योंकि हास्यवश मृषा–भाषण हो सकता है। (2) साधु को सम्यक् ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये, क्योंकि बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है। (3) क्रोध के कुफल को जानकर साधु को उसे त्यागना चाहिये। एक क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है, वह स्व–पर का भान भूल जाता है और जो मन में आता है, वही कह देता है। इस कारण उसके झूठ बोलने की बहुत संभावना रहती है। (4) साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये, क्योंकि लोभी व्यक्ति धनादि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि से झूठ बोल सकता है। (5) साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राणादि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित कर असत्य में प्रवृत्त कर सकता है।

(3) अदत्तादान विरमण महाव्रत—कहीं पर भी ग्राम, नगर, अरण्य आदि में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ एवं गुरु के भेद से चार प्रकार का होता है— स्वामी से बिना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु लेना स्वामी अदत्तादान है, (ब) कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना जीव अदत्तादान

है। जैसे माता–पिता या संरक्षक द्वारा पुत्रादि को शिष्य भिक्षा रूप में दिये जाने पर भी उन्हें उनकी इच्छा पूर्वक दीक्षा लेने का परिणाम न होने पर भी उनकी सहमति के बिना उन्हें दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि पदार्थ स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा नहीं होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस रूप में सचित वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ–साथ तृतीय महाव्रत भी भंग होता है। (स) वीतराग देवों व तीर्थंकर देवों द्वारा प्रतिषेध किये हुए आधा कर्मादि आहार ग्रहण करना तीर्थंकर अदत्तादान है। (द) स्वामी द्वारा निर्दोष आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है। किसी भी क्षेत्र एवं वस्तु विषयक उक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से निवृत्त होना अदत्तादान विरमण रूप तृतीय महाव्रत है।

अदत्तादान विरमण महाव्रत रूप तृतीय महाव्रत की भी पांच भावनाएं इस प्रकार हैं—(1) साधु को स्वयं (दूसरों के द्वारा नहीं) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकार प्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करनी चाहिये, अन्यथा साधु को अदत्त ग्रहण का दोष लगता है। (2) अवग्रह की आज्ञा लेकर भी वहाँ रहे हुए तृणादि का ग्रहण करने के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुनकर ही साधु को उन्हें लेना चाहिये अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एवं भोगने का दोषी बन जाता है। (3) साधु को उपाश्रय की सीमा खोलकर एवं आज्ञा प्राप्त कर उसका सेवन करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार–बार उपाश्रय का परिमाण खोल कर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लानादि अवस्था में लघुनीत, बड़ीनीत परिठवने, अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा होने पर भी, याचना करनी चाहिये ताकि दाता का दिल दुखित न हो, (4) गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके आहार करना चाहिये। आशय यह है कि सूत्रोक्त विधि से प्रासुक ऐषणीय प्राप्त आहार को उपाश्रय में लाकर गुरु के आगे आलोचना कर और आहार दिखलाकर फिर साधु मंडली में या अकेले उसे खाना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणों का ग्रहण एवं उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये। (5) उपाश्रय में रहे हुए समान आचार वाले संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहां रहना एवं भोजनादि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

(4) मैथुन विरमण महाव्रत—देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी दिव्य एव औदारिक काम—सेवन का तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त का त्याग करना मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं— (1) ब्रह्मचारी साधु को आहार के विषय में संयत होना चाहिये। अति स्निग्ध, सरस आहार न करना चाहिये और न परिमाण से अधिक ठूंस—ठूंस कर ही आहार करना चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिये भी पीड़ाकारी होता है। (2) ब्रह्मचारी को शरीर की विभूषा अर्थात् शोभा—सुश्रूषा नहीं करनी चाहिये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि शरीर की सजावट में दत्त—चित्त साधु सदा चंचल—चित्त रहता है और उसे विकारोत्पत्ति होती है, जिससे चौथे महाव्रत की विराधना भी हो सकती है (3) स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगों को काम वासना की दृष्टि से नहीं निरखना चाहिये। वासना भरी दृष्टि के साथ उन्हें देखने से ब्रह्मचर्य का खंडित होना संभव है। (4) स्त्रियों के साथ परिचय न रखे। स्त्री, पशु, नपुंसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन न करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य का महाव्रत भंग हो सकता है। (5) तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री—विषयक काम कथा न करे। स्त्री—कथा में आसक्त साधु का चित्त वित्तत हो जाता है। स्त्री—कथा को ब्रह्मचर्य के लिये घातक समझकर इससे ब्रह्मचारी को सदा दूर रहना चाहिये। पूर्व—क्रीड़ित अथवा गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम—भोग आदि का स्मरण भी नहीं करना चाहिये क्योंकि पूर्व रति एवं क्रीड़ा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है जो ब्रह्मचर्य के लिये घातक है।

(5) परिग्रह विरमण महाव्रत—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना परिग्रह विरमण रूप पंचम महाव्रत है। मूर्च्छा—ममत्व होना भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छा भाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह है और वे भी त्याज्य हैं। भाव परिग्रह मुख्य है और द्रव्य परिग्रह गौण। इसलिये यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एवं शरीर पर साधु के मूर्च्छा ममता भाव जनित राग—भाव न हो तो वह उन्हें धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

परिग्रह विरमण रूप पंचम महाव्रत की पांचों भावनाएँ पांचों इन्द्रियों से संबंधित हैं। पांचों इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के

इन्द्रिय गोचर होने पर मनोज्ञ विषयों पर साधु मूर्च्छा–गृहि भाव न लावे और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। यों तो विषयों के गोचर होने पर इन्द्रियां उसमें लगती ही हैं, परन्तु साधु को मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषयों पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये। पंचम महाव्रत में मूर्च्छा रूप भाव परिग्रह का त्याग किया जाता है, इसलिये मूर्च्छा–ममत्व करने से यह महाव्रत खंडित हो जाता है।

साधु प्राणातिपात से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृत्ति करता है, वह समिति कहलाती है। प्रशस्त एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली समिति के पांच भेद बताये गये हैं (1) ईर्या समिति–ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निमित्त युग परिणाम भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यतनापूर्वक गमनागमन करना, (2) भाषा समिति– यतनापूर्वक भाषण में प्रवृति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असंदिग्ध वचन कहना, (3) ऐषणा समिति–गवैषणा, ग्रहण और ग्रास, सम्बन्धी ऐषणा के दोषों से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवाधिका आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट पाटलादि औपग्रहिक उपधि का ग्रहण करना। (4) आदान, मंड मात्र निक्षेपणा समिति–आसन, संस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दंडादि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देखकर एवं रजोहरणादि से पूंजकर लेना एवं उपयोगपूर्वक देखी और पूंजी हुई भूमि पर रखना, तथा (5) उच्चार प्रस्रवण खेलसिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति– स्थंडिल के दोषों का वर्जन करते हुए परिठवने योग्य लघुनीत, बड़ीनीत, थूक, कफल, नासिका मल, और मैल आदि को निर्जीव स्थंडिल में उपयोगपूर्वक वोसिराना।

मोक्ष के लिये किये जाने वाले ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार कहलाते हैं, जो पांच हैं (1) ज्ञानाचार–सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारण भूत श्रुतज्ञान की आराधना करना, (2) दर्शनाचार–दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की निःशंकितादि रूप से शुद्ध आराधना करना, (3) चारित्राचार–ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक सर्व सावध योगों का त्याग करना चारित्र है और उसका सेवन करना चारित्राचार, (4) तपाचार–इच्छा निरोध रूप अनशनादि तप का सेवन करना एवं (5) वीर्याचार–अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्म कार्यो में यथा शक्ति मन, वचन, काया द्वारा प्रवृत्ति करना।

चारित्र दोष के कारण पांच प्रकार के साधुओं को अवन्दनीय माना गया है (1) पासत्थ जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यक् उपयोग वाला नहीं है, (2) अवसन्न–जो समाचारी के विषय में प्रमाद करता

है, (3) कुशील– जिसका कुत्सित याने निंद्य शील आचार हो, (4) संसक्त–जिसमें मूल व उत्तर गुणों के दोष पाये जाते हों और (5) यथाच्छन्द– जो सूत्र विपरीत प्ररूपणा करने तथा आचरण रखने वाला हो।

इस प्रकार सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन स्वीकार करने वाले साधु मुनियों के लिये उपरोक्त आधारभूत पांच सिद्धान्त पांच महाव्रतों के रूप में मूल गुण कहलाते हैं। इन मूल गुणों की सुरक्षा के लिये आचार सम्बन्धी जो कई प्रकार के नियम, वाड़ वगैरह बताये गये हैं, वे साधु के उत्तर गुण कहलाते हैं।

आजकल कई लोगों द्वारा जो यह दलील दी जाती है कि जमाने को देखते हुए साधुओं को अपने आचार नियमों में आवश्यक संशोधन करने चाहिये। उस दलील के जवाब में मोटी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि साधु के मूल गुण तो आधारभूत हैं जिनमें कोई परिवर्तन कतई नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आधार को ही हटा लोगे या मूल में ही भूल करते जाओगे तो साध्वाचार का स्वरूप ही विकृत हो जायेगा। उत्तर गुणों में संयम को आघात नहीं पहुंचाने वाला ऐसा कोई संशोधन हो तो उस पर साधु समाज विचार करके योग्य निर्णय ले सकता है।

साध्वाचार की भव्य गरिमा को भली भांति समझकर मैं जब सच्चे साधु या श्रमण की महिमा को हृदयंगम करता हूं तो मेरा मन आत्मानन्द से ओतप्रोत हो जाता है कि मैं भी उस महिमा को आत्मसात् करने में आदर्शसिद्ध होऊं। मैं समझता हूं कि एक भिक्षु के वास्तविक चिह्न–क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि मेरे आत्मस्वरूप को भी प्रकाशमान बनावें। मेरा इन्द्रिय निग्रह भी इस रूप में प्रशस्त बने कि शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श में मेरा चित्त कतई अनुरक्त न हो और न ही मैं उनसे द्वेष करूं। मैं अपनी कुमार्गगामिनी इन्द्रियों के दुष्ट घोड़ों को कुशल सारथी की तरह नियंत्रण में रखूंगा और संयम पथ पर आगे बढ़ाता रहूंगा।

मैं जानता हूं कि सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता, इसलिये मैं समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस बनूंगा। श्रमण स्वरूप में मेरा कोई स्वजन नहीं तो कोई परजन नहीं होता। सर्वत्र समतामय रूप मुझे दिखाई देता है। मैं हवा के समान निरालंब और आकाश के समान

निरूपलेप होऊंगा, मेरा श्रमणत्व इसी में सार्थक होता है कि सारी दुनिया के साथ अपनी देह पर से भी अपना ममत्व हटा लूं। मैं सदा ऋजुता तथा मृदुता से संयुक्त रहना चाहता हूं। जीव मात्र पर मेरी समदृष्टि रहती है और सुख दुःख, लाभ अलाभ, निन्दा स्तुति, मान–अपमान या जीवन–मरण में भी मेरी समता वृत्ति घटे नहीं यह मेरा सत्प्रयास रहता है। आधार मिल जाए तो मैं हर्ष नहीं मनाऊं और निराहार रह जाना पड़े तब भी विषाद नहीं, मैं तो सर्वदा आत्मस्थिति में ही लीन रहना चाहता हूं। लब्धियां भी मुझे मिल जाये तब भी किसी प्रकार का अभिमान मैं नहीं करूं, क्योंकिं क्षुद्र अहंभाव का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं होता। अहर्निश धर्मध्यान में मैं निमग्न रहना चाहता हूं और कठिन तप की आराधना करते हुए कर्मों से सम्पूर्ण मुक्ति की मैं कामना करता रहता हूं। इस कारण मेरी समग्र क्रियाएं संयमनिष्ठ रहती हैं। मेरे संयम को डिगाने वाली कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों नहीं आवे, मैं उनमें अविचलित रहना चाहता हूँ। जिस प्रकार धरती सारे कष्टों को सहते हुए भी महती सहनशील बनी रहती है, उसी प्रकार मैं भी परिषहों को सविवेक सहते हुए अपनी आत्म साधना को कष्ट–सहिष्णु बना लेता हूं। राग और द्वेष को लेश मात्र भी नहीं आने देकर मैं सांसारिकता के इन बीजों को समाप्त कर देना चाहता हूं। मेरी अभिलाषा है कि मैं समतामय बन जाऊं–मेरे भाव, मेरी दृष्टि तथा मेरा सम्पूर्ण आचरण समता से ओत–प्रोत बन जाये।

मैं वीतराग देवों की आज्ञा की आराधना करते हुए जिस श्रद्धा से मैंने संयम अंगीकार किया, उससे भी अधिक श्रद्धा से मैं संयम का सम्यक् पालन करता ही चला जाऊं–अपने सकल कर्मो का क्षय करता हुआ, रत्न त्रय की आराधना करता हुआ और जीवन को स्व–पर हित में नियोजित करता हुआ आत्म विकास की महायात्रा में अग्रगामी बन जाऊं।

सिद्धान्तों का आंशिक पालन

मैं भावना भाऊं कि जब तक उपरोक्त सिद्धान्तों का सर्वांशतः पालन करने में मैं समर्थ न बन जाऊं तब तक सिद्धान्तों का आंशिक पालन ही पूरी निष्ठा से करूं क्योंकि मैं जानता हूं कि देशविरति संयम ही सर्वविरती संयम में प्रतिफलित होता है–साधुत्व की आधारशिला श्रावकत्व की आराधना ही होती है। महासत्वसम्पन्न तीर्थंकरों के लिये साधुत्व को पाने के लिये श्रावक बनने की आवश्यकता नहीं रहती।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित मेरे श्रावकत्व के अणु (छोटे) व्रत होते हैं, महाव्रत की अपेक्षा छोटे

एकदेशीय त्याग रूप। मेरे अणुव्रत पांच, गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत चार कुल बारह व्रत होते हैं। पांच अणुव्रत निम्नानुसार हैं–

(1) अंहिंसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात का त्याग) : स्वशरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा दो करण तीन योग याने मन, वचन, काया से न करना और न करवाना। इस अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम कहलाता है, व्रतभंग रूप कार्य पूर्ति के लिये साधन जुटाना व्यतिक्रम है तो व्रतभंग की पूरी तैयारी कर लेना अतिचार होता है। यह अतिचार भी तब तक है जब तक कि व्रतभंग नहीं किया है। अतः अतिचार उसको कहते हैं जहाँ व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत का भंग किया जाय। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्पपूर्वक व्रत भंग करना अनाचार होता है। अनाचार की आज्ञा नहीं है और अतिचार का प्रायश्चित्त किया जाता है। अहिंसा अणुव्रत के अतिचार पांच इस प्रकार कहे गये हैं (अ) बंध–द्विपद, चतुष्पद आदि को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बांधना बंध है जो द्विपद–चतुष्पद के भेद से दो प्रकार का तो प्रत्येक अर्थ बंध व अनर्थ बंध के भेद से दो–दो प्रकार का होता है। अर्थ बंध भी दो प्रकार का है, सापेक्ष बंध तथा निरपेक्ष बंध। लापरवाही के साथ निर्दयतापूर्वक क्रोधवश गाढ़ा बंधन बांध देना निरपेक्ष अर्थ बंध होता है। सापेक्ष अर्थ बंध श्रावक के लिये अतिचार नहीं है किन्तु अनर्थ बंध तथा निरपेक्ष अर्थ बंध उसके लिये अतिचार होते हैं अतः त्याज्य होते हैं। (ब) वध–कोड़े आदि से मारना वध है। इसके भी अर्थ–अनर्थ, सापेक्ष–निरपेक्ष भेद होते हैं। अनर्थ एवं निरपेक्ष भेद अतिचार में शामिल हैं। शिक्षा के हेतु दास, दासी, पुत्र आदि को या नुकसान करते हुए चतुष्पद को आवश्यकता होने पर दयापूर्वक उनके मर्मस्थानों को चोट न लगाते हुए मारना सापेक्ष अर्थ बंध होता है जो श्रावक के लिये अतिचार नहीं है। (स) छविच्छेद–शस्त्रों से अंगोपांगों का छेदन करना छविच्छेद है। निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना अतिचार रूप है। किन्तु प्रयोजन होने पर दयापूर्वक सामने वाले की भलाई के लिये चीर फाड़ (डॉक्टरी) आदि सापेक्ष छविच्छेद है जो अतिचार नहीं होता। (द) अतिभार–द्विपद, चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना आतिभार है। श्रावक को मनुष्य अथवा पशु पर क्रोध अथवा लोभवश निर्दयता के साथ अधिक भार नहीं धरना चाहिये। और न ऐसी वृत्ति (रोजगार) करनी चाहिये। सामान्यतया उठा सके उतना ही भार लादना चाहिये। श्रावक को चतुष्पदी सवारी पर चढ़ने का भी

विवेक रखना चाहिये। (य) भक्तपान विच्छेद–निष्कारण निर्दयता के साथ किसी के आहार पानी का विच्छेद करना भक्त पान विच्छेद अतिचार है। श्रावक को इसका परिहार करना चाहिये। रोगादि निमित्त से, वैद्यादि के कहने पर या शिक्षा के हेतु खाना पीना न दिया जाये– वह अतिचार में शामिल नहीं है। बिना कारण किसी का रोजगार उजाड़ना या नियत समय पर वेतन आदि न देना इसी अतिचार में शामिल है।

(2) सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद का त्याग) : दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य–झूठ स्थूल मृषावाद होता है। अविश्वास आदि के कारण स्वरूप इस स्थूल मृषावाद का श्रावक दो करण तीन योग से त्याग करता है। स्थूल मृषावाद पांच प्रकार का होता है–(अ) कन्या–वर सम्बन्धी झूठ, (ब) गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ, (स) भूमि सम्बन्धी झूठ, (द) किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना तथा (य) झूठी गवाही देना।

सत्याणुव्रत के भी पांच अतिचार होते हैं–(अ) सहसाभ्याख्यान– बिना विचारे किसी पर मिथ्या आरोप लगाना। अनुपयोग अथवा असावधानी से बिना विचारे आरोप लगाना अतिचार है। जानते हुए इरादे के साथ तीव्र संक्लेश से मिथ्या आरोप लगाना अनाचार होता है तथा उससे व्रत भंग हो जाता है। (ब) रहस्याख्यान–एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप लगाना। एकान्त विशेषण होने से यह अतिचार पहले अतिचार से भिन्न है। इस अतिचार में संभावित अर्थ कहा जाता है। (स) स्व–दार मंत्र भेद– स्व–स्त्री के साथ एकान्त में हुई विश्वस्त मंत्रणा को दूसरे से कहना अथवा विश्वास करने वाली स्त्री, मित्र आदि की गुप्त मंत्रणा को प्रकाश में लाना। सत्य होते हुए भी यह बात लज्जा और संकोच पर प्रहार करती है अतः अतिचार है। इससे घात या आत्म–घात की आशंका रहती है। यह अनर्थ परम्परा भी है सो त्याज्य है। श्रावक इसका ध्यान रखे। (द) मृषोपदेश–बिना विचारे अनुपयोग से या किसी बहाने से दूसरों को असत्य उपदेश देना। पीड़ाकारी वचन कहना या दूसरों को असत्य वचन बोलने को प्रेरित करना भी इसी अतिचार में शामिल है। कोई अपना संदेह निवारण करने आवे, उसे उत्तर में अयथार्थ स्वरूप कहना या सम्बन्ध जोड़ने आदि का उपदेश देना मृषोपदेश ही है। (य) कूट लेखकरण–झूठा लेख या लिखत लिखना, जाली दस्तावेज मोहर या हस्ताक्षर बनाना और प्रमाद तथा अविवेक से ऐसा करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा हो पर विवेक का अभाव रहे तो अतिचार होता

है, वरना जानबूझ कर कूट लेख लिखना अनाचार है।

(3) अचौर्याणुव्रत (स्थूल अदत्तादान का त्याग)—क्षेत्रादि में सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना स्थूल अदत्तादान है। खात खनना, गांठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग में चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि स्थूल अदत्तादान में शामिल हैं। श्रावक ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता है।

स्थूल अदत्तादान विरमण रूप तीसरे अणुव्रत के पांच अतिचार हैं—(अ) स्तेनाहृत चोर की चुराई हुई वस्तु को खरीदना या यों ही छिपा कर ले लेना। (ब) स्तेन प्रयोग—चोरों को चोरी की प्रेरणा देना, चोरी के उपकरण देना या बेचना अथवा चोर की सहायता करके उसको चोरी के लिये उकसाना। (स) विरुद्ध राज्यातिक्रम—शत्रु राज्यों के राज्य में जाना आना। (द) कूट तुला कूट मान—झूठा याने हीनाधिक तोल या माप रखना। परिमाण से बड़े तोल व माप से वस्तु लेना और छोटे तोल—माप से वस्तु बेचना। (य) तत्प्रतिरूपक व्यवहार बहुमूल्य बढ़िया वस्तु में समान दीखने वाली घटिया वस्तु की मिलावट करना तथा नकली वस्तु को असली बताकर बेचना।

(4) स्व—दार सन्तोष—स्व—स्त्री अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री में सन्तोष करना। अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय शेष औदारिक शरीरधारी मनुष्य—तिर्यंच के शरीर को धारण करने वालों के साथ एक करण एक योग से (काया से सेवन नहीं करूंगा इस प्रकार) तथा वैक्रिय शरीरधारी तथा देव देवी के साथ दो करण तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग करना स्वदार सन्तोष नामक चौथा अणुव्रत है।

इस अणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं— (अ) इत्वरिका परिगृहीतागमन— भाड़ा देकर कुछ काल के लिये अपने अधीन की हुई स्त्री से गमन करना। (ब) अपरिगृहीता गमन—विवाहित पत्नी के सिवाय वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि से गमन करना। इन दोनों प्रकार से गमन करने का संकल्प एवं तत्सम्बन्धी उपाय, आलाप, संलाप, आदि अतिक्रम, व्यतिक्रम की अपेक्षा ये दोनों अतिचार हैं और ऐसा करने पर व्रत एक देश से खंडित होता है। सुई डोरे के न्याय से इनका सेवन करने में

सर्वथा व्रत भंग हो जाता है। (स) अनंगक्रीड़ा– काम सेवन के जो प्राकृतिक अंग हैं, उनके सिवाय अन्य अंगों से क्रीड़ा करना। वर्ज्य स्त्रियों (स्वस्त्री सिवाय) के साथ मैथुन क्रिया को छोड़ अनुराग से आलिंगन आदि करना भी अतिचार है। (द) पर विवाहकरण–अपना और अपनी सन्तान के सिवाय अन्य का विवाह करना अतिचार है। (य) काम भोग तीव्राभिलाष–पांच इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श में आसक्ति होना। श्रावक को पुरुषवेद जनित बाधा की शान्ति के उपरान्त स्व–स्त्री के साथ भी मैथुन सेवन नहीं करना चाहिये। कामशास्त्र अथवा बाजीकरण औषधियों से निरन्तर रति क्रीड़ा का सुख चाहने से भी यह व्रत मलिन होता है। खुद खाज पैदा कर उसे खुजलाने में सुख का अनुभव करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

(5) इच्छा (परिग्रह) परिमाण–खेत, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद एवं कुप्य (धातु व घरबिखरी) रूप नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना तथा मर्यादा के उपरान्त परिग्रह का एक करण तीन योग से त्याग करना इच्छा परिमाण व्रत है। तृष्णा व मूर्च्छा को कम करके सन्तोष में रत रहना ही इस व्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

परिग्रह–परिमाण व्रत के पांच अतिचार हैं–(अ) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम– खेती की जमीन दो प्रकार की सेतु (सिंचित) व केतु (वर्षा–सिंचित) होती है तथा वास्तु घर मकान को कहते हैं, इन सबकी जो मर्यादा ली है, उसका अतिक्रमण अतिचार है। (ब) हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम–घड़े, बिना घड़े सोने चांदी तथा जवाहरात की मर्यादा का अतिक्रमण करना। (स) धन–धान्यातिक्रमण– गणिम, धरिम, गेय, परिच्छेद्य रूप चार प्रकार के धन तथा चौबीस प्रकार के धान्य की स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना। (द) द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम– द्विपद सन्तान, स्त्री, दास–दासी, पक्षी तथा चतुष्पद गाय घोड़ा आदि के परिमाण का उल्लंघन करना। (य) कुप्य प्रमाणातिक्रम–सोने चांदी के सिवाय अन्य धातु तथा घर बिखरी की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना।

श्रावक के पांच अणुव्रत के बाद तीन गुण व्रतों का क्रम आता है जो इस प्रकार है–

(6) दिशा परिमाण व्रत– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अधो (नीची) व ऊर्ध्व (ऊंची) इन छः दिशाओं के क्षेत्रों की मर्यादा निर्धारित करना तथा मर्यादा के उपरान्त आगे के क्षेत्रों में जाने आने की क्रियाओं का त्याग करना। इस व्रत का यह व्यवहार अंश है तो चार गति को कर्म की परिणति समझ कर

उनमें उदासीन भाव रखना तथा सिद्धावस्था को उपादेय मानना निश्चय दिशा परिमाण व्रत है। पांच अतिचार—(अ) ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लंघन। (ब) अधोदिशापरिमाणातिक्रम—नीची दिशा की मर्यादा का उल्लंघन। (स) तिर्यग् दिशा परिमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन। इन उल्लंघनों में अनुपयोग या असावधानी रहे तो अतिचार और जान बूझकर उल्लंघन करे तो अनाचार होगा। (द) क्षेत्र वृद्धि—एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा देना। (य) स्मृत्यन्तर्धान—ग्रहण की हुई मर्यादा का स्मरण न रहना स्मृतिभ्रंश अतिचार है।

(7) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—उपभोग (एक बार भोगी जाने वाली वस्तुएं जैसे भोजनादि) तथा परिभोग (अनेक बार भोगी जाने वाली वस्तुएं जैसे वस्त्र, अलंकार आदि) की वस्तुओं की इच्छानुसार मर्यादा रखना और मर्यादा के उपरान्त सभी वस्तुओं के उपभोग—परिभोग का त्याग करना। निश्चय दृष्टि से आत्मा ही ज्ञानादि स्वगुणों का कर्त्ता और भोक्ता होता है अतः आत्मस्वरूपानुगामी परिणाम का निश्चय उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत कहते हैं। पांच अतिचार (अ) सचित्ताहार—परिमाण से अधिक सचित्त वस्तु का आहार करना, (ब) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त वृक्ष बीज आदि से सम्बद्ध पके फल आदि का आहार करना। मर्यादा उपरान्त सचित्त से सम्बन्ध (संघट्टा) रखने वाली अचित्त वस्तु को खाना भी अतिचार है। (स) अपक्व औषधि भक्षण—अग्नि में बिना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना। अनुपयोग से खाने में यह अतिचार है। (द) दुष्पक्व औषधि भक्षण—बुरी तरह से पकाई हुई अग्नि में अधपकी औषधि को पकी हुई जानकर भक्षण करना। (य) तुच्छौषधि भक्षण—असार औषधियों का भक्षण करना। अल्प तृप्ति के गुण वाली ऐसी चीजों को खाने से बड़ी विराधना होती हैं। इस व्रत में भोजन की अपेक्षा से ये पांच अतिचार हैं तथा वृत्ति की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार के अकरणीय व्यवसाय (कर्मादान) बताये गये हैं।

(8) अर्थदंड विरमण व्रत—निष्प्रयोजन, अपनी आत्मा को पाप, आरंभ आदि कार्यों में लगाना अनर्थदंड है। इसका त्याग करना व्यवहार अनर्थदंड विरमण व्रत है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग से जिन शुभाशुभ कर्मो का बंध होता है, उनमें अपनापन रखना निश्चय अनर्थदंड है। इन्हें आत्मा से भिन्न समझकर इनसे व इनके कारणों से आत्मा को बचाना निश्चय अनर्थदंड विरमण व्रत है। पांच अतिचार (अ) कन्दर्य—काम उत्पन्न करने वाले

वचन का प्रयोग करना, राग के आवेश में हास्य मिश्रित मोहोद्दीपक मजाक करना। (ब) कौत्कुच्य—भांडों की तरह अंगों को विकृत बनाकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा करना। (स) मोखर्य—ढिठाई के साथ असत्य—ऊटपटांग वचन बोलना। (द) संयुक्ताधिकरण—कार्य करने के योग्य ऐसे ऊखल—मूसल, शिला—लोढ़ा, धनुष—बाण आदि अधिकरणों को जो साथ साथ में काम आते हैं, एक साथ रखना। (य) उपभोग परिभोगतिरिक्त उबटन, तैल, वस्त्राभूषण आदि उपभोग—परिभोग की वस्तुओं को अपने व अपने आत्मीयजनों के उपयोग में अधिक रखना।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत—ये कुल मिलाकर बारह अणुव्रत श्रावक के होते हैं। चार शिक्षाव्रत निम्न हैं—

(9) सामायिक व्रत—मन, वचन, काया को पाप व आरंभ से हटाना और पापारंभ न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है। जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों का विचार करना और आत्म गुणों की अपेक्षा सर्व जीवों को समान समझ कर समता भाव धारण करना निश्चय सामायिक है। पांच अतिचार—(अ) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट प्रयोग करना याने मन को बुरे योग—व्यापार में लगाना। जैसे सामायिक करके घर सम्बन्धी अच्छे—बुरे कार्यों का विचार करना। (ब) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग करना जैसे असभ्य, कठोर एवं सावध वचन बोलना। (स) काय दुष्प्रणिधान—बिना देखी, बिना पूंजी जमीन पर हाथ, पैर आदि अवयव रखना। (द) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति नहीं रखना अर्थात् उपयोग नहीं रखना। प्रमादवश भूल जाना। (य) अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना जैसे अनियत अल्पकाल तक ही बैठना या अस्थिरता से अनादरपूर्वक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग तो बाद के दो अतिचार प्रमाद से अधिक सम्बन्धित हैं।

(10) देशावकाशिक व्रत—मन, वचन, काया के योगों को स्थिर करना और एक जगह बैठकर धर्मध्यान करना व मर्यादित दिशाओं से बाहर आश्रवों का सेवन नहीं करना। ज्ञान स्वरूप जीव द्रव्य का ध्यान करना एवं इसी में रमण करना। पांच अतिचार—(अ) आनयन प्रयोग—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने से दूसरे से संदेश आदि देकर सचितादि द्रव्य मंगाना। (ब) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर मर्यादा अतिक्रम के भय से स्वयं न जाकर नौकर—चाकर आदि को भेजकर द्रव्य मंगाना या कार्य करना। (स) शब्दानुपात—मर्यादा अतिक्रम के भय से बाहर के निकटवर्ती लोगों को छींक,

खांसी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना। इसमें व्रत भंग का भय भी रहता है। (द) रूपानुपात—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को अपने पास बुलाने के लिये अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना। (य) बहिर्पुद्‌गल प्रक्षेप— नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को जताने के लिये ढेला, कंकर आदि फैंकना।

(11) पौषध व्रत—चार प्रहर से लेकर आठ प्रहर तक सावद्य व्यापार का त्याग कर समता परिणाम को धारण करना और स्वाध्याय तथा ध्यान में प्रवृत्ति करना व्यवहार पौषध व्रत है। अपनी आत्मा को ज्ञान—ध्यान द्वारा पुष्ट करना निश्चय पौषध व्रत है। पांच अतिचार—(अ) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक शय्या, संस्तारक का आंखों से निरीक्षण न करना या अन्यमनस्क होकर असावधानी से निरीक्षण करना। (ब) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक—शय्या, संस्तारक को न पूंजन अथवा अनुपयोगपूर्वक असावधानी से पूंजना। (स) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल—मूत्र आदि परिठवने के स्थंडिल को न देखना या बिना उपयोग असावधानी से देखना। (द) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि स्थंडिल को न पूंजना या अनुपयोग पूर्वक असावधानी से पूंजना। (य) पौषधोपवास का सम्यक् अपालन—आगमोक्त विधि से स्थिर चित्त होकर पौषधोपवास का पालन न करना तथा पौषध में आहार, शरीर सुश्रूषा, अबह्म तथा सावद्य व्यापार की अभिलाषा करना।

(12) अतिथि संविभाग व्रत—हमेशा और विशेष कर पौषध के पारणे के दिन पंचमहाव्रतधारी साधु एवं स्वधर्मी बंधु को यथाशक्ति भोजनादि देना व्यवहार अतिथि संविभाग व्रत है। अपनी आत्मा एवं शिष्य को ज्ञान दान देना या स्वयं पढ़ना, शिष्य को पढ़ाना तथा सिद्धान्तों का श्रवण करना और कराना निश्चय असंविभागव्रत है। पांच अतिचार—(अ) सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक सचित्त धान्य आदि पर अचित्त अन्नादि का रखना। (ब) सचित्त अपिधान—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक अचित्त अन्नादि को सचित्त फलादि से ढंकना। (स) कालातिक्रम—उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना। काल के अतिक्रम हो जाने पर यह सोचकर दान के लिये उद्यत होना कि अब साधुजी आहार तो लेंगे नहीं पर वे जान लेंगे कि यह श्रावक दातार है। (द) पर—व्यपदेश—आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना (य) मत्सरिता—अमुक पुरुष ने दान दिया है तो क्या मैं कृपण या हीन हूं—ऐसे ईर्ष्या भाव से दान देने में प्रवृत्ति

करना। मांगने पर कुपित होना या होते हुए भी नहीं देना। कषाय कलुषित चित्त से साधु को दान देना।

एक सुश्रावक में इक्कीस गुणों की अपेक्षा रखी गई है—(1) अक्षुद्र—गंभीर स्वभावी, (2) रूपवान्—सांगोपांग (3) सौम्य प्रकृति—स्वभाव से विश्वसनीय, (4) लोकप्रिय—गुणसम्पन्नता से, (5) अक्रूर—क्लेश रहित, (6) भीरू—पाप भय, (7) अशठ—निष्कपट, (8) सदाक्षिण्य—परोपकार उत्सुक (9) लज्जालु—पाप संकोच (10) दयालु—पर दुःख द्रवित, (11) मध्यस्थ—तटस्थ विचारक (12) सौम्यदृष्टि— स्नेहालु, (13) गुणानुरागी—सद्गुण समर्थन, (14) सत्कथक सुपक्षयुक्त, कथोपदेशक व न्यायी, (15) सुदीर्घदर्शी—दूरदर्शिता, (16) विशेषज्ञ—हिताहित ज्ञाता, (17) वृद्धानुगत—अनुभवियों का अनुगामी, (18) विनीत—नम्र, (19) कृतज्ञ—उपकार मानने वाला, (20) परहितार्थकारी—सदा दूसरों का हित साधने वाला एवं (21) लब्धलक्ष्य—विद्याभ्यासी।

श्रावकत्व के बारह व्रतों तथा इक्कीस गुणों का आदर्श आराधक बनने के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। इस रूप में उसके चार विश्राम होंगे। (1) पांच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा अन्य त्याग—प्रत्याख्यान को अंगीकार करें। (2) दूसरा विश्राम होगा सामायिक, देशावशिक व्रतों का पालन करूं एवं अन्य ग्रहण किये हुए व्रतों में रखी हुई मर्यादाओं का प्रतिदिन संकोच करता रहूँ और उनका सम्यक् पालन करूं। (3) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करूं। (4) अन्त समय में संलेखना अंगीकार कर आहार पानी को त्याग निष्चेष्ट रहते हुए और मरण की इच्छा न करते हुए रहूं—यह चौथा विश्राम होगा।

श्रावकत्व की सफलता ही उसको ऊपर के साधुत्व के सोपान पर आरूढ़ करायेगी, जिस प्रकार सम्यक्त्व जागरण ने उसको श्रावकत्व के ऊपर के सोपान पर उठाया था। मेरी यही मनोकामना रहती है कि मेरे आत्मविकास की महायात्रा सतत रूप से चलती रहे तथा प्रगति के नये—नये आयाम खोजती और प्राप्त करती रहे।

ज्ञान विन क्रिया, क्रिया विन ज्ञान

मुझे यह सत्य सुविदित है कि ज्ञान एवं क्रिया के सार्थक संयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। दोनों में से एक का अभाव दूसरे को निरर्थक बना देगा। मुझे लंगडे और अंधे का रूपक याद है। ज्ञान को लंगड़ा समझिये तो क्रिया को अंधी। लंगड़ा चल नहीं सकेगा क्योंकि उसके पांव नहीं होते

और क्रिया भी अच्छी तरह चल नहीं सकेगी क्योंकि उसके आखें नहीं होती। लेकिन दोनों मिल जाये तो चले भी जाये। क्रिया के कंधों पर ज्ञान बैठ जाये और उसे रास्ता सुझाता रहे तो क्रिया भली–भांति चली रहेगी तथा गंतव्य तक पहुंचा देगी।

मैं सोचता हूं कि ज्ञान बिना क्रिया का हो तो वह क्या होगा ? कल्पना करें कि मैं रोगी हूं, अपने रोग की रामबाण औषधि जानता भी हूं परन्तु औषधि लेने की क्रिया नहीं करता तो मेरे रोग का क्या होगा ? क्या मेरे मात्र औषधि ज्ञान से मेरा रोग चला जायेगा ? क्रिया बिना मेरा वह ज्ञान निरर्थक रहेगा। अतः मैं आध्यात्मिक विषयों को जानूं–यह पहली आवश्यकता है ही किन्तु जो मैं जानता जाऊं, और उसे क्रियान्वित करता जाऊं तभी कार्य सम्पादन का क्रम बना रह सकता है। बिना क्रिया भी ज्ञान तो रहेगा, लेकिन वह निष्प्रयोजन तथा निरूपयोगी होगा। फिर मैं सोचता हूं कि उस क्रिया की क्या दशा होगी जो ज्ञानपूर्ण न हो ? कल्पना करें कि मैं रोगी हूं और औषधि लेने को आतुर व सक्रिय भी, लेकिन औषधि का ज्ञान नहीं है। यह अज्ञान मुझे विष भी खिला सकता है। इस कारण बिना ज्ञान की क्रिया तो भयावह परिणाम वाली हो सकती है।

मेरी मान्यता बन गई है कि चारित्र रहित पुरुष को बहुत से शास्त्रों का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है ? क्या लाखों दीपकों का जलाना भी कहीं अँधें को देखने में सहायक हो सकता है ? जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार ही का भागी है। चन्दन की शीतलता उसे नहीं मिलती है। इस प्रकार चारित्र्य रहित ज्ञानी का ज्ञान केवल भार रूप है। वह सुगति का अधिकारी नहीं होता। क्रियाशून्य ज्ञान निष्फल है। अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नहीं होती है। आग लग जाने पर पंगु पुरुष का देखना उसे आग से नहीं बचा सकता और न अंधे पुरुष का पराक्रम ही उसे निरापद स्थान पर पहुंचा सकता है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञान क्रिया वाले दोनों ही आग में जल जाते हैं।

मैं आप्त वचनों का पुण्य स्मरण करता हूं तो स्पष्ट हो जाता है कि पहले ज्ञान होना चाहिये और फिर तदनुसार दया अर्थात् क्रिया या आचरण। अज्ञानी आत्मा क्या करेगी ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगी ? जो श्रेय हितकर हो उसी का आचरण करना चाहिये। जो न जीव (चेतन) को जानता है, न अजीव (जड़) को, वह संयम को कैसे जान पायेगा ?

इस बिन्दु पर मैं चिन्तन करता हूं कि मैं संयम को कैसे जान, मान और धार पाऊंगा ? उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर मेरा ध्यान केन्द्रित होता है कि ज्ञान और क्रिया के डग साथ–साथ उठने चाहिये। साधारण सी विधि है कि जब एक पथिक अपने गंतव्य का मार्ग नहीं जानता तो ज्ञाताओं से मार्ग पूछता रहता है और आगे बढ़ता जाता है। बीच–बीच में सन्देह होने पर अपनी मार्ग सम्बन्धी धारणा की पुष्टि भी करवाता रहता है। यही विधि वीतराग देवों ने भी बताई है। पहले मिथ्यात्व के पतनकारक स्वरूप को समझो और उसके दलदल से बाहर निकलो। फिर सम्यक्त्व के प्रकाश को निहारो और अपने आत्म स्वरूप को परखो। उसे परखने पर आवरण दिखेंगे तब आवरणों का भी ज्ञान करो, मूल स्वरूप को भी जानो और संयम की शुभ क्रिया में सक्रिय बन जाओ। जानते रहो, करते रहो और बढ़ते रहो। सम्यक्त्व के प्रकाश में ही व्रत धारण करने की निष्ठा उत्पन्न होती है। छोटे–छोटे व्रत और त्याग प्रत्याख्यान लेते हुए एक एक करके या एक साथ श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये जा सकते हैं। उससे आगे का चरण सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन अंगीकार करने का हो सकता है। संयम की अडिग साधना ही ऊंचे से ऊंचे गुणस्थानों में पहुंचाकर आत्मा को परम समाधि का अक्षय सुख प्रदान कर सकती है।

मैं सोचता हूं कि ज्ञान बिन क्रिया और क्रिया बिन ज्ञान की अवस्था को किसी भी स्तर पर अपने जीवनाचरण में न आने दूं और ज्ञान व क्रिया के दोनों पहियों पर संयम का रथ मोक्ष के राजमार्ग पर चलाता रहूं और रत्नत्रय की आराधना में तल्लीन बन कर प्रतिपल उस रथ को आगे और आगे बढ़ाता रहूं।

निर्विकारी स्वरूप की ओर

मैं सोचता हूं कि वास्तव में 'निर्विकारी स्वरूप की ओर'–यह शब्द समूह एक प्रकार से भ्रामक है क्योंकि मेरा अपना निर्विकारी स्वरूप कहीं बाहर नहीं है जिसकी ओर मैं जाऊं, वह स्वरूप तो मेरे भीतर में ही विराजमान है जिसे मुझे निरावृत्त करना है। निरावृत्त इसलिये कि उस पर आवरण छाये हुए हैं और वे आवरण हैं मेरे ही अपने विकारों के। ये विकार हैं मेरे अपने मोह–महत्त्व के विकार जो राग और द्वेष के बीजों पर अंकुरित होकर विषय और कषाय के रूप में वट वृक्ष की तरह फैलते हैं। फिर मैं प्रमादग्रस्त हो जाता हूं। जितना प्रमाद बढ़ता है, मिथ्यात्व का अँधकार बढ़ता है, मेरा अपना स्वरूप मैल और अंधेरे की हजारों परतों से आवृत्त हो जाता है। मुझे इन्हीं विकारों

को पूरी तरह से हटा लेना है, साफ कर लेना है। विकार हटे और मेरा अपना परम ज्ञान एवं अमिट सुखमय स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। यही मेरा निर्विकारी स्वरूप होगा, ऐसा स्वरूप जो फिर विकारों में कभी भी किसी भी रूप में लिप्त नहीं बन सकेगा। मैं अपने उसी निर्विकारी रूप में अजरामर हो जाऊंगा—सदा सदा के लिये सिद्ध।

निर्विकारी स्वरूप में स्थित हो जाना यही मेरा परम और चरम लक्ष्य है। यही मेरे आत्म विकास की महायात्रा का गंतव्य है। इसी गंतव्य पर पहुंचने का मुझे पराक्रम दिखाना है जो सर्वश्रेष्ठ पराक्रम है। पराक्रम और ऐसा सर्वश्रेष्ठ पराक्रम सफलतापूर्वक दिखाना आसान नहीं है यह मैं जानता हूँ। इसके लिये मुझे परम पुरुषार्थ करना होगा—घटाटोप अंधकार से निकलकर सदा प्रकाशमान दिव्यालोक में अवस्थान बना लेने का पुरुषार्थ। यही पुरुषार्थ सम्यक्त्व, संयम और समता का पुरुषार्थ है। मेरा सम्यक्त्व अविचल बनेगा, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर अडिग आस्था से जो तर्कसंगत भी होगी तो परम श्रद्धास्वरूप भी। तर्क एक सीमा तक मुझे अग्रगामी बनायेगा, किन्तु जहां तर्क का क्षेत्र भी समाप्त हो जायेगा, वहां मेरी अमित आस्था का क्षेत्र आरंभ होगा कि मैं पूरे आत्म विश्वास के साथ संयम की कठिन साधना में प्रवृत्त हो जाऊं, अपने मन, वचन एवं कर्म के अशुभ योग व्यापार को समाप्त करता चलूं तथा सत्य श्रद्धा के साथ श्रेष्ठ सिद्धान्तों के पालन में एकनिष्ठ बन जाऊं।

मैं जानता हूं कि साधक की यह संयम साधना बहुआयामी होगी। सम्यक् श्रद्धा वाला बनेगा तभी सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण को वरण करने वाला भी बन सकेगा। तभी वह त्याग वृत्ति की ओर उन्मुख भी बन सकेगा। विविध प्रकार के त्याग—प्रत्याख्यानों के अनुसरण से इसी महत्कार्य में सचेष्ट बना रहता है कि धीरे—धीरे वह सांसारिकता ही त्याग करता रहे। पहले श्रेष्ठ पांच सिद्धान्तों के आंशिक पालन करने में प्रवृत्त हो। ताकि वह एक सद्गृहस्थ और एक सुश्रावक बन सके—ऐसा सद्गृहस्थ जो अपने घर—परिवार में रहता हुआ भी धर्माचरण में दत्त चित्त बन जाता है और जिसकी अर्थोपार्जन की नीति भी सम्पूर्णतया अहिंसा एवं नैतिकता पर आधारित हो जाती है। जो अपनी गृहस्थी का कार्य चलाने के लिये परिग्रह कमाता है और रखता है किन्तु स्वयं परिग्रहवादी नहीं होता। जो विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपने विकारों को समाप्त करता जाता है तथा अपने भीतर और बाहर चारों तरफ के वातावरण में समता का

शान्तिदायक आलोक फैलाता रहता है। जो अपने स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को रोकता है, प्रतिक्रमण द्वारा पापों से पीछे हटता है और श्रमणोपासना से स्वयं श्रमण बन जाने के मनोरथ पर निरन्तर चिन्तवन करता रहता है।

वह जब ऐसा सद्गृहस्थ बन जाएगा तो प्रगति के पथ पर उसके चरण रुकेंगे नहीं। तब सांसारिकता से विमुख बन कर वह इसी संसार में अपने तथा अन्य प्राणियों के कल्याण कार्य में सर्वतोभावेन संलग्न हो जाने के लिये साधु धर्म अंगीकार कर लेगा। वह साधु धर्म जो तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर होता है और इतना दुष्कर कि मेरु पर्वत को अपने तराजू से तोलो। वह अपने संयम के तराजू से मेरु पर्वत को भी तोल लेने का सामर्थ्य और पुरुषार्थ दिखायेगा। अपने हृदय में क्रोध के स्थान पर सहिष्णुता, मान के स्थान पर विनम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर सन्तोष को बसा लेने का प्रयास करेगा। यहां तक कि वह अपनी संयमोप-लब्धियों को अहंभाव नहीं छु पाए इस ओर सावधान रह सकेगा और न ही उनके द्वारा अपनी कीर्ति की लालसा को कोई स्थान दे सकेगा। अपने सदाचरणमय जीवन को लोकोपकार हेतु विसर्जित कर गन्तव्य की ओर गतिशील होगा।

तीसरा सूत्र और मेरा संकल्प

तीसरे सूत्र के संदर्भ में मैं संकल्पबद्ध होता हूं कि मैं अपने चरम लक्ष्य को सम्यक् रीति से पहिचानूंगा, मानूंगा और अपनी समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को लक्ष्याभिमुखी बनाऊंगा। लक्ष्य के उस उत्कृष्ट बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करके ही मैं जान सकूंगा कि वहां से मैं कितनी दूरी पर खड़ा हुआ हूं और मुझे कितना चलना है ? मैं अडिग निश्चय के साथ चलूंगा सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तों का सम्बल लेकर। मैं सम्यक्त्व से लेकर श्रावकत्व एवं साधुत्व के सोपानों पर ऊपर से ऊपर चढ़ता जाऊंगा। मेरी उस उर्ध्वगामिता का आधार होगा ज्ञान एवं क्रिया का अद्भुत संयुक्तीकरण तथा अपने समस्त विकारों (कर्मो) का क्षयीकरण। मैं अपने उस परिमार्जित आचरण के साथ निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

अध्याय पांच

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 4

मैं सुज्ञ हूँ, संवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों हैं ?

अनुभूति के क्षणों में मुझे ज्ञात होगा कि अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप में ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है ? यही मेरी तुच्छता व हीन भावना का कारण है, जिसे मैं धर्माराधना से दूर करूंगा। मन, वाणी व कार्यों में लोक कल्याण की महानता प्रकटाऊंगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

चौथा सूत्र

मैं सुज्ञ हूं, संवेदनशील हूं। मैं सब जानता हूं, इतना ही नहीं हैं। मैं सबका अच्छा जानता हूं—हित जानता हूं, शुभ जानता हूं—इसीलिये मैं सुज्ञ हूं। मैं सबका अच्छा, हित और शुभ जानता हूं तो क्या अपना स्वयं का अच्छा, हित और शुभ नहीं जानता ? ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या सब में मेरा सम्मिलन नहीं है ? सबमें मैं भी तो आ ही जाता हूं। अन्तर है तो यह कि मैं अपना ही अच्छा, हित और शुभ नहीं चाहता हूं—सबका चाहता हूं, अपना भी चाहता हूं। यही तो मेरी सुज्ञता है।

मैं सुज्ञ हूं, सबका हित जानता हूं और चाहता हूं। मेरा हृदय ऐसे सरोवर के समान है जो मानो स्फटिक शिलाओं के मध्य निर्मल जल से भरा हुआ हो जिसमें—मैल का अंश तक नहीं। विशुद्ध निर्मलता सबके लिये है, मेरे लिये है। मेरी आन्तरिकता में ऐसा अनुपम सरोवर लहरा रहा है। जल की सतह शान्त और प्रशान्त है। ऊपर से ही भीतर की स्फटिक शिलाएं चमक रही है। तल से लेकर सतह तक निर्मलता की एकरूपता है। यह सरोवर मेरे अन्तःकरण में मूल रूप से विभूषित अनन्त दया और अनन्त करुणा का सरोवर है। मेरी यह दया और करुणा समता से आप्लावित है। वह कोई विषमता का भेद नहीं जानती। संसार के समस्त प्राणियों पर यथायोग्य रूप से बरसना चाहती है। मेरी करुणा मुझ पर ही बरसे—यह आश्चर्य की बात हो सकती है किन्तु मैं सुज्ञ हूं अतः जानता हूं कि मैं स्वयं करुणा का कितना बड़ा पात्र हूं ? मेरी आज की विदशा क्या मुझ पर अपार करुणा नहीं उपजाती ? क्या मैं ही मेरी दुर्दशा पर तरस नहीं खाता हूं ? मेरी यह करुणा ही मुझे जगाती है कि उठो और अपने भीतर के सरोवर के चारों ओर फैली गंदगी को दूर करलो। तुम जैसे निर्मल के लिये यह मल का अस्तित्व कलंक की बात है। यह बद्ध कर्मों का मल है जिसे मेरी सुज्ञता स्वच्छ बना देने को आतुर है। वह सबको प्रेरणा देना चाहती है कि सभी प्राणी अपने हृदय में स्थित इस सरोवर के चारों तरफ के मल को स्वच्छ करलें, ताकि सरोवर की निर्मल शोभा सुप्रकट हो जाये।

मैं सुज्ञ हूं इसीलिये संवेदनशील हूं। मेरी करुणा के जल सतह पर लगने वाला सूक्ष्म आघात भी मुझमें तीव्र स्पन्दन उत्पन्न कर देता है–लहरों पर लहरें उठने लग जाती हैं। मैं करुणा से हिल उठता हूं। यह आघात दूसरे ही नहीं करते, मैं स्वयं भी करता हूं। मेरी एक अशुभ क्रिया भी मुझे संवेदित करती है कि मैं उसकी अशुभता को समझूं और अशुभता के स्थान पर शुभता का संचार करूं। जब दूसरे की अशुभ क्रिया भी अपने ही किसी साथी को पीड़ा पहुँचाती है, तब वह पीड़ा भी मुझे संवेदित और स्पन्दित बना देती है। मैं अपार करुणा से ओतप्रोत हो जाता हूं। करुणा अपनी पीड़ा पर तो करुणा दूसरों की पीड़ा पर–यह करुणा मेरा धर्म बन जाती है।

कभी आपने किसी झील के शान्त जल को देखा है ? उसमें गिरने वाला एक छोटा–सा कंकड़ भी उस शान्त जल को आन्दोलित बना देता है। कंकड़ के गिरने के स्थान से लहरें उठती ही चली जाती हैं। उस जल में अगर शिलाखंड गिर जाये तो समझिये कि सारे सरोवर में हलचल मच जाती है। संवेदनशीलता भी ऐसी ही होती है।

मैं संवेदनशील हूं, इस कारण पीड़ा के मर्म को भलीभांति समझता हूं। मेरी अपनी पीड़ा भी कम नहीं होती है। सोचिये कि एक आदमी उड़ना चाहे और उड़ने के लिये तत्पर हो जाय, तभी उसे ज्ञात हो कि उसके पैरों में तो बेड़ियां पड़ी हुई है–वह उड़ तो क्या, चल भी नहीं सकता है। तो विचार कीजिये कि उसकी उड़ने की उग्र उमंग को बेड़ियों की विवशता किस कदर कुचल देती है ? उसकी उस समय की पीड़ा का अनुभव कीजिये। वैसी ही मेरी अपनी पीड़ा है। मेरा जो मूल आत्म ... ऊर्ध्वगामिता उसका प्रधान गुण है। मैं ऊपर उठना चाहता हूं कि ... कर्मों की
पड़ी भारी बेड़ियां जब मुझे अपनी ... नहीं देत
अपने ही भीतर की भीषण पीड़ा से ... मेरी संवेद
पड़ती है–मे ... मच ... उठती
ही करुणा ... के लिए ... । मेरी
जगाती है वि ... पांवों
ऊपर उठ

मेरी
जाती है–
मेरी संवेदनशील
के विशाल

सुज्ञता और संवेदनशीलता

सच पूछें तो जब सुज्ञता होती है, तब ही संवेदनशीलता आती है और संवेदनशीलता की गूढ़ता के साथ सुज्ञता की प्रखरता बढ़ती जाती है। मेरे अन्तःकरण में सुज्ञता और संवदेनशीलता की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सुज्ञता मुझे सबका हित जानने की प्रेरणा देती है तो संवदेनशीलता उस हित को साधने के लिये मुझे तत्पर बनाती है। ज्ञान और क्रिया का सजीव सम्मिश्रण हो जाता है जो मुझे स्व–पर कल्याण हेतु जागृत और सक्रिय बना देता है।

मैं जानता हूं कि मैं सुज्ञता और संवेदनशीलता का स्फटिक सरोवर हूं किन्तु मैं यह भी जानता हूं कि अभी मैंने उस सरोवर को आवृत्त कर रखा है–प्रभावहीन बना रखा है। इस कारण मुझे देखना है कि मेरी सुज्ञता कैसे जागे–मेरी संवदेनशीलता कैसे स्पन्दित हो ?

यह सही है कि सुज्ञता और संवेदनशीलता का अपार कोष अन्तरात्मा में भरा पड़ा है, किन्तु वह अनेकानेक आवरणों से बंधा हुआ है। इस कारण सुज्ञता का मुक्त प्रसार नहीं दिखाई देता व संवेदनशीलता का मुक्त संचार भी दिखाई नहीं देता फिर भी कुछ कारण ऐसे रहते हैं जिनमें यदि मेरी चेतना की जागृति बनी रहे तो इन दोनों गुणों का सुप्रभाव बाहर प्रकट होता रहता है। मैं अकेला नहीं रहता हूं, समाज में रहता हूं, जहां अन्य लोगों के साथ तो मेरा संसर्ग होता ही है किन्तु छोटे बड़े प्राणी भी मेरे सम्पर्क में आते हैं। यह सामाजिक सम्पर्क ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप में हर समय मौजूद रहता है। यह संसर्ग मेरे व्यवहारगत भी होता है तो अव्यवहारगत भी। जैसे मैं सड़क पर चला जा रहा हूं, मैंने देखा कि सड़क के किनारे एक आदमी बेहोश पड़ा हुआ है। उसके मुंह से झाग निकल रहे हैं। उसका जीवन खतरे में दिखाई देता है। मेरी सुज्ञता मुझे खड़ा कर देती है और स्थिति का अनुमान लगाने को कहती है। मेरी संवेदनशीलता मेरे हृदय को द्रवित बना देती है और निर्देश देती है कि इस मृत्योन्मुख मनुष्य को तुरन्त शुभ भावों से उपयोगी सहायता दो। मेरी उस बेहोश पड़े आदमी से कोई जान–पहिचान नहीं, न मेरा उसके साथ कभी कैसा भी व्यवहार पड़ा है–सिर्फ मेरा संसर्ग हुआ उसकी पीड़ाभरी बेहोशी के साथ और इसी संसर्ग ने मेरी सुज्ञता को जगाया और मेरी संवेदनशीलता में कोमल स्पंदन पैदा कर दिये।

मैं कल्पना करता हूं कि यदि हृदय के साथ आंखें खुली हुई रहे तो ऐसे करुणाजनक दृश्य रात दिन दिखाई दे सकते हैं। एक सुज्ञ पुरुष ऐसा

मैं सुज्ञ हूं इसीलिये संवेदनशील हूं। मेरी करुणा के जल सतह पर लगने वाला सूक्ष्म आघात भी मुझमें तीव्र स्पन्दन उत्पन्न कर देता है—लहरों पर लहरें उठने लग जाती हैं। मैं करुणा से हिल उठता हूं। यह आघात दूसरे ही नहीं करते, मैं स्वयं भी करता हूं। मेरी एक अशुभ क्रिया भी मुझे संवेदित करती है कि मैं उसकी अशुभता को समझूं और अशुभता के स्थान पर शुभता का संचार करूं। जब दूसरे की अशुभ क्रिया भी अपने ही किसी साथी को पीड़ा पहुँचाती है, तब वह पीड़ा भी मुझे संवेदित और स्पन्दित बना देती है। मैं अपार करुणा से ओतप्रोत हो जाता हूं। करुणा अपनी पीड़ा पर तो करुणा दूसरों की पीड़ा पर—यह करुणा मेरा धर्म बन जाती है।

कभी आपने किसी झील के शान्त जल को देखा है ? उसमें गिरने वाला एक छोटा—सा कंकड़ भी उस शान्त जल को आन्दोलित बना देता है। कंकड़ के गिरने के स्थान से लहरें उठती ही चली जाती हैं। उस जल में अगर शिलाखंड गिर जाये तो समझिये कि सारे सरोवर में हलचल मच जाती है। संवेदनशीलता भी ऐसी ही होती है।

मैं संवेदनशील हूं, इस कारण पीड़ा के मर्म को भलीभांति समझता हूं। मेरी अपनी पीड़ा भी कम नहीं होती है। सोचिये कि एक आदमी उड़ना चाहे और उड़ने के लिये तत्पर हो जाय, तभी उसे ज्ञात हो कि उसके पैरों में तो बेड़ियां पड़ी हुई है—वह उड़ तो क्या, चल भी नहीं सकता है। तो विचार कीजिये कि उसकी उड़ने की उग्र उमंग को बेड़ियों की विवशता किस कदर कुचल देती है ? उसकी उस समय की पीड़ा का अनुभव कीजिये। वैसी ही मेरी अपनी पीड़ा है। मेरा जो मूल आत्मस्वरूप है, ऊर्ध्वगामिता उसका प्रधान गुण है। मैं ऊपर उठना चाहता हूं किन्तु अपने ही कृत कर्मों की मेरे पैरों में पड़ी भारी बेड़ियां जब मुझे अपनी जगह से हिलने तक नहीं देती है तो मैं अपने ही भीतर की भीषण पीड़ा से कराह उठता हूं। तब मेरी संवेदना पर चोट पड़ती है—मेरे सरोवर में हलचल मच जाती है, भावोर्मियां उठती है और मेरी ही करुणा मेरे ऊपर बरसने के लिए आतुर हो जाती है। मेरी करुणा मुझे जगाती है कि उठ और अपने पांवों की बेड़ियों को तोड़—बंधनों को तोड़, तू ऊपर उठ सकेगा।

मेरी सुज्ञता तब मेरी संवेदनशीलता में घुलमिल कर एकाकार बन जाती है—अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो जाती है। मुझे जगाने के बाद ही वास्तव में मेरी संवेदनशील सुज्ञता का कार्य और प्रभावक्षेत्र प्रारंभ होता है जो सम्पूर्ण विश्व के विशाल क्षेत्र में प्रसरित हो जाना चाहता है।

सुज्ञता और संवेदनशीलता

सच पूछें तो जब सुज्ञता होती है, तब ही संवेदनशीलता आती है और संवेदनशीलता की गूढ़ता के साथ सुज्ञता की प्रखरता बढ़ती जाती है। मेरे अन्तःकरण में सुज्ञता और संवदेनशीलता की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सुज्ञता मुझे सबका हित जानने की प्रेरणा देती है तो संवदेनशीलता उस हित को साधने के लिये मुझे तत्पर बनाती है। ज्ञान और क्रिया का सजीव सम्मिश्रण हो जाता है जो मुझे स्व–पर कल्याण हेतु जागृत और सक्रिय बना देता है।

मैं जानता हूं कि मैं सुज्ञता और संवेदनशीलता का स्फटिक सरोवर हूं किन्तु मैं यह भी जानता हूं कि अभी मैंने उस सरोवर को आवृत्त कर रखा है–प्रभावहीन बना रखा है। इस कारण मुझे देखना है कि मेरी सुज्ञता कैसे जागे–मेरी संवदेनशीलता कैसे स्पन्दित हो ?

यह सही है कि सुज्ञता और संवेदनशीलता का अपार कोष अन्तरात्मा में भरा पड़ा है, किन्तु वह अनेकानेक आवरणों से बंधा हुआ है। इस कारण सुज्ञता का मुक्त प्रसार नहीं दिखाई देता व संवेदनशीलता का मुक्त संचार भी दिखाई नहीं देता फिर भी कुछ कारण ऐसे रहते हैं जिनमें यदि मेरी चेतना की जागृति बनी रहे तो इन दोनों गुणों का सुप्रभाव बाहर प्रकट होता रहता है। मैं अकेला नहीं रहता हूं, समाज में रहता हूं, जहां अन्य लोगों के साथ तो मेरा संसर्ग होता ही है किन्तु छोटे बड़े प्राणी भी मेरे सम्पर्क में आते हैं। यह सामाजिक सम्पर्क ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप में हर समय मौजूद रहता है। यह संसर्ग मेरे व्यवहारगत भी होता है तो अव्यवहारगत भी। जैसे मैं सड़क पर चला जा रहा हूं, मैंने देखा कि सड़क के किनारे एक आदमी बेहोश पड़ा हुआ है। उसके मुंह से झाग निकल रहे हैं। उसका जीवन खतरे में दिखाई देता है। मेरी सुज्ञता मुझे खड़ा कर देती है और स्थिति का अनुमान लगाने को कहती है। मेरी संवेदनशीलता मेरे हृदय को द्रवित बना देती है और निर्देश देती है कि इस मृत्योन्मुख मनुष्य को तुरन्त शुभ भावों से उपयोगी सहायता दो। मेरी उस बेहोश पड़े आदमी से कोई जान–पहिचान नहीं, न मेरा उसके साथ कभी कैसा भी व्यवहार पड़ा है–सिर्फ मेरा संसर्ग हुआ उसकी पीड़ामरी बेहोशी के साथ और इसी संसर्ग ने मेरी सुज्ञता को जगाया और मेरी संवेदनशीलता में कोमल स्पंदन पैदा कर दिये।

मैं कल्पना करता हूं कि यदि हृदय के साथ आंखें खुली हुई रहे तो ऐसे करुणाजनक दृश्य रात दिन दिखाई दे सकते हैं। एक सुज्ञ पुरुष ऐसा

सुकोमल सहायक होता है जो स्वयं की पीड़ा को भी देखता है तो पर–पीड़ा का छोटा–सा दृश्य भी उसे द्रवित बना देता है क्योंकि उसकी संवेदनशीलता सदा प्रवहमान रहती है। मैं अनुभव करता हूं कि अपनी पीड़ा भी दो प्रकार की होती है। एक तो तब जब कोई अन्य कष्ट पहुंचाता है और दूसरी तब जब मैं किसी अन्य को कष्ट देता हूं। पहली प्रकार की पीड़ा के समय मेरी अज्ञता मुझे उत्तेजित और प्रतिशोध हेतु तत्पर बनाती है किन्तु मेरी सुज्ञतापूर्ण संवेदनशीलता मेरे क्रोध पर मरहम लगाती है और मैं सहनशीलता के साथ शान्त हो जाता हूं। फलस्वरूप मुझे कष्ट पहुंचाने वाला स्वयं पश्चाताप से ग्रस्त हो जाता है। दूसरी प्रकार की पीड़ा मेरे अपने कुकृत्य की पीड़ा होती है। मेरी सुज्ञता मुझे फटकारती है कि मैंने ऐसा कुकृत्य क्यों किया ? ग्लानि के उन क्षणों में मेरी संवेदनशीलता मेरी पीड़ा पर अपनी करुणा बरसाती है–मुझे प्रेरित करती है उस व्यक्ति से क्षमा चाहने के लिये, जिसको मैंने दुखित किया था और इस प्रकार मेरे और उसके हृदयों में से कटुता निकल जाती है। ऐसे चमत्कार करती ही रहती है मेरी सुज्ञता और मेरी संवेदनशीलता–जो ऐसी करुणा को बारबार बरसाती हुई अधिकाधिक परिपुष्ट होती जाती है।

यों कहें कि बाह्य जगत् का संसर्ग ही मेरी सुज्ञता एवं मेरी संवेदनशीलता की कसौटी का काम करता है। इस कसौटी से रगड़ खाकर इसका खरा–खोटापन सामने आता है और यह स्वरूप भी सामने आता है कि उनकी परिपुष्टता कितने टंच की बन गई है और मेरी आत्मा के साथ–मेरे जीवन के साथ बाह्य जगत् का संसर्ग प्रतिपल होता रहता है। प्रतिपल ऐसी परिस्थितियां सामने आती रहती हैं जो मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता का दामन खींचती हैं कि आगे बढ़ो, दुःख की पीड़ा को कम करो अपनी करुणा और सहायता से तथा आवश्यकता समझो तो अपना सब कुछ न्यौछावर कर दो इस सदुद्देश्य के लिये। मैं जानता हूं कि करुणा की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि उसकी कोमलता अपार होती है। कई वक्त मैं ऐसी करुणा से द्रवित हो उठता हूं और यथाशक्ति दुःख दूर करने का सत्प्रयास करता हूं किन्तु कई बार ऐसा होता है कि प्रमाद, प्रतिशोध या ऐसी ही किसी विकारग्रस्तता के कारण मैं सामने आई हुई उस पीडा को नजरन्दाज कर जाता हूं–अपनी सुज्ञता और संवेदनशीलता को सोई हुई ही रहने देता हूं। यह मेरे हृदय का कठोर व्यवहार होता है, बल्कि यों कहूं कि वह मेरे हृदय की तुच्छता होती है और हृदय जब तुच्छता को पकड़ता है तो मेरा विचार, मेरा वचन और मेरा कर्म भी तुच्छ बनता जाता है। यह तुच्छता पनपती है मेरी सुज्ञता और

संवेदनशीलता की सुप्तावस्था में। जब मेरी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में इस प्रकार की तुच्छता का विस्तार होता चला जाता है तो मेरी आन्तरिकता भी निष्करुण हो जाती है, क्योंकि मेरी सुज्ञता का प्रकाश मिट जाता है और मेरी संवेदनशीलता के तार झंकृत नहीं होते।

तुच्छता जड़ग्रस्तता से

किन्तु ऐसा क्यों होता है ? यही स्थिति और समस्या मेरे मन–मस्तिष्क को मथती रहती है। तब मैं अपनी अन्तर्दृष्टि को जगाता हूं यह देखने के लिये कि मेरे भीतर ऐसा क्या हो रहा है, जिसने मेरी करुणा मुझसे छीन ली है, मेरी वाणी की मधुरता हर ली है और मेरे कार्य को सहयोग–शून्य बना दिया है ?

मैं बाहर की दुनिया पर भी एक नजर दौड़ाता हूं कि क्या मेरे जैसा मैं ही हूं या दूसरे भी हैं जो मुझसे ज्यादा अच्छे हों व ऐसे भी लोग हो सकते हैं जिनसे मैं ज्यादा अच्छा होऊं। इस संदर्भ में मुझे चार प्रकार के मनुष्य दिखाई देते हैं जिनके हृदय को घड़े की और उनके वचन को ढक्कन की उपमा दी गई–(1) मधु का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार भी मधुर और वचन भी मधुर, (2) मधु का घड़ा और विष का ढक्कन–वचन भले कडुए हो मगर हृदय निष्पाप और मधुर, (3) विष का घड़ा और मधु का ढक्कन–वे खतरनाक होते हैं जो ऊपर से मीठा बोलते हैं लेकिन भीतर में जहर भरा रखते हैं तथा (4) विष का घड़ा और विष का ढक्कन–विचार और वचन दोनों में जहर भरा हो।

मैं सोचता हूं कि मैं किस श्रेणी में हूं ? ये श्रेणियां मानव–संसर्गजनित कसौटियां ही तो हैं जो अनुभव के आधार पर बनाई जाती हैं। यह श्रेणी निर्धारण मुझे बता सकता है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और इनके द्वारा संचालित होने वाले मेरे कार्य कितने उच्च हैं अथवा कितने तुच्छ ?

इसी प्रसंग में मैं अपने स्वरूप दर्शन को आप्त वचनों की गहराई में उतारना चाहता हूं जिनमें कहा गया है कि जिसका अन्तर्हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, उसकी सुज्ञता और संवेदनशीलता सदा जागृत रहती है। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं किन्तु कुछ गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ व्यक्ति गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं। फिर मैं सोचता हूं कि मैं किस प्रकार का व्यक्ति हूं, और मुझे किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये ?

मैं सोचता हूं, मैं देखता हूं और मेरी अपनी आलोचना का क्रम चल पड़ता है। मैं अनुभव करता हूं कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त हो रहे हैं, मेरी मूल महत्ता आवृत्त हो रही है, मेरा पुरुषार्थ श्लथ हो रहा है और मेरा स्वरूप विकृत बनता जा रहा है। क्यों हो रहा है ऐसा ? मैं यह जानने को अधीर हो जाता हूं। तब मेरा चिन्तन गहराई में उतरता जाता है कि मेरी ऐसी तुच्छता और हीन भावना का क्या कारण है ?

मैं अपने ज्ञान की स्मृतियों को उलटता पलटता हूं तो मुझे लगता है कि मैं कभी ऐसा भी था जब मेरे मानस में सर्वहित–कारिणी सुज्ञता रहती थी, जब मेरी वाणी संवेदनशीलता के तारों को झंकृत करती हुई निकलती थी तथा जब मेरे कार्य दयाद्रवित और मानवीय होते थे। जब कभी मैं ऐसा था तो आज की तुच्छताओं और हीनताओं से उबर कर क्या मैं पुनः वैसा ही नहीं हो सकता हूं। किन्तु वैसा होने के लिये मुझे उस कारण पर दृष्टिपात करना होगा जिसने मेरा ऐसा रूपान्तरण कर दिया, क्योंकि कारण को समझकर ही उसका निदान और समाधान कर सकूंगा।

मेरी वर्तमान विदशा की पृष्ठभूमि में जब मैं पहुंचता हूं तो समझ में आता है कि ज्यों–ज्यों मैं अपने 'आप' को भूलता गया और सांसारिकता में रमता गया, त्यों–त्यों विषय एवं कषायों के तूफान मेरे भीतर उमड़ने–घुमड़ने लगे। मेरा आन्तरिक स्वरूप आन्दोलित हो उठा और उस तूफान से उड़ी मिट्टी और उछले मैल से ढक गया। यह मैल और मिट्टी कर्मों की मलिनता थी। मुझसे भांति भांति के अकार्य होते गये और आठों कर्मो के बंधन कसते गये। पूरा आत्मस्वरूप कर्मपुद्गलों के विभिन्न आवरणों से आच्छादित हो गया। भीतर ही जब जड़ पुद्गलों का शासन स्थापित हो गया तो बाहर उन जड़ पुद्गलों के शासन का निरोध करने वाला बचा ही कौन था ? बाह्य जगत् के लुभावने पदार्थो की प्राप्ति ही मेरा समूचा लक्ष्य बन गया। मैं अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों का दास बन गया जो जड़ पदार्थो की मनोज्ञता में ही रमण करने लगे। सर्व प्रकार से मैं सत्ता और सम्पत्ति के मोह में ऐसा भान भूला कि भूल गया सब कुछ जिसे सुज्ञता और संवेदनशीलता कहते हैं।

वस्तुतः यह मेरी जड़ग्रस्तता का संकट है। जिस चेतना को सतत ज्ञान एवं जागृतिमय रहना चाहिये, वही चेतना स्वयं जड़ जैसी बन गई और जड़ग्रस्त हो गई। जड़ता भी ऐसी गहरी कि जिसके घनत्व को हटाने के लिये कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। यह जड़ता या जड़ग्रस्तता ही मेरी समस्त तुच्छता एवं हीन भावना की जड है। जब तक मैं उस जड को नहीं

उखाड़ पाऊंगा–जड़ता को मिटा नहीं पाऊंगा, तब तक मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कार्यों की तुच्छता को भी हटा नहीं पाऊंगा।

तुच्छता से स्वरूप विकृति

जब मैं अपने सुख की खोज भीतर नहीं करके बाहर ही बाहर करता हूँ तो मुझे इन्द्रियों के विषय–सुख ही दिखाई देते हैं और उन सुखों की सामग्री अपने लिये अर्जित करने में मैं अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता हूँ। तब मेरी दृष्टि उच्च वर्ग की तरफ लगी रहती है, जिनके पास ऐसी सुख सामग्री विपुलता में उपलब्ध रहती है। उसे मैं देखता हूँ और मेरी इच्छाएँ बढ़ती रहती हैं। एक इच्छा को पूरी करने के लिये श्रम करता हूँ तो दूसरी इच्छा अतृप्ति की प्यास लिये मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है–अकेली नहीं, उसके पीछे इच्छाओं की कतार लग जाती है। मैं तब भ्रम में पड़ जाता हूँ और सोचता हूँ कि किस प्रकार अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति जल्दी से जल्दी कर डालूं। तभी मुझे समझ में आता है कि ऐसा मैं नैतिकतापूर्वक किये गये अपने श्रम से कभी भी नहीं कर पाऊंगा और पदार्थों का मोह ऐसा प्रगाढ़ हो जाता है कि मैं सुखकारी और मनोज्ञ पदार्थों को पाने के लिये दूसरे अवांछित रास्तों पर बढ़ जाता हूँ। उन पदार्थों को येन–केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने का ही मेरा ध्येय बन जाता है। मैं तब अनीति का कोई कार्य त्याज्य नहीं मानता, बल्कि वैसे कार्य करके भी सत्ता और सम्पत्ति जमा करने का निश्चय कर लेता हूँ।

यहीं से मेरे अधःपतन का मार्ग आरंभ होता है। समाज विरोधी प्रवृत्तियों में मैं बेभान बन कर जुट जाता हूँ–तब न हिंसा का ध्यान रहता है न झूठ का, न विचारों की हीनता और न वचनों की विद्रूपता तथा कार्यों की कुत्सितता का। सब पर कालिख पोतता हुआ मैं काले धंधों में व्यस्त हो जाता हूँ। यह जड़ग्रस्तता की मेरी अंधकारपूर्ण मनोदशा होती है। ऐसी ही मनोदशा में कभी–कभी सत्संसर्ग के कारण कुछ प्रकाश की रेखाएं प्रकट होती हैं।

तब मैं सोचता हूँ कि मन, वाणी और कर्म की मेरी उच्चता कैसी थी और अब उन्हीं की तुच्छता कितनी जघन्य और निकृष्ट हो गई है ? मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता में हल्का–सा ज्वार आता है और मेरा चिन्तन चलता है–अहिंसा को परम धर्म मानते हुए मैं अपनी सुख सुविधा पर कम और अन्य प्राणियों की सुख–सुविधा पर अधिक ध्यान देता था, किन्तु अब मुझे यह क्या हो गया है कि मैं अत्यन्त तुच्छ और हीन हो गया हूँ ? दूसरों के दुःख नहीं देखता हूँ या दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना नहीं रखता

मैं सोचता हूं, मैं देखता हूं और मेरी अपनी आलोचना का क्रम चल पड़ता है। मैं अनुभव करता हूं कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त हो रहे हैं, मेरी मूल महत्ता आवृत्त हो रही है, मेरा पुरुषार्थ श्लथ हो रहा है और मेरा स्वरूप विकृत बनता जा रहा है। क्यों हो रहा है ऐसा ? मैं यह जानने को अधीर हो जाता हूं। तब मेरा चिन्तन गहराई में उतरता जाता है कि मेरी ऐसी तुच्छता और हीन भावना का क्या कारण है ?

मैं अपने ज्ञान की स्मृतियों को उलटता पलटता हूं तो मुझे लगता है कि मैं कभी ऐसा भी था जब मेरे मानस में सर्वहित–कारिणी सुज्ञता रहती थी, जब मेरी वाणी संवेदनशीलता के तारों को झंकृत करती हुई निकलती थी तथा जब मेरे कार्य दयाद्रवित और मानवीय होते थे। जब कभी मैं ऐसा था तो आज की तुच्छताओं और हीनताओं से उबर कर क्या मैं पुनः वैसा ही नहीं हो सकता हूं। किन्तु वैसा होने के लिये मुझे उस कारण पर दृष्टिपात करना होगा जिसने मेरा ऐसा रूपान्तरण कर दिया, क्योंकि कारण को समझकर ही उसका निदान और समाधान कर सकूंगा।

मेरी वर्तमान विदशा की पृष्ठभूमि में जब मैं पहुंचता हूं तो समझ में आता है कि ज्यों–ज्यों मैं अपने 'आप' को भूलता गया और सांसारिकता में रमता गया, त्यों–त्यों विषय एवं कषायों के तूफान मेरे भीतर उमड़ने–घुमड़ने लगे। मेरा आन्तरिक स्वरूप आन्दोलित हो उठा और उस तूफान से उड़ी मिट्टी और उछले मैल से ढक गया। यह मैल और मिट्टी कर्मों की मलिनता थी। मुझसे भांति भांति के अकार्य होते गये और आठों कर्मों के बंधन कसते गये। पूरा आत्मस्वरूप कर्मपुद्‌गलों के विभिन्न आवरणों से आच्छादित हो गया। भीतर ही जब जड़ पुद्‌गलों का शासन स्थापित हो गया तो बाहर उन जड़ पुद्‌गलों के शासन का निरोध करने वाला बचा ही कौन था ? बाह्य जगत् के लुभावने पदार्थों की प्राप्ति ही मेरा समूचा लक्ष्य बन गया। मैं अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों का दास बन गया जो जड़ पदार्थों की मनोज्ञता में ही रमण करने लगे। सर्व प्रकार से मैं सत्ता और सम्पत्ति के मोह में ऐसा भान भूला कि भूल गया सब कुछ जिसे सुज्ञता और संवेदनशीलता कहते हैं।

वस्तुतः यह मेरी जड़ग्रस्तता का संकट है। जिस चेतना को सतत ज्ञान एवं जागृतिमय रहना चाहिये, वही चेतना स्वयं जड़ जैसी बन गई और जड़ग्रस्त हो गई। जड़ता भी ऐसी गहरी कि जिसके घनत्व को हटाने के लिये कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। यह जड़ता या जड़ग्रस्तता ही मेरी समस्त तुच्छता एवं हीन भावना की जड़ है। जब तक मैं उस जड़ को नहीं

उखाड़ पाऊंगा—जड़ता को मिटा नहीं पाऊंगा, तब तक मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कार्यो की तुच्छता को भी हटा नहीं पाऊंगा।

तुच्छता से स्वरूप विकृति

जब मैं अपने सुख की खोज भीतर नहीं करके बाहर ही बाहर करता हूँ तो मुझे इन्द्रियों के विषय—सुख ही दिखाई देते हैं और उन सुखों की सामग्री अपने लिये अर्जित करने में मैं अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता हूँ। तब मेरी दृष्टि उच्च वर्ग की तरफ लगी रहती है, जिनके पास ऐसी सुख सामग्री विपुलता में उपलब्ध रहती है। उसे मैं देखता हूँ और मेरी इच्छाएँ बढ़ती रहती हैं। एक इच्छा को पूरी करने के लिये श्रम करता हूँ तो दूसरी इच्छा अतृप्ति की प्यास लिये मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है—अकेली नहीं, उसके पीछे इच्छाओं की कतार लग जाती है। मैं तब भ्रम में पड़ जाता हूँ और सोचता हूँ कि किस प्रकार अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति जल्दी से जल्दी कर डालूं। तभी मुझे समझ में आता है कि ऐसा मैं नैतिकतापूर्वक किये गये अपने श्रम से कभी भी नहीं कर पाऊंगा और पदार्थों का मोह ऐसा प्रगाढ़ हो जाता है कि मैं सुखकारी और मनोज्ञ पदार्थों को पाने के लिये दूसरे अवांछित रास्तों पर बढ़ जाता हूँ। उन पदार्थों को येन—केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने का ही मेरा ध्येय बन जाता है। मैं तब अनीति का कोई कार्य त्याज्य नहीं मानता, बल्कि वैसे कार्य करके भी सत्ता और सम्पत्ति जमा करने का निश्चय कर लेता हूँ।

यहीं से मेरे अधःपतन का मार्ग आरंभ होता है। समाज विरोधी प्रवृत्तियों में मैं बेभान बन कर जुट जाता हूँ—तब न हिंसा का ध्यान रहता है न झूठ का, न विचारों की हीनता और न वचनों की विद्रूपता तथा कार्यों की कुत्सितता का। सब पर कालिख पोतता हुआ मैं काले धंधों में व्यस्त हो जाता हूँ। यह जड़ग्रस्तता की मेरी अंधकारपूर्ण मनोदशा होती है। ऐसी ही मनोदशा में कभी—कभी सत्संसर्ग के कारण कुछ प्रकाश की रेखाएं प्रकट होती हैं।

तब मैं सोचता हूँ कि मन, वाणी और कर्म की मेरी उच्चता कैसी थी और अब उन्हीं की तुच्छता कितनी जघन्य और निकृष्ट हो गई है ? मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता में हल्का—सा ज्वार आता है और मेरा चिन्तन चलता है—अहिंसा को परम धर्म मानते हुए मैं अपनी सुख सुविधा पर कम और अन्य प्राणियों की सुख—सुविधा पर अधिक ध्यान देता था, किन्तु अब मुझे यह क्या हो गया है कि मैं अत्यन्त तुच्छ और हीन हो गया हूँ ? दूसरों के दुःख नहीं देखता हूँ या दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना नहीं रखता

हूँ—इतनी ही तुच्छता मेरे में नहीं पनपी है, अपितु अब तो मैं दूसरे का सुख देख भी नहीं सकता हूँ। मुझे सिर्फ अपना ही सुख दीखता है। दूसरे का सुख नहीं देखूं—वह भी एक बात, लेकिन मैं इतना निर्दयी हो गया हूँ कि दूसरे का सुख कुचल कर अपनी सुख सामग्री जुटाने में उतारू बन जाता हूँ। मेरी तुच्छता और हीनता कितने नीचे स्तर तक पहुँच गई है ?

चिन्तन के इस प्रवाह में मैं मेरे मन की हीन तुच्छता का आकलन करने लगता हूँ तो मुझे अनुभव होता है कि मेरा मन ऐसी—ऐसी नीच वृत्तियों में डूबा हुआ है—(1) गर्हित—सावद्य एवं निन्दित हिंसापूर्ण वृत्तियों से युक्त (2) सक्रिय—निन्दनीय वृत्तियों को कुत्सित प्रवृत्तियों में ढालने से युक्त, (3) सकर्कश—कठोर भावों से युक्त, (4) कटुक— अपनी आत्मा के लिये और दूसरे प्राणियों के लिये अनिष्टकारी वृत्तियों से युक्त, (5) निष्ठुर—कोमलताहीन भावों से युक्त, (6) परुष—स्नेह रहित मानसिक वृत्तियों से युक्त, (7) आश्रवकारी—अशुभ कर्मों के आगमन की तत्परता से युक्त, (8) छेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणों को छेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (9) भेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणों को भेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (10) परितापनाकारी—प्राणियों को सन्ताप आदि उपजाने की हीन वृत्तियों से युक्त, (11) उपद्रवकारी—अमुक प्राणी को ऐसी वेदना हो कि उसका प्राणान्त हो जाये ऐसी घृणित दुष्चिन्ताओं से युक्त तथा (12) भूतोपघातकारी—जीवों को विनष्ट कर देने के क्रूर भावों से युक्त। मेरी जड़ग्रस्तता से उत्पन्न ऐसी तुच्छ और हीन मेरी मनःस्थिति मेरे लिये चिन्तनीय बन गई है। मन की ऐसी अचिन्तनीय वृत्ति मुझे अब अखरने लगी है।

किन्तु मैं देखता हूँ कि मनोवृत्तियों की मेरी तुच्छता और हीनता के कारण मेरी वाणी की विद्रूपता भी असह्य होने लगी है। जिसके कारण, मुझे अवक्तव्य का भी भान नहीं रहा है। वचन से जो कहा जाना चाहिये वह वक्तव्य और जो नहीं कहा जाना चाहिये—वह अवक्तव्य होता है। छहों द्रव्यों में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय वक्तव्य है। वीतराग देव सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को देखते हैं, परन्तु उनका अनन्तवाँ भाग ही कह सकते हैं। उस कथित ज्ञान को भी संपूर्ण रूप से गणधर आगम रूप में गूंथ नहीं पाते हैं तथा उन आगमों का भी यत्किंचित् भाग ही वर्तमान में उपलब्ध है—वह भी इतना कल्याणकारी है कि मेरी वाणी की विद्रूपता उसे सुनकर कहने नहीं देती—उसका रसास्वादन करने नहीं देती। मेरे वचनों की विपरीत प्रवृत्ति बन गई है। वे (1) असत्य, (2) तिरस्कार युक्त, (3) दूसरों को झिड़कने वाले, (4) कठोर, (5)

अविचारपूर्ण तथा (6) शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन बन गये हैं। मैं ऐसी भाषा बोलता हूँ। जिसमें यह भान नहीं रखता कि उससे चारित्र शुद्ध हो रहा है अथवा अशुद्ध बल्कि भाषा द्वारा प्रकट होने वाली भावना का भी ध्यान नहीं रखता हूँ। इसीलिये मेरे वचनों में भी ये दोष उत्पन्न हो गये हैं—(1) कुवचन—कुत्सित वचन बोलना, (2) सहसाकार—सहसा अविचारपूर्ण तथा अप्रतीतिकर वचन बोलना, (3) सच्छन्द—धर्मविरुद्ध राग—द्वेष बढ़ाने वाले वचन बोलना, (4) संक्षेप—सामायिक आदि के पाठ को छोटा करके बोलना, (5) कलह—क्लेश फैलाने वाले वंचन बोलना, (6) विकथा—स्त्री कथा आदि चार विकथा करना, (7) हास्य—कौतूहल तथा कटाक्षपूर्ण वचन बोलना, (8) अशुद्ध—मलिनता फैलाने वाले वचन बोलना, (9) निरपेक्ष—असावधानी या अनुपयोग से बोलना, तथा (10) मुण—मुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। चाहे धार्मिक अनुष्ठान के समय में हों या अन्यथा, ऐसे वचन, मेरी वाणी तुच्छता के चिह रूप होते हैं। मेरे वचनों का ऐसा विद्रूप भी कई बार प्रकट होता है—(1) आलाप—थोड़ा पर टेढ़ा बोलना (2) अनालाप—दुष्ट भाषण करना (3) उल्लाप—व्यंगपूर्वक बोलना, (4) अनुल्लाप—व्यंग के साथ दुष्टतापूर्वक बोलना, (5) संलाप—गुप्त वार्तालाप करना, (6) प्रलाप—निरर्थक बकवास करना, (7) विप्रलाप—निष्प्रयोजन भाषण करना। मुझे लगता है कि मेरी वाणी की तुच्छता इन सभी रूपों में सीमा पार कर रही है।

मेरे मन और मेरी वाणी की तुच्छता भला मेरे कार्यों की तुच्छता को क्यों नहीं भड़कायगी ? मेरे कार्यों की तुच्छता भी दयनीय बनी हुई है। वह तुच्छता शरीर की असावधानी से अशुभ व्यापारपूर्ण इन कार्यों में प्रकट होती है—(1) असावधानी से जाना, (2) असावधानी से ठहरना, (3) असावधानी से बैठना, (4) असावधानी से लेटना, (5) असावधानी से उल्लंघन करना, (6) असावधानी से इधर—उधर बार—बार उल्लंघन करना तथा (7) असावधानी से सभी इन्द्रियों व योगों की प्रवृत्ति करना। इस प्रकार मेरी शरीर की विषय, कषाय एवं प्रमादपूर्ण क्रियाओं से निरन्तर कर्म बंध होता रहता है। दुष्ट व्यापार विशेष रूप तथा कर्म बंध के कारण रूप मेरी ऐसी क्रियाएं पांच प्रकार की होती है—(1) कायिकी—काया के दुष्ट व्यापार से होने वाली क्रिया, (2) आधिकरणिकी—जिस दुष्वृत्ति विशेष अथवा बाह्य खड्ग आदि शस्त्र से आत्मा का पतन होना है, उसे अधिकरण कहते हैं, अतः ऐसे अधिकरण से होने वाली क्रिया, (3) प्राद्वेषिकी—जीव के मत्सर भाव रूप अकुशल परिणाम रूप प्रद्वेष से होने वाली क्रिया, (4) परितापनिकी—ताड़नादि से दुःखित करने वाली

परिताप आदि की क्रिया, (5) प्राणातातिपातिकी क्रिया–इन्द्रियादि प्राणों को अतिपात पहुँचाने वाली क्रिया। अन्य प्रकार से इन्हीं क्रियाओं के पांच भेद इस रूप में भी होते हैं। (1) आरंभिकी छः काया रूप जीव की हिंसा से लगने वाली क्रिया, (2) पारिग्रहिकी–मूर्च्छा–ममत्त्व से लगने वाली क्रिया, (3) माया प्रत्यया–कपटपूर्वक दूसरों को ठगने से लगने वाली क्रिया, (4) अप्रत्याख्यानिकी–अव्रत याने थोड़ी–सी भी विरति के परिणाम न होने रूप क्रिया तथा (5) मिथ्यादर्शन प्रत्यया–मिथ्यात्व से लगने वाली क्रिया। अन्य अपेक्षा से क्रियाओं के पांच प्रकार इस रूप में भी होते हैं। (1) प्रेम प्रत्यया–माया और लोभ से उपजे राग भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (2) द्वेष प्रत्यया–क्रोध और मान से उपजे द्वेष भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (3) प्रायोगिकी क्रिया–आर्तध्यान व रौद्रध्यान जनित पापजनक काय–व्यापार से लगने वाली क्रिया, (4) सामुदानिकी क्रिया–समग्र आठ कर्मो को ग्रहण करने से अथवा अनेक जीवों को एक साथ एक–सी पाप क्रिया से लगने वाली, तथा (5) ईर्यापथिकी क्रिया–उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली–इन तीन गुणस्थानों में रहे हुए अप्रमत्त साधु के केवल योग कारण से साता वेदनीय कर्म रूप बंधने वाली क्रिया।

मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य किस प्रकार के तुच्छ भावों से ग्रस्त हैं–यह मैंने जाना है और यह भी जाना है कि वे ऐसे हीन तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों है ? इसका कारण है अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता जिसके अनेकानेक आवरणों ने मेरे आत्म–स्वरूप को आवृत्त बनाकर उसके स्वरूप को अपरूप बना दिया है। यह स्वरूप विकृति मेरे लिये कलंक रूप बन गई है। मेरी मूल महत्ता तो छिपी ही है, किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी सुशुप्त हो गया है। मैं यह जान गया हूँ कि मेरी यह स्वरूप विकृति मेरी ही तुच्छता और हीन भावना के कारण हुई है। पदार्थ मोह में पड़ा हुआ मैं कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ अपने आत्म–स्वरूप को जड़ता से ढक रहा हूँ तो बाहर भी इन्हीं पदार्थो को प्राप्त करने की भाग–दौड़ में अपने मन, वचन एवं काया के योग व्यापार को जड़ता से मलिन बना रहा हूँ। अब मैं इस जड़ग्रस्त तुच्छता से विलग तभी हो सकता हूँ जब मैं एक ओर अपने अशुभ योग व्यापार को शत्रुता से ढालूं तथा दूसरी ओर अष्ट कर्मो के कठिन बंधनों को धर्माराधना से तोड़ूं व अपनी स्वरूप–विकृति को स्वरूप–शुद्धि में परिवर्तित करूं।

अष्ट कर्मों के बन्धन

सांसारिकता के कारणभूत इन कर्मो की प्रक्रियाओं को मुझे गहराई से समझना होगा, क्योंकि मेरी स्वरूप–विकृति इन्हीं के बंधनों की वजह से है। इस समझ के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी समाधान मांगता है कि इस संसार के संचालन का सूत्रधार कौन है ?

मैं तथा अन्य प्राणी अपने–अपने अनुभव से यह तथ्य जानते हैं कि इस संसार की प्रकृति में जो कार्य हो रहे हैं, वे बहुत ही विधिवत हो रहे हैं। प्रकृति के इस सुव्यवस्थित क्रम को भंग करता है तो अधिकांशतः बुद्धिशाली मनुष्य ही। फिर भी ऐसी अनेक घटनाएं सबके ध्यान में आती हैं जिनके कारण खोजने से भी नहीं मिलते। अपनी कर्तृत्व शक्ति एवं गूढ़ वैचारिकता के कारण मनुष्य का महत्त्व कम नहीं है, फिर भी वह अनेक बार अपने को ऐसा असहाय महसूस करता है कि वह अपने ऊपर एक शक्ति को मान लेने के लिये विवश हो जाता है। इस शक्ति के आगे वह अपने को अशक्त अनुभव करने लग जाता है।

मैं सोचता हूं कि शायद ऐसी ही विवशता की छाया में मनुष्य ने संसार के एक रचयिता की कल्पना की हो। अतः यह मान्यता उपजी और फैली कि इस संसार की रचना करने, इसका पालन करने तथा विनाश करने वाला स्वयं परमात्मा है। इतना ही नहीं, इस संसार में होने वाली किसी भी तत्त्व की क्रिया या प्रक्रिया का प्रेरक भी परमात्मा ही है–यह मान्यता मनुष्य के मन में बैठी जिसके आधार पर ही वह कहने लगा कि परमात्मा ही सारे संसार की समस्त हलचलों का संचालक है तथा उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है। मैं देखना चाहता हूँ कि क्या यह मान्यता मनुष्य के वास्तविक शक्तिसम्पन्न ज्ञान से उत्पन्न हुई है अथवा मात्र अज्ञानजनक भय से ?

इस मान्यता की थोड़ी–सी मीमांसा जरूरी है। पहले इस बात का निर्णय करना होगा कि यह मनुष्य मात्र परमात्मा जैसी किसी शक्ति के हाथ का खिलौना है अथवा स्वयं एक शक्तिशाली आत्मा ? यदि उसे कठपुतली मान लेते हैं तो इस जीव तत्त्व को अजीव ही कहना पड़ेगा जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहे। किन्तु सभी अपने–अपने अनुभव से जानते हैं कि ऐसा कुछ नहीं है। सब आत्माएं स्वतन्त्र शक्ति की धारिणी हैं तथा अपने–अपने शक्ति–विस्फोट के अनुसार अपने–अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भी करती रहती है जिसे सब देखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य की आत्मा भी अपना

सर्वोच्च विकास साध ले तो वह स्वयं भी परमात्मा बन सकती है। आत्मा से परमात्मा—यह सबकी समझ में बैठी हुई उक्ति है। फिर एक बार जो आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है, वह अपने अनन्त सुख को त्याग कर भला संसार के पचड़ों में फिर क्यों पड़े ? कल्पना करलें कि परमात्मा फिर से संसार का संचालन सूत्र पकड़ने के लिये यहाँ आवे भी याने अवतार ले भी तो क्या वह अपने पद की उज्ज्वलता और शुद्धता को भी तिलांजलि दे देंगे जो इस संसार की घोर विषमताओ का संचालन करें ? और यदि वह अपने पद से पतित होकर ऐसा संचालन सभालते है ता वह भेदभावपूर्ण संचालन मान्य ही कैसे हो सकता है ? अतः ससार के सचालन का सूत्रधार परमात्मा या ईश्वर हो—यह न तो बोध गम्य है और न अनुभव गम्य। कारण, फलस्वरूप विशुद्ध स्वरूपी परमात्मा कभी भी पुनः संसार में आते नहीं और सांसारिकता से संपृक्त बनते नहीं।

तब प्रश्न पैदा होता है कि फिर संसार का इतना सुव्यवस्थित संचालन कैसे होता है ? उसका उत्तर यह है कि यह संचालन स्वचालित है। जैसे कि ऑटोमेटिक घड़ी होती है तो वह बिना चाबी भरे ही चलती रहती हैं। हाथ इधर—उधर हिलते रहते हैं और घड़ी के पुर्जे चलते रहते हैं। ऐसा ही इस संसार में होता है। हाथ चलने की तरह जीव एव अजीव तत्त्व का संयोग चलता रहता है और घड़ी से समय निकलने की तरह उस संयोग की हलचलों का फलाफल निकलता रहता है। इसे यों कहें कि मैंने एक क्रिया की तो उसके प्रभाव रूप उस तरह के कार्माण वर्गणा के पुद्गल मेरे आत्म स्वरूप से बंध जाते हैं। फिर स्थिति पकने पर ये पुद्गल अपना शुभ अथवा अशुभ फल देकर ही छूटते हैं या साधना के बल पर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। कर्मों के बंध, उदय और फल का जो यह क्रम चलता रहता है, वही शरीरधारी सभी प्राणियों की स्थिति—परिस्थिति तथा वृत्तियों—प्रवृत्तियों का कारणभूत बनता है। कर्मों का यह क्रम काफी हद तक सुव्यवस्थित होता हैं जिसे आत्म—जागृति से खंडित किया जा सकता है। असल में कर्मों का यही क्रम सारे संसार का संचालन करता है जो इस प्रकार से स्वचालित होता है। यही कर्मवाद अथवा स्वनिर्मित भाग्यवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

कर्मवाद के इस सिद्धान्त को कुछ गहराई से समझें। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों में हलचल होती है तब जिस क्षेत्र में आत्म—प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के साथ बंध को प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह मेल ठीक

वैसा ही होता है, जैसा दूध या पानी का या अग्नि और लौह पिंड का। इस प्रकार आत्म–प्रदेशो के साथ बध को प्राप्त कार्माण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। या यों कहे कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों में घटित होता है। आत्मा के राग द्वेषादि रूप वैभाविक परिणाम भावकर्म है और कर्म वर्गणा के पुद्गलो का समूह द्रव्य कर्म है। राग द्वेषादि के वैभाविक परिणामो मे जीव उपादान कारण होता है, इसलिये भाव–कर्म, कर्त्ता उपादान रूप से जीव हैं। द्रव्य कर्म मे जीव निमित्त कारण हैं। इसलिये निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्य कर्म निमित्त है और द्रव्य कर्म मे भाव कर्म निमित्त है। आपेक्षिक दृष्टि से इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म इन दोनों का परस्पर बीज और अकुर की तरह कार्यकारण भाव सम्बन्ध हैं।

संसार के सभी जीव आत्म स्वरूप की अपेक्षा से एक से है, फिर भी वे पृथक्–पृथक् योनियो मे भिन्न–भिन्न शरीर धारण किये हुए हैं और भिन्न–भिन्न परिस्थितियो मे विद्यमान हैं। एक ही माँ की कोंख से जन्म लेने पर भी तथा एक–सी परिस्थितियों में पले पोसे और शिक्षित हुए दो सगे–भाइयों में भी कई बातों का अन्तर दिखाई देता है। यह विचित्रता तथा विषमता बिना किसी कारण के हो–ऐसा नहीं होता। इस सुख–दुःख, सम्पन्नता–विपन्नता अथवा सबलता–दुर्बलता का कोई कारण होना चाहिये जैसे कि अंकुर का कारण बीज होता हैं। अतः इस विषमता का कारण कर्म ही हो सकता है।

मैं देखता हूँ कि कई लोग इस तथ्य में पूरा विश्वास नहीं करते हैं और दलील देते हैं कि सुख–दुःख के कारण तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जैसे माला, शय्या, स्त्री आदि सुख के कारण हैं तो कंटक, विष आदि दुःख के कारण, फिर दृश्यमान सुख–दुःख के कारणों को छोड़कर अदृष्ट कर्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? सुख–दुःख के इन बाह्य साधनों से भी परे सुख–दुःख के कारण की खोज इसलिये करनी पड़ती है कि सुख की समान सामग्री प्राप्त पुरुषों के सुखानुभव में भी अन्तर दिखाई देता है। इस अन्तर का कारण कर्म के सिवाय क्या हो सकता है ? एक व्यक्ति को सुख के कारण प्राप्त होते हैं तो दूसरे को नहीं। इसका भी नियामक कारण होना चाहिये और वह कर्म ही हो सकता है।

आत्मा के बाह्य शरीर औदारिक आदि रूप तो प्रत्येक जन्म में बदलते रहते हैं किन्तु कर्म बद्ध रूप उसका कार्माण शरीर जन्म जन्मान्तर में भी साथ

चलता है। यह शरीर विग्रह गति में भी ज़ीव के साथ रहता है और उसे उत्पत्ति क्षेत्र में ले जाता है। दानादि क्रियाएं भी फलवाली होती हैं क्योंकि वे सचेतन द्वारा की जाती हैं, अतः उनका फल भी कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यह कर्म पुद्‌गल रूप माना गया है अतः मूर्त्त लक्षण वाला होता है। जो कार्य मूर्त्त होता है उसका कारण भी मूर्त्त ही होता है जैसे घट का कारण मिट्टी। कर्म कारण है तो उसका कार्य शरीर आदि मूर्त्त रूप में ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब कर्म मूर्त्त रूप है तो वह अमूर्त्त रूप जीव के साथ अपना सम्बन्ध कैसे जोड़ता है ? संसारी जीव अनादिकाल से कर्म सन्तति के सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर–नीर की तरह एक रूप हो रहा है। यह एकरूपता उसके अमूर्त्तत्व गुण को आवृत्त करके रहती है इसलिए अमूर्त्त जीव सकर्म अवस्था में मूर्त्त कहा जाता है इसी बात को भगवती सूत्र में 'रूपी आया' के रूप में कहा गया है ? आत्मा को रूपी सकर्म की अपेक्षा से ही समझना चाहि। ऐसी मूर्त्त आत्मा ही मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध जोड़ती है।

अब यह विचार उठता है कि जड़ कर्म फल कैसे देते हैं ? सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि जीव–चेतन के संग से कर्मो में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वयं ही फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले–यह संभव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वतः हो जाता है। कारण–सामग्री की पूर्ति हो जाने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो–ऐसी बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसके तीखेपन का अनुभव स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे–यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य आत्मा की ही आवश्यकता पड़ती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय में भी है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ–इन पांच समवायों के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर कर्म स्वयं फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल–भोग ले लेता है। इसमें परमात्मा या किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं पडती है।

कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म का फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वतः प्रकट कर देता है। कर्मो

की शुभाशुभता का प्रश्न भी विचारणीय है। लोक में सर्वत्र कर्म वर्गणा के पुद्गल भरे हुए हैं। उनमें शुभाशुभ का भेद नहीं है। जीव अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार कर्मो को शुभाशुभ रूप में परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार जीव के परिणाम कर्मो की शुभाशुभता के कारण है। दूसरा कारण है आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत जीव का भी यह स्वभाव है कि वह कर्मो को शुभाशुभ रूप से परिणत करके ही ग्रहण करता है। प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग की विचित्रता व प्रदेशों के अल्पबहुत्त्व का भेद भी जीव कर्म–ग्रहण करने के समय ही करता है। इसे एक दृष्टान्त से समझें। सर्प और गाय को एक से दूध का आहार दिया जाये तब भी सर्प के शरीर में वह दूध विष रूप में परिणत हो जाता है तथा गाय के शरीर में दूध रूप में। इसका कारण है आहार और आहार करने वाले का स्वभाव। एक ही समय में पड़ी हुई वर्षा की बूंदों का आश्रय के भेद से भिन्न–भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई बूंदें सीप के मुंह में जाकर मोती बन जाती हैं और सर्प के मुंह में जाकर विष। यह तो भिन्न–भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता होती है किन्तु एक शरीर में भी एक से आहार की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार भी ग्रहण करते हुए सार–असार रूप में परिणत हो जाता है एवं आहार का सार भाग भी सात धातुओं में परिणत होता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप में परिणत होते हैं।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादिकालीन है। वह सदा यथायोग्य मन, वचन, काया के व्यापारों में प्रवृत्त रहता है–इससे उसके प्रत्येक समय कर्म बंध होता रहता है। इस रूप में पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे हैं। देह युक्त आत्मा से कर्म होता है और कर्म युक्त आत्मा देह धारण करती है। इस प्रकार देह और कर्म एक दूसरे के हेतु हैं। दोनों में हेतु हेतु मद्भाव का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अनादि है।

कर्म बंध के मुख्यतः पांच कारण माने गये हैं–(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय और (5) योग। संक्षेप में योग और कषाय कर्म बंध के कारण हैं। कर्म बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश–ये चार भेद किये हैं। इनमें प्रकृति और प्रदेश बंध योग–निमित्तक हैं और स्थिति और अनुभाग बंध कषाय–निमित्तक हैं। योग को भी गौण कर दें तो कषाय ही मुख्य कर्मबंध का कारण हो जाता है। कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि

विकार होते हैं जिनमें राग और द्वेष का भी समावेश हो जाता है। यों कोई भी मानसिक विकार हो, उसकी जड़ राग या द्वेष में ही होती है। ये राग द्वेषात्मक वृत्तियाँ ही मनुष्य को कर्म जाल में फंसाती तथा फंसाये रखती हैं। जैसे मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने ही बनाये हुए जाले में फंसती है, उसी प्रकार जीव भी स्वकीय राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से अपने को कर्म पुद्गलों के जाल में फंसा लेता है। राग-द्वेष की वृद्धि के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर मिथ्या ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार शरीर में तैल लगाकर कोई धूल में लेटे तो रेत कण उसके शरीर से चिपक जाते हैं। उसी प्रकार राग-द्वेषात्मक परिणामों से परिणत जीव भी आत्मा से घिरे हुए क्षेत्र में व्याप्त कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। राग-द्वेष की चिकनाई ही मुख्य रूप से कर्मबंध का कारण बनती है। इस चिकनाई के तीव्र होने पर उत्कट कर्मों का बंध होता है। राग-द्वेष की कमी के साथ अज्ञान घटता है और ज्ञान विकसित होता है। ऐसी दशा में कर्म-बंध तीव्र नहीं होता।

कर्मबंध हमेशा आत्म प्रदेशों के साथ बंधे हुए ही रहें-यह स्थिति नहीं है। क्षीर-नीर की तरह एकमेक बने कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं, परन्तु राग-द्वेष की नई-नई परिणतियों से नये-नये कर्मों का बंध भी होता जाता है। इस प्रकार संसार का क्रम चलता रहता है। किन्तु कर्मों से छुटकारा भी होता है। मुक्ति कर्मों से पूरे छुटकारे का ही दूसरा नाम है। जैसे सोना और मिट्टी जमीन के भीतर एकमेक बने हुए होते हैं किन्तु उन्हें बाहर निकाल कर तापादि प्रयोग द्वारा पूरी तरह से विलग कर दिया जाता है। सोना अपने पूर्ण शुद्ध रूप में पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार धर्माराधना से आत्मा कर्म-मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानादि मय शुद्ध स्वरूप को सुप्रकट कर लेती है।

ये कर्म आठ प्रकार के बताये गये हैं-(1) ज्ञानावरणीय कर्म-ज्ञान पर आवरण डाल देने वाले, (2) दर्शनावरणीय कर्म-दर्शन (आस्था) पर आवरण डाल देने वाले (3) वेदनीय कर्म-सुख या दुःख पूर्ण वेदना का अनुभव देने वाले, (4) मोहनीय कर्म-परिग्रह रूप जड़ग्रस्तता से जकड़ देने वाले, (5) आयु कर्म- आयुबंध कराने वाले, (6) नाम कर्म-गति आदि पर्यायों का अनुभव देने वाले, (7) गौत्र कर्म-उच्च व नीच शब्दों से सम्बोधित कराने वाले तथा (8) अन्तराय कर्म-विभिन्न प्रकार की प्राप्तियों में बाधा डालने वाले।

ये अष्ट कर्म आत्म-गुणों पर अष्ट आवरण के समान है अतः इन आवरणों को जब तक हटाने का प्रयास प्रारंभ न करें, तब तक उन सम्बन्धित

गुणों के प्रकट होने का अवसर नहीं आता है। जैसे ज्ञान का आवरण रूप कर्म जिस रूप में हटता जायेगा, उसी रूप में आत्मा का ज्ञान गुण प्रकाशित होता जायेगा। मेघाछन्न आकाश के समान मानिये कि बादलों का घनत्व जिस रूप में घटेगा, उसी रूप में सूर्य की आभा प्रकट होगी। सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी सम्पूर्ण आभा से प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणों को हटा देने के बाद संसार में बद्ध यह आत्मा मुक्त होकर बुद्ध तथा सिद्ध बन जाती हैं।

इन आठों कर्मो की प्रवृत्तियों, बंध कारणों तथा क्षय-उपायों पर विचार आवश्यक है। जिससे मेरी आत्मा कर्म सिद्धान्त की समूची प्रक्रिया को भली-भांति समझ सके तथा उन उपायों पर चल सकें जिनके द्वारा कर्मो का उपशय-क्षय करते हुए अनावृत्त स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान शक्ति के आवरण

मेरी विकास की महायात्रा में अपनी आत्मा का जो मार्गदर्शक गुण है, वह है ज्ञान गुण। सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में ही इस महायात्रा का समारंभ, संचालन तथा समापन संभव हो सकता है। मेरे भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश अल्प क्यों हैं? इसलिये कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मो को मैंने बांध रखा है जिन्हें ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। मैं ज्ञान शक्ति के इस आवरण को मन्द कैसे बनाऊं और धीरे-धीरे समाप्त कैसे करूं-इसके लिये मैं इस कर्म का पूरा स्वरूप जानना चाहता हूँ।

मेरा अध्ययन और अनुभव बताता है कि वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते हैं तथा ज्ञानावरणीय कर्म इस अवबोध-शक्ति को आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार आंखों पर पट्टी बांध देने से वस्तुओं को देखने में बाधा पड़ती है, उसी तरह इस कर्म के दुष्प्रभाव से आत्मा को सम्यक् एवं यथार्थ पदार्थ ज्ञान में बाधा पड़ती है। मेरा यह पक्का अनुभव है कि ज्ञानावरणीय कर्म का कैसा भी गहरा आच्छादन हो जाय तब भी आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य कभी भी नहीं होती है क्योंकि ज्ञान और उपयोग उसका मूल लक्षण है। ज्ञान का यह शाश्वत सद्भाव ही उसे पुनः पुनः जागृत बनाता रहता है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा जड़ ही बन जाय किन्तु चेतन कभी जड़ बनता नहीं है तथा जड़ कभी भी चेतन बनता नहीं है। अतः आत्मा ज्ञानांश से रहित कभी नहीं होती है।

ज्ञान के पांच भेद हैं, उस दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के भी पांच भेद कहे गये हैं-

(1) मति ज्ञानावरणीय—मतिज्ञान एवं उसके सभी प्रकारों को आच्छादित करने वाले कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता से वस्तु को जानने वाला ज्ञान मति ज्ञान अथवा आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है।

(2) श्रुत ज्ञानावरणीय—श्रुत ज्ञान एवं उसके सभी प्रकारों पर आवरण डालने वाले कर्म। वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। यह मतिज्ञान के अनन्तर मतिपूर्वक ही होता है तथा शब्द व अर्थ की पर्यालोचना में निहित रहता है। जैसे घर शब्द सुनते ही उसके आकार, रंग आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार करना श्रुत ज्ञान का विषय होता है। यही ज्ञान को कच्चे दूध की तरह और श्रुत ज्ञान को पक्के दूध की तरह भी कह सकते हैं।

(3) अवधि ज्ञानावरणीय—भव प्रत्यय एवं गुण प्रत्यय तथा अनुगामी, अननुगामी आदि भेद वाले अवधि ज्ञान के आवरक कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधि ज्ञान कहलाता है।

(4) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय—ऋृजुमति और विपुलमति भेद वाले मनःपर्यय ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यय ज्ञान है।

(5) केवल ज्ञानावरणीय—केवल ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्म। मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जान लेने वाला केवलज्ञान होता है। इन पांच ज्ञानावरणीय कर्मों में मात्र केवल ज्ञानावरणीय कर्म ही सर्वघाती होता है और शेष चार कर्म देशघाती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तो उत्कृष्ट तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की है।

ज्ञानावरणीय का बंध जिन कारणों से होता है, वे छः हैं— (1) ज्ञानी से विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना। (2) ज्ञान गुरु तथा ज्ञान का गोपन करना, (3) ज्ञानार्जन में अन्तराय-बाधा देना, (4) ज्ञानी से द्वेष करना, (5) ज्ञान एवं ज्ञानी की असातना-अवमानना करना तथा (6) ज्ञान एवं ज्ञानी के साथ निरर्थक विवाद करना व उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना। इन कारणों के सिवाय ज्ञानावरणीय कर्म का उदय भी विभिन्न रूपों में इस कर्मबंध का कारण भूत होता है। इस कर्म का अनुभाव दस प्रकार का बताया गया है— (1) श्रोत्रावरण—इस आवरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम का

आवरण समझना चाहिये जिसमें उपयोग का आवरण भी शामिल है। (2) श्रोत्रविज्ञानावरण—श्रवण सम्बन्धी शक्ति के साथ उसके विज्ञान पर भी आवरण आ जाता है। (3) नेत्रावरण—ज्ञान दृष्टि पर आवरण। (4) नेत्र विज्ञानावरण—दृष्टि विज्ञान पर आवरण। (5) घ्राणावरण—सूंघने की शक्ति पर आवरण। (6) घ्राण विज्ञानावरण— सूंघने के विज्ञान पर आवरण। (7) रसनावरण—स्वाद शक्ति पर आवरण। (8) रसना विज्ञानावरण—रस के विज्ञान पर आवरण। (9) स्पर्शावरण—स्पर्श शक्ति पर आवरण। तथा (10) स्पर्श विज्ञानावरण—स्पर्श के विज्ञान पर आवरण। प्रत्येक कर्म का अनुभव स्व और पर की अपेक्षा से होता है। गति, स्थिति और भव पाकर कर्मोदय से जो फल—भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव है। उदीरणा आदि शक्ति विशेष के माध्यम से पुद्गल और पुद्गल परिणाम की अपेक्षा जो फल—भोग होता है, उसे परतः अनुभाव समझना चाहिए। स्वतः अनुभाव में कोई कर्म, गति—विशेष को पाकर ही तीव्र फल देता है, जैस कुछ असाता वेदनीय कर्म नरक गति में तीव्रतम फल देता हैं। तीव्र अनुभाग के उदय के साथ स्थिति से भी तीव्र फल मिलता है जैसा कि मिथ्यात्व की स्थिति में। भव विशेष पाकर भी कभी—कभी कर्म का तीव्र फल होता है। इस प्रकार परतः अनुभाव में कर्म किसी पुद्गल का निमित्त पाकर फल देता है जैसे किसी के लकड़ी या पत्थर फैंकने पर चोट पहुंचती है। इसी प्रकार मदिरा पान से ज्ञानावरणीय का भी उदय होता है। अतः इस अनुभाव को दस से संक्षिप्त करके केवल दो भेदों में भी देखी जा सकता है—स्वतः निरपेक्ष तथा परतः सापेक्ष। पहली स्थिति में बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही स्वाभाविक ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान पाता है और एक बार भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है। यहां तक कि वह आच्छादित ज्ञान शक्ति वाला हो जाता है, जबकि दूसरी स्थिति में पुद्गल, पुद्गल परिणाम की अपेक्षा ज्ञान शक्ति का आच्छादन होता है तथा जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुंचाने के लिये पत्थर, ढेला या शस्त्र फैंकता है तो उनकी चोट से उसके ज्ञान में लगने वाले उपयोग में बाधा उत्पन्न होती है। क्योंकि उसका उपयोग ज्ञान में न लग कर चोट में लग जाता है। यह पुद्गल की अपेक्षा हुई। फिर पुद्गल परिणाम की अपेक्षा यह होगी कि एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन ठीक तरह से न होने के कारण वह अजीर्णवश दुःखानुभव करता है, और उस दुःख की अधिकता से वस्तु विशेष को जानने की ज्ञान शक्ति पर बुरा असर पड़ता है। स्वाभाविक पुद्गल परिणाम की अपेक्षा से

शीत, ऊष्ण आदि के कारण जीव की इन्द्रियों में क्षति पहुंचाने से इन्द्रियजन्य ज्ञान में बाधा पहुंचती है।

मैं ज्ञानावरणीय कर्म के इस स्वरूप विश्लेषण से यह शिक्षा लेना चाहता हूं कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों के जो कारण हैं, उनसे दूर रहूं और बचूं। दूसरे, जब मेरे पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्म का उदय काल आवे तथा उस फल भोग के कारण मेरे ज्ञानार्जन में बाधाएं खड़ी हो, तब मैं उन बाधाओं को शान्तिपूर्वक सहूं और अपने प्रयासों की निरन्तरता को बनाये रखूं। साथ ही ज्ञान के प्रसाद एवं ज्ञानियों की सेवा में मैं अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाऊं ताकि मेरे ज्ञान के आवरण कर्मों का क्षयोपशम और क्षय भी होता चले। इस कर्म के बंधनों को तोड़ने में मुझे सफलता इसी आधार पर मिल सकती है कि मैं हर समय समभाव पूर्वक सावधान, सतर्क और जागृत रहूं जिससे मेरी वृत्तियां और प्रवृतियां ज्ञान के क्षेत्र में बाधक न रह कर सहायक बन कर प्रवृत्ति करे।

आवृत दर्शन-शक्ति

वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है। यह ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से अभिव्यक्त होता है। और इस सामान्य ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म दशानिवरणीय कर्म कहलाता है।

दर्शन चार प्रकार का बताया गया है—(1) चक्षु दर्शन, (2) अचक्षु दर्शन, (3) अवधि दर्शन तथा (4) केवल दर्शन। इन प्रकारों के साथ पांच प्रकार की जागरणहीन अवस्थाओं को मिलाने से दर्शनावरणीय कर्म के नव प्रकार कहे गये हैं :—

(1) चक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आंखों) द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उस ग्रहण शक्ति पर आवरण डालने वाले कर्म।

(2) अचक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आंखों) के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का आभास होता है, उसे ढक देने वाले कर्म।

(3) अवधि दर्शनावरणीय—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उस बोध को आवृत्त बना देने वाला कर्म।

(4) केवल दर्शनावरणीय–आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उस ज्ञान को आच्छादित बनाने व बनाये रखने वाले कर्म।

(5) निद्रा–जिस निद्रा में सोने वाला सुखपूर्वक धीमी–धीमी आवाज से जग जाता है, वह निद्रा है।

(6) निद्रा–निद्रा–जिस निद्रा में सोने वाला जीव बड़ी मुश्किल से जोर–जोर से चिलाने या हाथ से हिलाने पर जगता है, वह निद्रा–निद्रा है।

(7) प्रचला–खड़े–खड़े या बैठे–बैठे व्यक्ति को जो नींद आती है, वह प्रचला है।

(8) प्रचला–प्रचला–चलते–चलते व्यक्ति को जो नींद आती है, वह प्रचला–प्रचला है।

(9) स्त्यानगृद्धि–जिस निद्रा में जीव दिन या रात में सोचा हुआ काम निद्रितावस्था में कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। वज्र ऋषभनाराच संहनन वाले जीव को ऐसी निद्रा आती है तब उसमें वासुदेव का आधा बल आ जाता है।

आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाले दर्शनावरणीय के ये नौ प्रकार वस्तु के सामान्य ज्ञान के दर्शन को बाधित करते हैं। दर्शनावरणीय कर्म को द्वारपाल के समान माना गया है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधा डालता है, उसी प्रकार यह कर्म पदार्थों के स्वरूप को देख पाने में बाधा डालता है। यह आत्मा की दर्शन–शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है। चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि की घात करते हैं और पांच निद्राएँ प्राप्त दर्शन शक्ति की घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

दर्शनावरणीय कर्म के बंध होने के भी छः कारण बताये गये हैं– (1) दर्शनवान् के साथ विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना, (2) दर्शन का गोपन करना, (3) दर्शन में अन्तराय–बाधा देना, (4) दर्शन से द्वेष करना, (5) दर्शन अथवा दर्शनवान् की असातना या अवमानना करना, तथा (6) दर्शन या दर्शनवान् के साथ निरर्थक विवाद करना अथवा उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना। इनके सिवाय दर्शनावरण कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बांधता है। दर्शनावरणीय कर्म का

अनुभाव उसके नव भेदों की दृष्टि से नव प्रकार रूप है। यह अनुभाव स्वतः और परतः रूप से दो प्रकार का भी कहा गया है। स्वतः अनुभाव इस प्रकार है कि दर्शनावरणीय पुद्गलों के उदय से दर्शन शक्ति का उपघात होता है और जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी देख नहीं सकता तथा एक बार देखकर वापिस भूल जाता है। उसकी दर्शन शक्ति दब जाती है। परतः अनुभाव के रूप में कोमल शय्या आदि के रूप में एक या अनेक पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। पुद्गल परिणाम रूप भैंस के दूध का दही आदि भी निद्रा का कारण होता है तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप बरसात की झड़ी आदि निद्रा में सहायक होती है।

इस प्रकार मेरी आवृत्त दर्शनं शक्ति ही मेरी दुर्बलता की प्रतीक बनी हुई है। किसी भी वस्तु स्वरूप को जानकर उसे देखने का जो प्रतिभास होता है, वह कम महत्त्व का नहीं होता। जैसे घड़ा एक बार देखा और जाना, फिर उसके बाद बिना घड़े की मौजूदगी के उसके आकार रंग आदि का जो प्रतिभास होता रहता है, वह वस्तु स्वरूप का सामान्य दर्शन है। इस आवृत्त दर्शन शक्ति के प्रकटीकरण के लिये दर्शनावरणीय कर्म बंध को धर्माराधन से क्षयोपशम और क्षय करते हुए चलना चाहिये। ज्ञान और दर्शन के बंधन जब मन्द हो जाते हैं तो ज्ञान और दर्शन की क्षमता अधिक बढ़ाई जा सकती है।

वेदना की शुभाशुभता

मुझे अनुकूल विषयों से जो सुख रूप तथा प्रतिकूल से जो दुःख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव होता है, वह वेदनीय कर्म के प्रभाव से होता है। यों तो सभी प्रकार के कर्मों का वेदन होता है, परन्तु साता–असाता याने सुख–दुःख का अनुभव कराने वाले कर्मविशेष में ही वेदनीय रूढ़ है, इसलिये इस अनुभव से अन्य कर्मो का बोध नहीं लिया जाता है।

वेदना की शुभाशुभता की दृष्टि से इस वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं—

(1) साता वेदनीय— जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयों की प्राप्ति हो तथा शारीरिक एवं मानसिक सुख का अनुभव हो, वह साता वेदनीय कर्म होता है।

(2) असाता वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से तथा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।

इस वेदनीय कर्म को मधु–लिपटी तलवार की उपमा दी जाती है कि जैसे तलवार पर लगे शहद का स्वाद साता वेदनीय के समान और तलवार की धार से जीभ कटने का दुःख असाता वेदनीय के समान है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वीतराग गुणस्थान को छोड़कर बारह अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

जीव को साता वेदनीय कर्म का बंध इन कारणों से होता है कि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा–दया की जाय; उन्हें दुःख न पहुंचाया जाय, उन्हें शोक न कराया जाये जिससे कि वे दीनता दिखाने लगें, उनका शरीर कृश हो जाये और उनकी आंखों से आंसू व मुंह से लार गिरने लगे, उन्हें लकड़ी आदि से ताड़ना नहीं दी जाये तथा उनके शरीर को परिताप या क्लेश न पहुंचाया जाये। साता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव साता वेदनीय कर्म बांधता है। इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रखे, उन्हें दुःख, परिताप, क्लेश आदि पहुंचाये तथा उपरोक्त कार्यों से विपरीत कार्य करे तो उससे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। असाता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असाता वेदनीय कर्म बांधता है।

साता वेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का होता है–(1) मनोज्ञ शब्द, (2) मनोज्ञ रूप, (3) मनोज्ञ गंध, (4) मनोज्ञ रस, (5) मनोज्ञ स्पर्श, (6) मन की स्वस्थता एवं सुख की महसूसगिरी, (7) कानों को मधुर लगने वाली तथा मन में हर्ष उत्पन्न करने वाली वाणी रूप सुखी वचन तथा (8) स्वस्थ, निरोग व सुखी काया। यह अनुभाव परतः भी होता है और स्वतः भी। पुद्‌गलों के भोगोपभोग, देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्‌गलों के परिणाम तथा शीतोष्ण रूप स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम रूप जीव जिस रूप में सुख का अनुभव करता है, वह जीव परतः सापेक्ष अनुभाव होता है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी साता वेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का अनुभाव करता है, वह निरपेक्ष स्वतः अनुभाव होता है। तीर्थंकर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी जीव का सुख ऐसा ही होता है।

इसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है– (1) अमनोज्ञ शब्द, (2) अमनोज्ञ रूप (3) अमनोज्ञ गंध, (4) अमनोज्ञ रस, (5) अमनोज्ञ स्पर्श (6) अमनोज्ञ (अस्वस्थ) मन, (7) अमनोज्ञ वाणी तथा (8) दुःखी काया। यह अनुभाव भी परतः एवं स्वतः दोनों प्रकार का होता है। परतः अनुभाव पुद्‌गल, पुद्‌गल परिणाम, तथा स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम रूप तीन

प्रकारों से जीव को दुःख भोग कराता है। स्वतः अनुभाव की दृष्टि से असाता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य निमित्तों के न होते हुए भी जीव को असाता या दुःख का भोग होता है।

महाबली कर्मराज मोहनीय

मैं जानता हूं कि अष्ट कर्मों में मोहनीय कर्म को कर्मराज माना गया है क्योंकि मेरे आत्मस्वरूप के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मों में सांसारिकता के प्रति मोहग्रस्तता के कर्म महाबली होते हैं। यदि मैं अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में मोह–ममत्त्व का शमन और दमन कर दूं तो फिर ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जिसका सरलता से क्षय नहीं किया जा सके। मैं अष्टकर्मों को पाप का वट वृक्ष मानूं तो मोहनीय कर्म उसकी जड़ कहलायेगा। वृक्ष कितना ही विशाल क्यों न हो—उसका फैलाव भी कितना ही व्यापक क्यों न हो, यदि उसकी जड़ों को उखाड़ फैकूं तो वह सारा वृक्ष धराशायी हो जायेगा और उसके बेशुमार पत्ते, फल–फूल देखते–देखते सूख कर नष्ट हो जायेंगे। जड़ों को उखाड़ फेंकने का ही श्रम कठिन और कष्ट साध्य होगा। इसके बाद वृक्ष का पूर्णतया विनाश करने के लिये कोई उल्लेखनीय श्रम नहीं करना पड़ेगा। यही स्थिति मोहनीय कर्म की होती है। मोह–ममत्त्व ही सम्पूर्ण कर्म बंधन की जड़ के समान होता है। मोह उखड़ जाय तो अन्य कर्म बंधन स्वतः ही टूट जायेंगे।

मैं इस दृष्टि से मोहनीय कर्म को आठों कर्म का राजा और महाबली मानता हूं। राजा को परास्त कर दिया जाय तो मान लिया जायगा कि उसके अन्य सभी योद्धा तथा सारी सेना परास्त कर दी गई है।

संसारी जीव के नाते इस संसार के बाह्य पदार्थों एवं सम्बन्धों के साथ मानव की घनिष्ठ मूर्च्छा भावना होती है। वह समझता है कि मेरी हस्तगत सम्पत्ति और सत्ता मेरी है, घर–मकान मेरा है, परिवार, पत्नी, पुत्र–पुत्रियां आदि मेरी हैं और सबसे बढ़कर यह शरीर मेरा है। सबके प्रति गहरा ममत्व ही मेरा मोह है। मैं जानता और देखता हूं कि वह मानव 'मेरे' समझे जाने वाले इन भौतिक पदार्थों एवं सम्बन्धों के लिये किस प्रकार अपना सारा समय, अपनी सारी शक्तियां और अपने सारे प्रयत्न नियोजित करता है ? रात–दिन इन्हीं की प्राप्ति के लिये अथवा प्राप्त उपलब्धियों को बनाये रखने व बढ़ाते रहने के लिये गंभीर रूप से चिन्तित रहता है। इस गाढ़ी मोहग्रस्तता के कारण वह किसी भी आत्मार्थी अथवा लोकोपकार के कार्य में अपना मन एकाग्र नहीं बना पाता है। उसे हर वक्त बाह्य संसार का मोह सताता रहता है और वह

संसार के बाह्य वातावरण में ही अपना सुख खोजता रहता है। मोहजनित मूर्च्छा और प्रमाद अभेद्य आवरणों के रूप लेकर उसके आत्म स्वरूप पर छाये रहते हैं। ऐसी स्थिति को देखकर मैं अपने सम्यक् ज्ञान और अपनी ऊर्ध्वगामी दृष्टि को भी कई बार इन आवरणों को भेद कर अपनी आन्तरिकता की जांच–परख करने में अपने आपको नियोजित कर पाता हूं। मोहनीय कर्म को बांधते और भोगते समय मेरी आत्मदशा असहाय जैसी हो जाती है जो मेरे लोभी मन और कामना ग्रस्त इन्द्रियों के नियंत्रण पाश से बंध कर छटपटाती रहती है, लेकिन उस पाश को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं कर पाती है।

मैं मानता हूं कि मोहनीय कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को मोहित कर देता है--उसे भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है। जैसे एक शराबी शराब पीकर अपना हिताहित सर्वथा भूल–सा जाता है और परवश बन जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के दुष्प्रभाव से मेरा जीव भी सत् और असत् का विवेक खोकर पर–पदार्थों तथा सम्बन्धों में उलझ कर परवश हो जाता है। मोहनीय कर्म के मुख्य रूप से दो भेद माने गये हैं–यथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (1) दर्शन मोहनीय--दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक् अवबोध में रुकावट डालता है जिससे आत्मा की दर्शन–शक्ति कुंठित बन जाती है। दर्शन के तीन भेद किये गये हैं--(अ) मिथ्यादर्शन–मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। (ब) सम्यक् दर्शन–यह दर्शन तब होता है जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है और आत्मा में सम्यक् दर्शन के भाव उमड़ते हैं। सम्यक् दर्शन का उदय हो जाने पर मति, श्रुति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। (स) मिश्रदर्शन--मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से यथार्थ तत्त्वों का प्रकाश भी फैलता है तो कुछ अयथार्थ तत्त्वों का भी आत्मा के श्रद्धान में अस्तित्व रहता है तब मिश्र दर्शन होता है। इस सम्बन्ध में एक शंका उठ सकती है कि सम्यक्त्व मोहनीय तो वीतराग देवों द्वारा प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है और वह दर्शन की घात नहीं करता तब उसे दर्शन मोहनीय के भेदों में क्यों नहीं गिना जाता है? इसका समाधान यह है कि जैसे चश्मा आंखों का आवरण करने वाला होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्व मोहनीय भी तत्त्वार्थ–श्रद्धान में रुकावट नहीं डालता है परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो होता ही है। इसके सिवाय सम्यक् मोहनीय में अतिचारों की भी संभावना रहती है। औपशमिक और शायिक सम्यक्त्व दर्शन के लिये यह

स्वच्छ दर्शात्मक के रूप भी है। इसलिये यह दर्शन मोहनीय के भेदों में दिया गया है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय की स्पष्ट व्याख्या यह होगी कि जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में समझना और विश्वास करना यह तो दर्शन और इसको विपरीत रूप से समझना यह दर्शन मोहनीय। तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन से दर्शन मोहनीय कर्म का दर्शन भिन्न हो जाता है।

(2) चारित्र मोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसे चारित्र कहते हैं। यह भी आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद कहे गये हैं—(अ) कषाय मोहनीय— कष अर्थात् जन्म मरण रूप संसार की प्राप्ति जिसके कारण हो, वह कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जो मलिन बनाता है, उसे कषाय कहते हैं। यह कषाय ही 'कषाय मोहनीय' है। कषाय चार होती हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन के भेद से प्रत्येक कषाय के चार-चार प्रकार हैं अतः कषाय के कुल सोलह प्रकार हैं। (ब) नोकषाय मोहनीय—कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय हैं। ये क्रोधादि कषायों को उभारते हैं। नौ भेद होने से क्रोधादि के सहचर होने से ये नोकषाय हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद। मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथ उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इस प्रकार मोहनीय कर्म कुल 3+16+9=28 प्रकार का होता है।

मोहनीय कर्म का बंध छः प्रकार से किया जाता है—(1) तीव्र क्रोध करके, (2) तीव्र मान करके, (3) तीव्र माया करके, (4) तीव्र लोभ करके (5) तीव्र दर्शन मोहनीय के द्वारा तथा (6) तीव्र चारित्र मोहनीय के द्वारा। यहां चारित्र मोहनीय का अर्थ नोकषायों से लिया जाना चाहिये। मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म का बंध करता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पांच प्रकार का बताया गया है—(1) सम्यक्त्व मोहनीय (2) मिथ्यात्व मोहनीय (3) सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय (4) कषाय मोहनीय तथा (5) नोकषाय मोहनीय। यह अनुभाव पुद्गल तथा पुद्गल परिणाम की अपेक्षा होता है तो स्वतः भी होता है। सम, संवेग आदि

परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव सम्यक्त्व मोहनीय आदि को वेदता है। देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव प्रशमादि भाव का अनुभव करता है। आहार के परिणाम विशेष से भी कभी-कभी कर्म पुद्गलों में विशेषता आ जाती है, जैसे ब्राह्मी औषधि आदि आहार परिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध है। कर्मों के उदय, क्षय और क्षयोपशम जो कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव पाकर होते हैं। बादलों के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार सम, संवेग आदि परिणामों के कारणभूत जो भी पुदगल आदि हैं, उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्व आदि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है। यह परतः अनुभाव हुआ। सम्यक्त्व मोहनीय आदि कार्मण पुद्गलों के उदय से जो प्रशम आदि भाव होते हैं, वह स्वतः अनुभाव है।

मोह का समीक्षण

मैं मनुष्य जीवन की गरिमा को पहचान गया हूँ। मैं इस जीवन से ही ऊर्ध्वरेता बन सकता हूं, ऊर्ध्वारोहण कर सकता हूं वीतराग देव की पवित्र वाणी से मेरा अंतःकरण रूपान्तरिक होकर सम्यक् दृष्टि भाव की सर्चलाइट श्रद्धा के रूप में अभिव्यक्त हो चुकी है, उसके आलोक में हेय, ज्ञेय और उपादेय को मैं जान चुका हूं। मेरा स्वरूप जागृत हो चुका है, मेरी बहिर्आत्मा सर्पकञ्चुकी की तरह अलग भाषित होती है उसको हेय मानने की अभिनव चेतना जागृत हो चुकी है। दर्शन मोह की जड़ों को मैं उखाड़ चुका हूं, मेरी प्रसन्नता क्षायिक भाव-सी लगने लगी है। अन्य संकल्प तीव्र बन चुका है। मेरी अन्तःध्वनि हेय अवस्था को त्यागने के लिए छटपटा रही है, ज्ञपरिज्ञा को प्रत्याख्यान परिज्ञा में परिणत करता हुआ ऊर्ध्वगमन आखिरी मंजिल को लक्ष्य रूप से निर्धारित कर चुका हूं वही लक्ष्य त्रिकाल स्थायी एवं अबाधित है मैं उस ध्रुवयुक्त उत्पाद व्यय के साथ परिणामि चैतन्य देव के ज्ञानांन्द में रमण करने के लिए अत्यंत उत्सुक हूं।

सभी विकारी उपाधियों से निर्लिप्त रहता हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान को वरने के लिए छटपटा रहा हूं वह अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय गुण मय चिंतामणी रत्नों का अखूट खजाना मेरी अंतरात्मा श्रद्धा रूप से चमक उठा है। मैं निश्चय कर चुका हूं कि चारित्र मोह के अनादि कालीन योद्धाओं को परास्त करने में सक्षम बनूं। उस सक्षमता में मेरा सत्पुरुषार्थ निरंतर चालू रहे, साध्य एवं साधन की समन्वयात्मक उपादान आदि की अवस्था में साध्य को कार्य रूप में परिणत करके ही रहूंगा।

साध्य और साधन में जरा भी मोच नहीं आने दूंगा यह मेरा साधना‍ग आंतरिक सूत्र है। यह जीवन के गुणों के साथ संबद्ध रहा है, रह रहा है, अ रहेगा। इसमें संशय को अवकाश ही नहीं है क्योंकि मेरा जीवन आर्य (कुल आदि के साथ आर्य गुणों के साथ सम्पन्न हो चुका है। इसीलिए चित परिणति को आंतरिक अध्यवसाय को कर्म जनित सभी रंगों से र बनाकर रहूंगा। यह मेरी दृढ़ धारणा ही समर्थ सहकारी कारणों के संयुक्त है। इस धारणा को तोड़ने का त्रिकाल में भी प्रसंग नहीं आ सव परिषह उपसर्ग इस धारणा को विमोचित करने के लिए उपस्थित हो र हैं किंतु उनको भी मैं यथा तथ्य रूप से समीक्षण चक्षु से ही अवल करूंगा। पूर्व में बहिर् आत्मा से सम्बन्धित जो उपकरण, परिवार आ उपाधियां आमने-सामने तैर रही हैं। किन्तु मैं उनको भी आसक्ति के अनुरंजित होकर नहीं देखूंगा।

उस आसक्ति के रंग को अनासक्ति में परिणत करने वाला स समीक्षण दृष्टि से उपलब्ध हो चुका है। अतएव ममत्व की जंजीरें स छेनी से ही परिछेदित की जा सकती है। यह परिछेदन की शक्ति मे हुई है। मैं शारीरिक, मानसिक आदि साधनों की शक्ति के अ सत्पुरुषार्थ पराक्रम चालू करने के लिए कटि-बद्ध हो चुका हूं। उ कसर नहीं रहने दूंगा। प्राप्त सांसारिक वैभव परित्यक्त करने का परिणाम परिपूर्ण रूप से नहीं जगेगा तब तक कमल वत रहता हुआ कर्त्तव्यों का पालन करूंगा। लेकिन सभी कर्त्तव्यों में लक्ष्यानुरू धारा रखूंगा। समय आने पर उस परिवार आदि परिधि का भी अति वसुधैव कुटुम्बकं की वृत्ति का परिपूर्ण जागरण करूंगा। शुभ योग पर लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाता हुआ अप्रमतत्ता की जागृति में अप समर्पित करता हुआ मोह कर्म के योद्धाओं का शमन, संक्षय आदि अपने आपको सक्षम बनाऊँगा, संक्षय की अंतिम रणभेरी के साथ ज्ञा दर्शनावरणीय और अंतराय के सहयोगी योद्धाओं को प साध्य की परिधि को पार करूंगा।

रत्नत्रय रूप साधनों को चरम सीमा में पहुंचाता केवल ज्ञान और क्षायिक चारित्र की स्व स्वभाव का अभेद रूप में संलोकित क शरीर परिधि की कर असंख्य प्रदेशों को लिए ध्रौव्य एवं दूंगा। अंततोगत्वा ...का सिद्धत्व ...गा। यह सिद्धि तो अन्य ...

आयुष्य के बंधन

मैं जानता हूं कि मेरी तरह प्रत्येक शरीरधारी संसारी जीव का अपनी-अपनी गति में उसका निश्चित आयुष्य होता है, जो आयु कर्म के अनुसार प्राप्त होता है। आयु की इस निश्चित अवधि को, किसी अपराधी को मिले कारागार के दंड की अवधि के समान माना गया है। जैसे दंडाज्ञा की नियत अवधि के पहले कारागार से छूटा नहीं जा सकता है वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने प्राप्त शरीर में बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर ही वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नहीं। अतः जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के प्रभाव से ही जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है अथवा स्वीकृत कर्म से प्राप्त नरक आदि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को आयु कर्म उसी गति में रोके रखता है। यह आयु कर्म प्रति समय भोगा जाता है या जिसके उदय में आने पर भव (जन्म) विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं।

आयु कर्म के चार भेद कहे गये हैं–(1) नरकायु–इस आयु बंध के चार कारण हैं– (अ) महारंभ–बहुत प्राणियों की हिंसा हो–इस प्रकार के तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, (ब) महा परिग्रह–वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना, (स) पंचेन्द्रिय वध–पंचेन्द्रिय (पांचों इन्द्रियों से सम्पन्न) जीवों की हिंसा–हत्या करना तथा (द) कुणिमाहार–मांस आदि का आहार करना। इन चार कारणों से जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

(2) तिर्यंचायु–इस आयुबंध के भी चार कारण हैं– (अ) माया–(कुटिल परिणामों वाला) जिसके मन में कुछ और हो और बाहर कुछ और अर्थात् जो विषकुंभ–पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो और भीतर से अनिष्ट चाहने वाला हो। (ब) विकृति वाला–ढोंग, आडम्बर आदि करके जो दूसरों को ठगने वाला हो। (स) जो झूठ बोलने वाला हो। (द) झूठे तोल झूठे माप वाला–खरीदने के लिये बड़े और बेचने के लिये छोटे बाट नाप रखने वाला। शोषण सम्बन्धी श्रम–चोरी का समावेश इसी में होता है। ऐसे जीव तिर्यंच (पशु) गति के योग्य कर्म का बंध करते हैं। तिर्यंचायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव तिर्यंचायु का बंध करता है। तिर्यंच की आयु जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

साध्य और साधन में जरा भी मोच नहीं आने दूंगा यह मेरा साधनागत आंतरिक सूत्र है। यह जीवन के गुणों के साथ संबद्ध रहा है, रह रहा है, और रहेगा। इसमें संशय को अवकाश ही नहीं है क्योंकि मेरा जीवन आर्य क्षेत्र कुल आदि के साथ आर्य गुणों के साथ सम्पन्न हो चुका है। इसीलिए मेरी चित परिणति को आंतरिक अध्यवसाय को कर्म जनित सभी रंगों से रहित बनाकर रहूंगा। यह मेरी दृढ़ धारणा ही समर्थ सहकारी कारणों के साथ संयुक्त है। इस धारणा को तोड़ने का त्रिकाल में भी प्रसंग नहीं आ सकता। परिषह उपसर्ग इस धारणा को विमोचित करने के लिए उपस्थित हो सकते हैं किंतु उनको भी मैं यथा तथ्य रूप से समीक्षण चक्षु से ही अवलोकित करूंगा। पूर्व में बहिर् आत्मा से सम्बन्धित जो उपकरण, परिवार आदि की उपाधियां आमने–सामने तैर रही हैं। किन्तु मैं उनको भी आसक्ति के रंग से अनुरंजित होकर नहीं देखूंगा।

उस आसक्ति के रंग को अनासक्ति में परिणत करने वाला समत्व गुण समीक्षण दृष्टि से उपलब्ध हो चुका है। अतएव ममत्व की जंजीरें समत्व की छेनी से ही परिछेदित की जा सकती है। यह परिछेदन की शक्ति मेरे में रही हुई है। मैं शारीरिक, मानसिक आदि साधनों की शक्ति के अनुपात से सत्पुरुषार्थ पराक्रम चालू करने के लिए कटि–बद्ध हो चुका हूं। उसमें कोई कसर नहीं रहने दूंगा। प्राप्त सांसारिक वैभव परित्यक्त करने का आंतरिक परिणाम परिपूर्ण रूप से नहीं जगेगा तब तक कमल वत रहता हुआ यथायोग्य कर्त्तव्यों का पालन करूंगा। लेकिन सभी कर्त्तव्यों में लक्ष्यानुरूप उपयोग धारा रखूंगा। समय आने पर उस परिवार आदि परिधि का भी अतिक्रमण कर वसुधैव कुटुम्बकं की वृत्ति का परिपूर्ण जागरण करूंगा। शुभ योग की सड़क पर लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाता हुआ अप्रमतत्ता की जागृति में अपने आपको समर्पित करता हुआ मोह कर्म के योद्धाओं का शमन, संक्षय आदि वृत्तियों में अपने आपको सक्षम बनाऊँगा, संक्षय की अंतिम रणभेरी के साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय के सहयोगी योद्धाओं को परास्त कर साधन और साध्य की परिधि को पार करूंगा।

रत्नत्रय रूप साधनों को चरम सीमा में पहुंचाता हुआ क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान और क्षायिक चारित्र की स्व स्वभाव का त्रिपुटी को आपेक्षिक अभेद रूप में संलोकित करूंगा किंतु शरीर परिधि की सीमा को भी अतिक्रमण कर असंख्य प्रदेशों को सदा–सदा के लिए ध्रौव्य एवं अचलत्व को परिणति दूंगा। अंततोगत्वा साकार उपयोग के साथ सिद्धत्व स्वरूप को सदा सदा के लिए वरूंगा। यह सिद्धि इस जन्म में नहीं तो अन्य जन्म में अवश्य पाऊंगा।

आयुष्य के बंधन

मैं जानता हूं कि मेरी तरह प्रत्येक शरीरधारी संसारी जीव का अपनी-अपनी गति में उसका निश्चित आयुष्य होता है, जो आयु कर्म के अनुसार प्राप्त होता है। आयु की इस निश्चित अवधि को, किसी अपराधी को मिले कारागार के दंड की अवधि के समान माना गया है। जैसे दंडाज्ञा की नियत अवधि के पहले कारागार से छूटा नहीं जा सकता है वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने प्राप्त शरीर मे बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर ही वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नहीं। अतः जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के प्रभाव से ही जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है अथवा स्वीकृत कर्म से प्राप्त नरक आदि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को आयु कर्म उसी गति में रोके रखता है। यह आयु कर्म प्रति समय भोगा जाता है या जिसके उदय में आने पर भव (जन्म) विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं।

आयु कर्म के चार भेद कहे गये हैं—(1) नरकायु—इस आयु बंध के चार कारण हैं— (अ) महारंभ—बहुत प्राणियों की हिंसा हो—इस प्रकार के तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, (ब) महा परिग्रह—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना, (स) पंचेन्द्रिय वध—पंचेन्द्रिय (पांचों इन्द्रियों से सम्पन्न) जीवों की हिंसा—हत्या करना तथा (द) कुणिमाहार—मांस आदि का आहार करना। इन चार कारणों से जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

(2) तिर्यचायु—इस आयुबंध के भी चार कारण हैं— (अ) माया—(कुटिल परिणामों वाला) जिसके मन में कुछ और हो और बाहर कुछ और अर्थात् जो विषकुंभ—पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो और भीतर से अनिष्ट चाहने वाला हो। (ब) विकृति वाला—ढोंग, आडम्बर आदि करके जो दूसरों को ठगने वाला हो। (स) जो झूठ बोलने वाला हो। (द) झूठे तोल झूठे माप वाला—खरीदने के लिये बड़े और बेचने के लिये छोटे बाट नाप रखने वाला। शोषण सम्बन्धी श्रम—चोरी का समावेश इसी में होता है। ऐसे जीव तिर्यच (पशु) गति के योग्य कर्म का बंध करते हैं। तिर्यंचायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव तिर्यंचायु का बंध करता है। तिर्यच की आयु जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

(3) मनुष्यायु—मनुष्य जन्म भी चार प्रकार के कारणों से प्राप्त होता है—(अ) जो भद्र—सरल प्रकृति (स्वभाव) वाला हो, (ब) जो स्वभाव से ही विनीत हो, (स) जो दया और अनुकम्पा के परिणामों (भावों) वाला हो तथा (द) जो मत्सर अर्थात् ईर्ष्या—डाह न करने वाला हो। ऐसा जीव मनुष्यायु योग्य कर्म बांधता है। मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव मनुष्य की जन्म आयु का बंध करता है। मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

(4) देवायु—देवायु बंध के भी चार कारण बताये गये हैं— (अ) जो सराग संयम का धारक रहा हो, (ब) जिसने देश विरति श्रावक धर्म का पालन किया हो, (स) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मो की निर्जरा करने वाला, तथा (द) बाल भाव से विवेक के बिना अज्ञानपूर्वक कायाक्लेश आदि तप करने वाला। ऐसा जीव देवायु के योग्य कर्म बांधता है। देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव देव की आयु का बंध करता है। देवायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु। यह अनुभाव स्वतः और परतः रूप दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्‌गलों के निमित्त से, विषमिश्रित अन्नादि रूप पुद्‌गल परिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि आयु कर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है—अपर्वतनीय तथा अनपवर्तनीय। बाह्य शस्त्र आदि का निमित्त पाकर जो आयुस्थिति पूर्ण होने के पहिले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है, वह अपवर्तनीय आयु है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है—बीच में नहीं टूटती, वह अनपवर्तनीय आयु है। अपवर्तनीय और अनपर्वतनीय आयु का बंध स्वाभाविक नहीं है। यह परिणामों के तार—तम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में बंधती है। आयु बंध के समय यदि परिणाम मंद हो तो आयु का बंध शिथिल होता है। इससे निमित्त पाने पर बंध काल की काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयु बंध के समय परिणाम, तीव्र हों तो आयु का बंध प्रगाढ़ होता है। बंध के प्रगाढ़ होने से निमित्त पाने पर भी बंध—काल की काल—मर्यादा कम नहीं होती। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इसमें विप, शस्त्र

आदि का निमित्त प्राप्त होता है और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। किन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम एवं निरूपक्रम दोनों प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकाल मृत्यु योग्य विष, शस्त्र आदि का संयोग होता है और निरूपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष, शस्त्र आदि का निमित्त मिलना उपक्रम कहा जाता है। अपवर्तनीय आयु शीघ्र ही समय से पहले भोग ली जाती है अतः उसमें शस्त्र आदि की नियमतः आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्तनीय आयु बीच में नहीं टूटती। उसके पूरी होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जाय तो उसे सोपक्रम कहा जायेगा, यदि निमित्त प्राप्त न हों तो निरूपक्रम। देवता, नारकी, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष जीव दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं।

नाम की विचित्रताएँ

मुझे ज्ञात है कि नाम कर्म एक चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर–असुन्दर रूपमय चित्र बनाता है, उसी प्रकार यह नाम कर्म जीव को सुन्दर–असुन्दर आदि अनेक रूप धारण करवाता है। नाम कर्म वह कर्म है जिसके उदय से जीव नारक, तिर्यंच आदि नामों से सम्बोधित होता है जैसे कि अमुक जीव देव है, अमुक नारकी है, अमुक तिर्यंच है, अमुक मनुष्य है आदि। यह कर्म जीव को विचित्र पर्यायों में परिणत करता है या गति आदि पर्यायों का अनुभव करने के लिये करता है।

नाम कर्म के मूल भेद बयालीस कहे गये हैं—चौदह पिंड प्रकृतियां, आठ प्रत्येक प्रकृतियां, दस त्रसदशक तथा दस स्थावरदशक। चौदह पिंड प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

(1) गति—गति नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय। यह चार प्रकार की है—(अ) नरक गति, (ब) तिर्यंच गति, (स) मनुष्य गति तथा (द) देवगति।

(2) जाति—अनेक में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे गोत्व (गाय पना) सभी भिन्न–भिन्न वर्णों की गोत्वों में एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि जीवों में एक, दो या इसी प्रकार इन्द्रियों की प्राप्ति से समानता का बोध होता है, इसलिये एकेन्द्रिय आदि जाति कहलाती है। जाति के पांच भेद हैं—(अ) एकेन्द्रिय—केवल

एक ही इन्द्रिय–स्पर्शेन्द्रिय के धारक जीवों की जाति, जैसे पृथ्वी, पानी आदि। (ब) द्विन्द्रिय–जिनके स्पर्श और रसना रूप दो इन्द्रियां होती हैं जैसे लट, सीप, अलसिया वगेरा। (स) त्रिन्द्रिय–जिन जीवों के स्पर्श, रसना और नासिका–ये तीन इन्द्रियां हों जैसे चींटी, मकोड़ा आदि। (द) चतुरिन्द्रिय–जिन जीवों को श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य चारों इन्द्रियां प्राप्त हो उन जीवों की जाति, जैसे मक्खी, मच्छर, भंवरा वगेरा तथा (य) पंचेन्द्रिय–जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां हों वे पंचेन्द्रिय हैं, जैसे गाय, भैंस, सर्प, मनुष्य आदि।

(3) शरीर–जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्णशीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, ये शरीर पांच प्रकार के होते हैं– (अ) औदारिक–उ़दार अर्थात् स्थूल पुद्‌गलों से बना हुआ शरीर। यह अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से बड़े परिमाण वाला होता है। इसके प्रदेश अल्प, पर परिमाण बड़ा होता है जो मांस, रुधिर, अस्थि से बना होता है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यचों के होता है। (ब) वैक्रिय–जिस शरीर से विविध व विशिष्ट क्रियाएं होती हैं अर्थात् जो एक रूप होकर अनेक रूप धारण कर सकता है, छोटे से बड़ा तथा बड़े से छोटा शरीर बना सकता है। इस शरीर से पृथ्वी या आकाश पर चला जा सकता है। दृश्य–अदृश्य रूप बनाये जा सकते हैं। यह शरीर दो प्रकार का होता है–औपपातिक एवं लब्धि प्रत्यय। जन्म से वैक्रिय शरीर मिले वह औपपातिक तथा तप आदि लब्धि से मिले वह लब्धि प्रत्यय। देवों व नारकीयों का वैक्रिय शरीर औपपातिक होता है तथा मनुष्य या तिर्यच इसके लब्धि–प्रत्यय रूप को प्राप्त कर सकते हैं। (स) आहारक–प्राणी दया तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह क्षेत्र आदि में विराजमान तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिये लब्धि विशेष से अतिविशुद्ध, स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है। (द) तैजस–तेज पुद्‌गलों से बना हुआ शरीर जो प्राणियों के शरीर में ऊष्णता रूप होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। इसी शरीर के कारण तपविशेष से तैजस लब्धि प्राप्त होती है। (य) कार्मण–कर्मों से बना हुआ शरीर जो जीव के प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्म पुद्‌गल रूप लगा हुआ होता है। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज है। क्रम सं. 1 से 3 के शरीर क्रमश. अधिक सूक्ष्मतर होते हैं तथा क्र. सं. 4 से 5 के शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। इन दोनों शरीरों

के साथ ही जीव मरण स्थान को छोड कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। इन दोनों शरीरों से मुक्ति तो मोक्ष में जाने वाले की ही होती है।

(4) अंगोपांग—इस नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर के विभिन्न अंग या उपांग प्राप्त होते हैं। ये तीन होते हैं—औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक।

(5) बंधन—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती है, उसी प्रकार जिस नाम कर्म से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गल परस्पर बंध को प्राप्त होते हैं। इस नाम कर्म के पांच भेद हैं— (अ) औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, (ब) वैक्रिय शरीर बंधन, (स) आहारक शरीर बंधन (द) तैजस शरीर बंधन तथा (य) कार्मण शरीर बंधन। पहले के तीन शरीरों में उत्पत्ति के समय सर्वबंध तथा बाद में देश बंध होता है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति न होने से उनमें सदा देशबंध ही होता है।

(6) संघात—जो नाम कर्म गृहित और ग्रह्यमाण शरीर पुद्गलों को परस्पर सन्निहित कर व्यवस्था से स्थापित कर देता है, वह संघात नाम कर्म है। यह भी पांच शरीरों के रूप से पांच भेद वाला होता है।

(7) संहनन—शरीर की हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। यह रचना छः प्रकार की होती है—(अ) वज्र ऋषभ नाराच संहनन—जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बंध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो। (ब) ऋषभ नाराच संहनन—उपरोक्त प्रकार में जब वज्र नामक हड्डी की कील न हो। (स) नाराच संहनन—पहले प्रकार में जब कील और वेष्टन पट्ट भी न हो (द) अर्ध नाराच संहनन—जब एक ओर मर्कट बंध हो और दूसरी ओर कील हो। (य) कीलिका संहनन—जिसमें हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई हो तथा (फ) सेवार्त्रक संहनन—जिसमें हड्डियां, पर्यन्त भाग में एक दूसरे को स्पर्श करती हुई रहती है और सदा चिकने पदार्थ की अपेक्षा रखती है।

(8) संस्थान—शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। इसके भी छः भेद हैं—(अ) समचतुरस्र पालथी मार कर बैठने पर आकार चार समकोण के समान हो। (ब) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान—वट वृक्ष की तरह ऊपर से विस्तृत तथा नीचे से संकुचित आकार का हो। (स) सादि संस्थान—नाभि से नीचे का भाग पूर्ण तथा ऊपर का भाग हीन हो। (द) कुब्ज संस्थान—हाथ, पैर, गर्दन आदि ठीक हो लेकिन पेट—पीठ टेढ़े हों। (य) वामन संस्थान—पेट—पीठ के

अवयव ठीक हो लेकिन हाथ पैर आदि छोटे हों। तथा (फ) हुंडक संस्थान—समस्त अव्यय बेढब हों।

(9) वर्ण—मूल वर्ण पांच—काला, नीला, लाल, पीला, सफेद ही होते हैं, बाकी सब इनके संयोग से बनते हैं।

(10) गंध—जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गंध हो। यह दो प्रकार की होती है—सुरभिगंध तथा दुरभिगंध।

(11) रस—रस भी मूल रूप से पांच प्रकार के होते हैं—तीखा, कडुआ, कषैला, खट्टा तथा मीठा। शेष रस इन्हीं के संयोग से बनते हैं।

(12) स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल रूक्ष आदि स्पर्श प्राप्त हो। स्पर्श आठ प्रकार के हैं—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

(13) आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुंचता है। यह नाम कर्म नाथ के समान होता है जिससे इधर उधर भटकते हुए बैल को इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। गति के नाम में ही इसके चार भेद होते हैं।

(14) विहायोगति— जिस कर्म के उदय से जीव की गति (चाल) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे के समान अशुभ होती है। इसके दो भेद हैं—शुभ विहायोगति एवं अशुभ विहायोगति।

आठ प्रत्येक प्रकृतियां निम्नानुसार होती हैं—

(1) पराघात—जिसके उदय से जीव बलवानों के लिये भी अजेय हो।

(2) उच्छवास—जब श्वासोश्वास लब्धि से युक्त हो।

(3) आतप—जब जीव का शरीर स्वयं ऊष्ण न होकर ऊष्ण प्रकाश फैलाता हो।

(4) उद्योत—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है।

(5) अगुरुलघु—जब जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का अर्थात् सन्तुलित होता है।

(6) तीर्थकर—जिस कर्म के उदय से जीव तीर्थंकर पद पाता है।

(7) निर्माण—जब जीव के शरीर के सभी अंग और उपांग यथास्थान व्यवस्थित हों।

(8) उपघात—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से क्लेश पाता है जैसे प्रति जिह्वा, चोर दांत, छठी अगुली आदि।

त्रसदशक की दस प्रकृतियों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(1) त्रस—जो जीव सर्दी—गर्मी से अथवा अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते हैं।

(2) बादर—जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् सूक्ष्म होते हैं।

(3) पर्याप्ति—आहार आदि के लिये पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह छः प्रकार की है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन।

(4) प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से जीव में पृथक—पृथक शरीर होता है।

(5) स्थिर— जब शरीर के अवयव स्थिर निश्चल होते हैं।

(6) शुभ्र—नाभि से ऊपर के अवयव जब शुभ्र होते हैं।

(7) सुभग—जब किसी उपकार या सम्बन्ध के बिना ही जीव सबका प्रीतिपात्र हो।

(8) सुस्वर—जब जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी हो।

(9) आदेय—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

(10) यश कीर्ति—जिस कर्म के उदय से ससार में जीव की यश—कीर्ति का प्रसार हो।

स्थावरदशक प्रकृतियों का स्वरूप ठीक त्रसदशक की प्रकृतियों के विपरीत होता है, जो इस प्रकार हैं—(1) स्थावर (2) सूक्ष्म (3) अपर्याप्ति (4) साधारण (5) अस्थिर (6) अशुभ (7) दुर्भग (8) दुःस्वर (9) अनादेय तथा (10) अयशकीर्ति।

नामकर्म की पिंड प्रकृतियों के उत्तर भेद गिनने पर तिरानवे प्रकृतियां होती हैं। यों नाम कर्म के संक्षिप्त दो भेद है—शुभ तथा अशुभ। शुभ नाम कर्म के बंध—कारण हैं—(1) काया की सरलता। (2) भाव की सरलता, (3) भाषा की सरलता तथा (4) अविसंवादन योग—कथनी करनी के भेद को विसंवादन कहते हैं और अविसंवादन का अर्थ है एकरूपता। शुभ नाम कर्म में तीर्थंकर

नाम कर्म भी सम्मिलित हैं जिसे बांधने के ये कारण हो सकते हैं—(1) अरिहंत, (2) सिद्ध, (3) प्रवचन, (4) गुरु, (5) स्थविर, (6) बहुश्रुत और (7) तपस्वी में भक्ति भाव रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना। (8) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, (9) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना, (10) निर्दोष रूप से ज्ञान आदि विनय का सेवन करना, (11) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना, (12) मूल गुणों व उत्तर गुणों में अतिचार नहीं लगाना, (13) सदा—संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना। (14) तप करना, (15) सुपात्रदान देना, (16) दस प्रकार की वैयावृत्य करना, (17) गुरु आदि की समाधि हो वैसा काम करना, (18) नवीन ज्ञान सीखना, (19) श्रुत का बहुमान करना तथा (20) प्रवचन की प्रभावना करना।

अशुभ नाम कर्म इन कारणों से बंधता है—(1) काया की वक्रता (2) भाषा की वक्रता (3) मन की वक्रता तथा (4) विसंवादन योग।

शुभ नाम कर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव होता है—(1) इष्ट शब्द (2) इष्ट रूप (3) इष्ट गंध (4) इष्ट रस (5) इष्ट स्पर्श (6) इष्ट गति (7) इष्ट स्थिति (8) इष्ट लावण्य (9) इष्ट यशःकीर्ति (10) इष्ट उत्थान बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम (11) इष्ट स्वरता (12) कान्त स्वरता (13) प्रिय स्वरता तथा (14) मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम कर्म के अनुभाव भी चौदह प्रकार के हैं किन्तु इनसे विपरीत होते हैं। दोनों प्रकार के नाम कर्म अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी होता है।

गौत्र की नीचोच्चता

मैं ऊंचा हूं या नीचा हूं—यह भेदस्थिति गौत्र कर्म के प्रभाव से होता है। इस कर्म के उदय से जीव ऊंच—नीच शब्दों से सम्बोधित किया जाता है तथा जाति, कुल आदि की अपेक्षा छोटा बड़ा कहा जाता है, गौत्र कर्म को एक कुंभकार के समान कहा गया है। जैसे कुम्हार कई घड़ों को इस तरह बनाता है कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं तथा कलश मान कर अक्षत चन्दन से पूजा करते हैं। किन्तु वह कई घड़े ऐसे भी बनाता है जिनमें मदिरा आदि भरी जाने के कारण वे निंध होते हैं। ऊंच—नीच के भेद इसी कुंभकार की तरह गौत्र कर्म बनाता है। उच्च गौत्र के उदय से जीव धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊंचा माना जाता है और नीच गौत्र के उदय से धन, रूप आदि से सम्पन्न होते हुए भी वह नीच ही माना जाता है।

जीव उच्च गौत्र कर्म का बंध आठ प्रकार के मद (अभिमान) नहीं करने से करता है जो इस तरह हैं—(1) जाति का मद, (2) कुल का मद, (3) बल

का मद (4) रूप का मद, (5) तप का मद, (6) श्रुत का मद, (7) लाभ का मद और (8) ऐश्वर्य का मद। इसके विपरीत जो इन आठों स्थितियों का अभिमान करने वाला होता है, वह नीच गौत्र कर्म का बंध करता है। उच्च या नीच गौत्र कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से भी उच्च या नीच गौत्र का बंध होता है।

उच्च गौत्र का अनुभाव आठ प्रकार से होता है—(1) जाति विशिष्टता (2) कुल विशिष्टता (3) बल विशिष्टता (4) रूप विशिष्टता (5) तप विशिष्टता (6) श्रुत विशिष्टता (7) लाभ विशिष्टता और (8) ऐश्वर्य विशिष्टता। यह अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी। एक या अनेक बाह्य द्रव्य आदि रूप पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव उच्च गौत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुषों द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति–कुल सम्पन्न की तरह माना जाता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का अनुभव करता है। जैसे किसी ने अकस्मात् बादलों के आने की बात कही और संयोगवश बादलों के आ जाने से बात मिल गई। यह परतः अनुभाव हुआ। उच्च गौत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का भोग करना—यह स्वतः अनुभाव है।

नीच गौत्र कर्म का वेदन जीव नीच कर्म का आचरण, नीच पुरुष की संगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका चला कर या दूसरा नीच कार्य करके निन्दनीय हो जाता है। पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी नीच गौत्र कर्म का परतः अनुभाव प्राप्त होता है। नीच गौत्र कर्म के उदय से जातिहीन कुलहीन आदि होना स्वतः अनुभाव है।

अवरोधी अन्तराय

मेरा अनुभव है कि अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि शक्तियों को अवरुद्ध बनाकर उनकी घात करता है। मेरे दान, लाभ आदि कार्यों में जो बाधाएं तथा रुकावटें आती हैं, वे इसी कर्मोदय के कारण आती हैं। इस कर्म को भंडारी के समान माना गया है कि राजा कोई पुरस्कार देने की आज्ञा दे दे किन्तु भंडारी के विरुद्ध होने से वह आज्ञा कार्यान्वित न हो सके और याचक को खाली हाथ लौटना पड़े। राजा की इच्छा को भी भंडारी सफल नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव राजा है, दान देने की उसकी इच्छा है, साधन भी उसके पास है किन्तु भंडारी के समान यह अन्तराय कर्म

उसमें रुकावट डाल देता है। और जीव विवशतावश होकर कुछ भी नहीं कर पाता है।

अन्तराय कर्म के पांच भेद बताये गये हैं–

(1) दानान्तराय–दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है फिर भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता या दान के बीच में कोई अवरोध खड़ा हो जाता है। यह दानान्तराय का कुप्रभाव होता है।

(2) लाभान्तराय–योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वह लाभान्तराय कर्म है। लाभ पाने के बीच में रुकावट आ जाती है और लाभ नहीं मिलता।

(3) भोगान्तराय–त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से भोग न कर सके, वह भोगान्तराय कर्म है।

(4) उपभोगान्तराय–जिस कर्म के उदय से जीव त्याग–प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा रहते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

(5) वीर्यान्तराय–शरीर निरोग हो, तरुण अवस्था हो, बल का भी संयोग हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव प्राणशक्ति रहित होता है तथा सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद बताये गये हैं–(अ) बाल वीर्यान्तराय–समर्थ होते हुए और चाहते हुए भी जिसके उदय से जीव सांसारिक कार्य नहीं कर सके, वह बाल वीर्यान्तराय कर्म है। (ब) पंडित वीर्यान्तराय–सम्यक् दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी जिस कर्म के उदय से जीव मोक्ष–प्राप्ति के योग्य, क्रियाएं न कर सके, वह पंडित वीर्यान्तराय है। (स) बाल–पंडित वीर्यान्तराय–देशविरति रूप श्रावक धर्म की आराधना की चाह रखते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक की क्रियाओं का पालन न कर सके, वह बाल–पंडित वीर्यान्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोडी सागरोपम की है।

अन्तराय कर्म के बंध के भी पांच ही कारण हैं–(1) दान में अन्तराय या बाधा डालना (2) लाभ में बाधा डालना (3) भोग में बाधा डालना (4)

उपभोग में बाधा डालना तथा (5) वीर्य—प्राण शक्ति में बाधा डालना। अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव अन्तराय कर्म बांधता है।

अन्तराय कर्म का अनुभाव भी दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न बाधा होने रूप पांच प्रकार का है। यह अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी। परतः अनुभाव पुद्गल निमित्त, पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से होता है तो स्वतः अनुभाव अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि में अन्तराय रूप फल के भोगने से होता है।

जो जैसा करता है, वैसा भरता है

मैं अनुभव करता हूं कि संसार में अष्ट कर्मों का स्वचालित शासन इतना सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित है कि कहीं कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि यह शासन समता—भाव का प्रतीक भी है जहां किसी के साथ पक्षपात या भेदभाव होने की कोई संभावना ही नहीं है। जो जैसा करता है, वैसा भरता है। करने के वक्त यह स्वतंत्र होता है किन्तु भरने (फल भोग के समय) के वक्त भरे बिना किसी हालत में छुटकारा नहीं होता यानि कि उस भरने में किसी की कोई मदद भी नहीं चलती। स्वयं करो—यह पुरुषार्थ का विषय है और स्वयं ही भोगो—इसे भाग्य भी मान सकते हैं क्योंकि कर्मवाद का यह सिद्धान्त भाग्य और पुरुषार्थ का सुन्दर समन्वय है तथा विकास के लिये इसमें विशाल क्षेत्र है।

कर्मों की सफलता के सम्बन्ध में मुझे वे आप्त वचन याद आते हैं जिनमें कहा कहा गया है कि प्राणियों के सभी अनुष्ठान फल सहित होते हैं। फल भोग किये बिना उनसे छुटकारा नहीं होता क्योंकि वे कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। जैसे संधिमुख पर चोरी करते हुए पकड़ा गया चोर अपने चौर्य कार्य से दुःख पाता है, वैसे ही यहां और परलोक में जीव स्वकृत कर्मों से ही दुःख भोगते हैं। फल भोगे बिना कृत कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती है। यह आत्मा अपने कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में कभी नरक में और कभी असुरों में आदि विभिन्न योनियों में उत्पन्न होती रहती है। पापी जीव का दुःख न जाति वाले बंटा सकते हैं और न मित्र लोग ही। पुत्र एवं भाई बंधु भी उसके दुःख के भागीदार नहीं होते। केवल पाप करने वाला अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता ही के साथ जाते हैं। द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन, धान्य—इन सभी को यहीं छोड़कर परवश हो यह आत्मा अपने कर्मों के साथ परलोक में जाती है और वहां अपने कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा भव प्राप्त करती है।

मैं समझ गया हूं कि आठों कर्मों के बंध के कौन–कौनसे कारण है और उन्हें जानकर यह भी समझ गया हूं कि किस प्रकार मैं इन कारणों को रोकने में समर्थ हूं ? यही सामर्थ्य मुझे आठों कर्मो से विलग कर सकता है। यदि मैं कर्मो के बंध को ही रोकने लग जाऊं तो फिर ये कर्म मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। तब मैं अपनी संवर साधना के माध्यम से आते हुए कर्मों को रोक सकूंगा तो पहले के बंधे हुए कर्मों को क्षय करने की दिशा में भी अपने पुरुषार्थ को लगा सकूंगा। इस क्रमिक प्रक्रिया की सफलता के साथ मैं आशा कर संकता हूं कि एक दिन मैं अपनी बद्ध आत्मा को बुद्ध तथा सिद्ध भी बना सकूंगा।

मैं जान गया हूं कि सामान्य रूप से आयु कर्म के सिवाय सभी सातों कर्मों का बंध एक साथ होता है। इनके क्रम का कारण यह है–ज्ञान और दर्शन जीव के स्वतत्व रूप हैं क्योंकि इनके बिना जीवत्व की उत्पत्ति ही नहीं होती है। जीव का लक्षण चेतना–उपयोग है और उपयोग ज्ञान–दर्शन रूप होता है। ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही वैचारिकता जागती है तथा लब्धियां प्राप्त होती हैं और जिस समय जीव सकल कर्मों से मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानोपयोग वाला ही हो जाता है। इसी कारण ज्ञान के आवरक कर्म को पहले क्रम पर रखा गया है। ज्ञानोपयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग में स्थित होता है अतः दूसरा क्रम दर्शनावरणीय कर्म का है। ये दोनों कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख–दुःख रूप वेदनीय कर्म में निमित्त होते हैं, इसलिये इसका तीसरा क्रम है। वेदनीय कर्म दृष्ट वस्तुओं के संयोग में सुख तथा अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है जिसके कारण राग और द्वेष के भाव पैदा होते हैं। ये राग और द्वेष के भाव ही मोह के कारण हैं, अतः चौथे क्रम पर मोहनीय कर्म रखा गया है। मोहनीय कर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारंभ, महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरक आदि का आयुष्य बांधते हैं इसलिये बाद में आयु कर्म का क्रम है। आयु कर्म के बाद नाम व गौत्र की रचना होती है तथा अन्तराय की स्थिति पैदा होती है। अतः इस क्रमिकता के अनुसार ही आठों कर्मो का क्रम है।

मैं यह भी जान गया हूं कि मेरी आत्मा को जन्म–मरण के चक्र में घुमाने वाला कर्म ही है। यह कर्म मेरे ही अतीत के कार्यों का अवश्यंभावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का कर्म ही प्रधान कारण है। मेरी वर्तमान अवस्थाएं किसी बाह्य शक्ति की बनाई हुई या दी हुई नहीं हैं। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में मेरे ही किये हुए कर्मों का फल हैं। मैं जो

कुछ भी अभी घटित होते हुए देखता हूं, वह मेरी ही किसी अन्तरंग अवस्था का परिणाम होता है। मैं जो कुछ पाता हूं, वह मेरी ही अपनी खेती का फल है ! मैं जैसा बोता हूं, वही काटता हूं। या यों कहूं कि मैंने जैसा किया है, वैसा भरता हूं और जैसा अभी करता हूं, वैसा आगे भरूंगा। मैं ही अपने बनने वाले भाग्य का नियन्ता हूं। मैं जब अपने भाग्य को दोष देता हूं तो यह भी मुझे समझना चाहिये कि वह दोष मेरा ही है। इस समझ से मेरे भीतर यह ज्ञान जागेगा कि मुझे जैसा आगे अपना भाग्य चाहिये, वैसा ही पुरुषार्थ मैं आज करूं। मैं पूर्ण रूप से स्वतंत्र हूं कि मैं अपने भाग्य को आज किस रूप में ढालूं। अष्ट कर्मों के इस विश्लेषण ने मुझे जगा दिया है कि मैं अपनी अज्ञानता को समाप्त करूं, अपने पुरुषार्थ को क्रियाशील बनाऊं तथा अपनी स्वरूप–विकृति को परिमार्जित करने लगूं। मैं अपने मन, वचन तथा कर्म की तुच्छता–हीनता को समझूं, उससे अपने आपको लज्जित अनुभव करूं एवं तुच्छता के स्थान पर उदारता व उच्चता की प्रतिष्ठा करने के सत्प्रयास में संलग्न बन जाऊं। मैं जान गया हूं कि क्या तुच्छता धर्माराधना में प्रवृत्ति करने से ही मिट सकेगी। संसार के सभी प्राणियों के प्रति जो मेरी हीन–भावना है, वह स्वार्थवश है और जब धर्म की सच्ची आराधना से स्वार्थपूर्ण मेरा ममत्व घटेगा, तो मेरी आन्तरिकता में सबके प्रति उदार भाव का संचार होगा। यह उदार–भाव एक ओर मेरी त्याग वृत्ति को उभारेगा तो दूसरी ओर मेरे त्याग को दूसरे प्राणियों के प्रति सहानुभूति एवं सहयोग के रूप में नियोजित करने की प्रेरणा प्रदान करेगा। मेरा त्याग भाव जितने अंशों में प्रबलता ग्रहण करता जायेगा, लोकोपकार एवं लोक कल्याण में मेरीं वृत्ति और प्रवृत्ति गहरी होती जायेगी।

मेरा अनुभव है कि जब मैं लोकोपकार के कार्यों मे तल्लीन होता जाऊंगा तो मेरा 'मैं' विराट् स्वरूप लेता जायेगा, तब 'मैं' मात्र 'मैं' में ही सीमित नहीं रह जाऊंगा बल्कि मेरा 'मैं'; सम्पूर्ण विश्व में विस्तृत हो जायगा तथा सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं के साथ मंत्री भाव में समा कर एकाकार–सा हो जायेगा। वह मेरी हीन भावना के विसर्जन की अवस्था होगी।

आत्मीय समानता का संदेश

मेरी गूढ़ वैचारिकता जब कर्म सिद्धान्त के मर्म में गहरे पैठती है तो मेरा यह अनुभव होता है कि इस सिद्धान्त के साथ ही आत्माओं की समानता तथा महानता का सन्देश जुड़ा हुआ है। मेरी अनुभूति स्पष्ट होती है कि मेरी आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति या इच्छा के अधीन नहीं है एवं

अपने संकल्पों तथा अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मुझे किसी का भी दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। अपने पापों का नाश करने के लिये और अपने उत्थान के लिये मुझे किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की आवश्यकता है और न ही उसके आगे रोने या गिड़गिड़ाने की आवश्यकता है।

मेरे सामने कर्मवाद का यह मंतव्य साफ हो जाता है कि संसार की सभी आत्माएं एक समान हैं तथा सभी आत्माओं में एक समान ही शक्तियां रही हुई हैं। इस संसार में सभी आत्माओं के बीच में जो भेद–भाव दिखाई देता है, वह उनकी मूल शक्तियों के कारण नहीं अपितु उन शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण है। यह विकास अपने अपने पुरुषार्थ पर निर्भर होता है।

आत्मिक विकास की चरम सीमा का भी मुझे ज्ञान हो गया है कि मैं आत्मा हूं और मुझे परमात्मा बनना है। आत्मा और परमात्मा की स्थिति के बीच जो अन्तर है वही कर्मों के आवरण है। कर्मों के इन बादलों को अगर मैं छंटाकर हटा दूं तो फिर मेरी आत्मा रूप सूर्य को प्रकट होने से कौन रोक सकता है ? यह सूर्य रूप ही सिद्ध रूप का प्रतीक है। आज मेरी आत्म–शक्तियां विभिन्न कर्मों से आवृत्त बनी हुई हैं, अविकसित हैं एवं परिग्रह से मूर्च्छाग्रस्त हैं। मुझे अपने ही आत्मबल को विकसित बनाकर अपनी इन शक्तियों का विकास करना है। इसी विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर मैं परमात्म–स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। अपने इस पूर्ण विकास के लक्ष्य को स्थिर बनाने में मुझे कर्मवाद से ही अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

मैं महसूस करता हूं कि अन्य प्राणियों के समान मेरा जीवन भी विघ्न–बाधाओं, दुःखों व आपत्तियों से भरा हुआ है। जब ये मुझे घेर लेती हैं तो मैं घबरा उठता हूं और मेरी बुद्धि अस्थिर बन जाती है। मैं दो पाटों के बीच में फंस जाता हूं क्योंकि एक ओर तो बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियाँ मुंह बाए खड़ी होती हैं, तो दूसरी ओर चिन्तित व तनावग्रस्त बनकर मैं अपनी अन्तरंग अवस्था को भी बिगाड़ लेता हूं। परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियों से सफल संघर्ष करने का मेरा सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। ऐसी दुर्बल बनी मनोदशा में भूल पर भूल करते हुए चले जाना जैसे मेरा स्वभाव बन जाता है। ऐसी अवस्था में कभी–कभी हताशा मुझे इतनी बुरी तरह से झकझोर डालती है कि मैं अपने हाथों में लिये हुए सत्कार्य को छोड़ बैठता हूँ। जब दुःखों का क्रम चल पड़ता है तो मैं अपना धीरज भी छोड़ सकता हूँ और रोने –चिल्लाने लग जाता हूँ। उस दबी हुई विचार स्थिति में मैं यही समझने लग जाता हूँ

कि बाह्य निमित्त ही मुझे दुःख देने वाले हैं। इसलिये मैं बाह्य परिस्थितियो तथा उनके निमित्त बनने वाले व्यक्तियों को कोसता और दोष देता हूँ। इस सम्बन्ध में मैं अब समझ गया हूँ कि यह व्यर्थ का दोषारोपण मुझे व्यर्थ के क्लेश में फंसा देता है और उस रूप में मैं अपने लिये व्यर्थ ही में एक नये दुःख को खड़ा कर लेता हूँ। इस प्रकार की विश्रृंखलित मनःस्थिति में यह कर्मवाद का सिद्धान्त मेरा सच्चा शिक्षक बन जाता है और मुझे पथभ्रष्टता से बचाता है कि हे आत्मन्, तू अपना भ्रम छोड़ दे और इस सत्य को समझले कि तू ही अपने भाग्य का प्रणेता है। सुख और दुःख तेरे अपने ही किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति न तुझे सुखी बना सकती है और न दुःखी। जैसे वृक्ष के अस्तित्व का मूल कारण बीज होता है तथा पृथ्वी, पवन, पानी तो उसके निमित्त मात्र होते हैं। उसी प्रकार दुःख का बीज तेरे अपने पूर्वकृत कर्मों में रहा हुआ है और ये बाह्य व्यक्ति या साधन तो निमित्त मात्र हैं। न इनको क्लेशित कर और न स्वयं क्लेशित बन। अपनी आत्मशक्ति को ही जगा कि वह उस बीज को समाप्त कर दे–फिर कोई दुःख नहीं रह जायेगा।

यह शिक्षा और चेतावनी जब मुझे कर्मवाद के सिद्धान्त से मिलती है तब मैं सावधान हो जाता हूँ और अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता हूं। तब दुःख और विपत्ति के समय मेरा आकुल व्याकुल होना घट जाता है और विवेक भी जागता रहता है। फिर मैं अपने दुःखों के लिये न दूसरों को दोष देता हूँ और न उन्हें क्लेशित करता हूँ। मैं तब अपने आपको निराशा के अंधकार में डूबने से भी बचा लेता हूँ। मुझे दुःखों को सहने की ऐसी शक्ति मिल जाती है कि दुःख के पहाड़ टूट पड़ें तब भी मैं अपने हृदय की शान्ति तथा बुद्धि की स्थिरता को बनाये रखता हूँ और प्रतिकूल परिस्थितियों का धैर्य के साथ सामना करने में कुशल बन जाता हूँ। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह मैं शान्त भाव से कर्मो का ऋण चुकाता हूँ तथा कर्म–फल को उसी शान्त भाव से सह लेता हूँ। अपनी प्रत्यक्ष भूल से होने वाली बड़ी से बड़ी हानि को जिस प्रकार मैं शान्त भाव से सह लेता हूँ, वही सहनशीलता मैं कर्म फल भोगने में भी स्थिर रख लेता हूँ। फिर अपने भूतकाल के अनुभवों से मैं अपने भविष्य–निर्माण के प्रति सजग बन जाता हूँ। इस प्रकार सुख और सफलता में संयत रहने की मुझे ऐसी शिक्षा मिलती है कि मैं अपनी आत्मा को किसी भी परिस्थिति में अनियंत्रित, उच्छृंखल या उद्दंड बन जाने से बचा लेता हूँ।

आत्माओं की समानता के संदर्भ में मैं यह समझ गया हूँ कि मैं विकास की इस प्रक्रिया में स्वयं घनिष्ठता से जुडूं तथा अपने सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों को भी इस प्रक्रिया से जुड़ने की अनुप्रेरणा दूं।

अपने संकल्पों तथा अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मुझे किसी का भी दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। अपने पापों का नाश करने के लिये और अपने उत्थान के लिये मुझे किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की आवश्यकता है और न ही उसके आगे रोने या गिड़गिड़ाने की आवश्यकता है।

मेरे सामने कर्मवाद का यह मंतव्य साफ हो जाता है कि संसार की सभी आत्माएं एक समान हैं तथा सभी आत्माओं में एक समान ही शक्तियां रही हुई हैं। इस संसार में सभी आत्माओं के बीच में जो भेद–भाव दिखाई देता है, वह उनकी मूल शक्तियों के कारण नहीं अपितु उन शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण है। यह विकास अपने अपने पुरुषार्थ पर निर्भर होता है।

आत्मिक विकास की चरम सीमा का भी मुझे ज्ञान हो गया है कि मैं आत्मा हूं और मुझे परमात्मा बनना है। आत्मा और परमात्मा की स्थिति के बीच जो अन्तर है वही कर्मों के आवरण है। कर्मो के इन बादलों को अगर मैं छंटाकर हटा दूं तो फिर मेरी आत्मा रूप सूर्य को प्रकट होने से कौन रोक सकता है ? यह सूर्य रूप ही सिद्ध रूप का प्रतीक है। आज मेरी आत्म–शक्तियां विभिन्न कर्मों से आवृत्त बनी हुई हैं, अविकसित हैं एवं परिग्रह से मूर्च्छाग्रस्त हैं। मुझे अपने ही आत्मबल को विकसित बनाकर अपनी इन शक्तियों का विकास करना है। इसी विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर मैं परमात्म–स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। अपने इस पूर्ण विकास के लक्ष्य को स्थिर बनाने में मुझे कर्मवाद से ही अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

मैं महसूस करता हूं कि अन्य प्राणियों के समान मेरा जीवन भी विघ्न–बाधाओं, दुःखों व आपत्तियों से भरा हुआ है। जब ये मुझे घेर लेती हैं तो मैं घबरा उठता हूं और मेरी बुद्धि अस्थिर बन जाती है। मैं दो पाटों के बीच में फंस जाता हूं क्योंकि एक ओर तो बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियाँ मुंह बाए खड़ी होती हैं, तो दूसरी ओर चिन्तित व तनावग्रस्त बनकर मैं अपनी अन्तरंग अवस्था को भी बिगाड़ लेता हूं। परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियों से सफल संघर्ष करने का मेरा सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। ऐसी दुर्बल बनी मनोदशा में भूल पर भूल करते हुए चले जाना जैसे मेरा स्वभाव बन जाता है। ऐसी अवस्था में कभी–कभी हताशा मुझे इतनी बुरी तरह से झकझोर डालती है कि मैं अपने हाथों में लिये हुए सत्कार्य को छोड़ बैठता हूँ। जब दुःखों का क्रम चल पड़ता है तो मैं अपना धीरज भी छोड़ सकता हूँ और रोने –चिल्लाने लग जाता हूँ। उस दबी हुई विचार स्थिति में मैं यही समझने लग जाता हूँ

कि बाह्य निमित्त ही मुझे दुःख देने वाले हैं। इसलिये मैं बाह्य परिस्थितियों तथा उनके निमित्त बनने वाले व्यक्तियों को कोसता और दोष देता हूँ। इस सम्बन्ध में मैं अब समझ गया हूँ कि यह व्यर्थ का दोषारोपण मुझे व्यर्थ के क्लेश में फंसा देता है और उस रूप में मैं अपने लिये व्यर्थ ही में एक नये दुःख को खड़ा कर लेता हूँ। इस प्रकार की विश्रृंखलित मनःस्थिति में यह कर्मवाद का सिद्धान्त मेरा सच्चा शिक्षक बन जाता है और मुझे पथभ्रष्टता से बचाता है कि हे आत्मन्, तू अपना भ्रम छोड़ दे और इस सत्य को समझले कि तू ही अपने भाग्य का प्रणेता है। सुख और दुःख तेरे अपने ही किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति न तुझे सुखी बना सकती है और न दुःखी। जैसे वृक्ष के अस्तित्व का मूल कारण बीज होता है तथा पृथ्वी, पवन, पानी तो उसके निमित्त मात्र होते हैं। उसी प्रकार दुःख का बीज तेरे अपने पूर्वकृत कर्मों में रहा हुआ है और ये बाह्य व्यक्ति या साधन तो निमित्त मात्र हैं। न इनको क्लेशित कर और न स्वयं क्लेशित बन। अपनी आत्मशक्ति को ही जगा कि वह उस बीज को समाप्त कर दे–फिर कोई दुःख नहीं रह जायेगा।

यह शिक्षा और चेतावनी जब मुझे कर्मवाद के सिद्धान्त से मिलती है तब मैं सावधान हो जाता हूँ और अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता हूं। तब दुःख और विपत्ति के समय मेरा आकुल व्याकुल होना घट जाता है और विवेक भी जागता रहता है। फिर मैं अपने दुःखों के लिये न दूसरों को दोष देता हूँ और न उन्हें क्लेशित करता हूँ। मैं तब अपने आपको निराशा के अंधकार में डूबने से भी बचा लेता हूँ। मुझे दुःखों को सहने की ऐसी शक्ति मिल जाती है कि दुःख के पहाड़ टूट पड़ें तब भी मैं अपने हृदय की शान्ति तथा बुद्धि की स्थिरता को बनाये रखता हूँ और प्रतिकूल परिस्थितियों का धैर्य के साथ सामना करने में कुशल बन जाता हूँ। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह मैं शान्त भाव से कर्मों का ऋण चुकाता हूँ तथा कर्म–फल को उसी शान्त भाव से सह लेता हूँ। अपनी प्रत्यक्ष भूल से होने वाली बड़ी से बड़ी हानि को जिस प्रकार मैं शान्त भाव से सह लेता हूँ, वही सहनशीलता मैं कर्म फल भोगने में भी स्थिर रख लेता हूँ। फिर अपने भूतकाल के अनुभवों से मैं अपने भविष्य–निर्माण के प्रति सजग बन जाता हूँ। इस प्रकार सुख और सफलता में संयत रहने की मुझे ऐसी शिक्षा मिलती है कि मैं अपनी आत्मा को किसी भी परिस्थिति में अनियंत्रित, उच्छृंखल या उद्दंड बन जाने से बचा लेता हूँ।

आत्माओं की समानता के संदर्भ में मैं यह समझ गया हूँ कि मैं विकास की इस प्रक्रिया में स्वयं घनिष्ठता से जुड़ूं तथा अपने सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों को भी इस प्रक्रिया से जुड़ने की अनुप्रेरणा दूं।

तुच्छता बनाम पुरुषार्थ

तुच्छता और हीनता उस मनःस्थिति का नाम है, जब मनुष्य में अमुक-अमुक कार्य करने की शक्ति तो नहीं होती, किन्तु वह वैसी शक्ति का अपने में सद्भाव मान कर अहंकार से भर जाता है। उसका अहंकार थोथा होता है और थोथा चणा, बाजे घणा की उक्ति के अनुसार उसकी वह तुच्छता उसके मन, उसकी वाणी तथा उसके कर्म से बराबर फूटती रहती है। वह दूसरों को हीन इसलिये समझने लग जाता है कि वह स्वयं हीनमन्यता से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी तुच्छता और हीनता उसकी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में प्रवेश पाकर स्वार्थ, ममत्व तथा प्रमाद को उकसाती है और उसे आत्म-विमुख बना देती है। उस समय उसका पुरुषार्थ भी शिथिल और मलिन बन जाता है। इस रूप में तुच्छता की वृत्ति तथा पुरुषार्थ वृत्ति परस्पर विरोधी होती है। तुच्छता बनी रहेगी तो आत्म पुरुषार्थ जागृत नहीं बनेगा और जब आत्म पुरुषार्थ जाग जायेगा तो फिर तुच्छता ठहर नहीं सकेगी। उसके स्थान पर उदारता और उच्चता का अवश्य ही विस्तार होने लगेगा। इस कारण मन, वाणी तथा कर्म की तुच्छता को मिटाना है तो अपने आत्म पुरुषार्थ को जगाना ही होगा। ऐसा जागृत बना आत्म पुरुषार्थ सबसे पहले आत्म स्वरूप के साथ बंधे हुए कर्मों के क्षयोपशम के सत्प्रयास में ही जुटेगा।

मैं तुच्छता एवं हीनता के ओछेपन में भटकता हुआ अपने मन, वचन तथा कर्म की नीच क्रियाओं को भुगत चुका हूं क्योंकि वे क्रियाएं अपने साथियों को छेदने, भेदने और परिताप उपजाने वाली ही अधिक होती थी। उस समय की अपनी मनोदशा को आज जब याद करता हूं तो महसूस होता है कि मैं अपनी सामान्य कार्य स्थिति से भी कितना नीचे गिर गया था और व्यर्थ में ही नये-नये कर्मों का बंध कर लेता था। अब उन्हीं कर्म-बंधों को तोड़ने के लिये मैं कठिन पुरुषार्थ करना चाहता हूं।

विचारों की इस अवस्था में मेरे मन में एक शंका पैदा होती है कि जब पूर्वकृत कर्मानुसार ही जीव को सुख-दुःख होते हैं तथा किये हुये कर्मों को भोगे बिना आत्मा का छुटकारा भी संभव नहीं है तो सुख प्राप्ति तथा दुःख निवृत्ति के लिये मेरे द्वारा प्रयत्न किया जाना क्या व्यर्थ नहीं होगा ? भाग्य-फल को रोका नहीं जा सकता तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही कहां रह जाती है ? क्या इस धारणा को लेकर कोई भी पुरुषार्थ विमुख नहीं होगा ? इन प्रश्नों के साथ ही मेरा चिन्तन चलता है कि होना है सो होना है तथा होनी को टाल नहीं सकते हैं तो किसी भी प्रकार के प्रयत्न या पुरुषार्थ

के लिये कहां स्थान रह जाता है ? किन्तु आप्त वचन मेरी शंका का सम्यक् समाधान करते हैं और मैं पुरुषार्थ की प्रक्रिया को भली–भांति जान और मान लेता हूं। यह सही है कि अच्छा या बुरा कोई भी कर्म बिना फल भोग दिये नष्ट नहीं होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है उसको वापिस नहीं लौटाया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार सामने से वेग–पूर्वक आता हुआ पत्थर पहले वाले पत्थर से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उस की दिशा को बदल देता है, ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्म परिणामों की तीव्रता या मन्दतां के अनुपात से न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में बदल जाते हैं और कभी–कभी निष्फल भी हो जाते हैं। कर्म की एक निकाचित अवस्था ही ऐसी होती है, जिस में कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पड़ता है। शेष अवस्थाएँ आत्म–परिणामानुसार परिवर्तनशील होती हैं। अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ परिवर्तन ला सकता है तथा कर्म की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को बदल सकता है। पुरुषार्थ के प्रभाव से कर्मो की सारी अवस्थाएं परिवर्तित हो सकती है—एक मात्र निकाचित अवस्था ही अप्रभावित रहती है। आत्म पुरुषार्थ के बल पर एक कर्म को दूसरे कर्म में बदला जा सकता है। लम्बी स्थिति वाले कर्म छोटी अवधि की स्थिति में तथा तीव्र रस वाले कर्म मन्दरस में परिणत किये जा सकते हैं। कई कर्मो का वेदन विपाक से न होकर प्रदेशों से ही हो जाता है। अतः कर्मवाद का सिद्धान्त इस आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं बनाता, बल्कि उसके पुरुषार्थ को जगाता है कि उस पुरुषार्थ की कठोरता के बल पर पूर्व कृत कर्मों के स्वरूप को परिवर्तित कर सकते हैं। नये कर्म बांधने की दृष्टि से पुरुषार्थ ही शत–प्रतिशत मूल कारण होता है। संवर की साधना को सुदृढ़ बना लें। प्रत्येक स्थिति में पुरुषार्थ तो करना ही चाहिए किन्तु यदि पुरुषार्थ सफल नहीं होता है तो धैर्य धारण कर सोचना चाहिये कि वहां कर्म की प्रबलता या निकाचितता है। किन्तु पुरुषार्थ उस स्थिति में भी व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि उसके प्रभाव से शेष कर्म तो छोटे और हल्के हो ही सकते हैं। इस सम्पूर्ण विषय को चिन्तन में लेकर मैं दृढ़तापूर्वक संकल्पित हो जाता हूं कि सत्पुरुषार्थ को मैं सर्वोपरि ही मानूंगा।

मेरी मान्यता दृढ़ हो गई है कि आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया एक ओर मेरी तुच्छता एवं हीनता की वृत्तियों को उदारता और उच्चता में परिवर्तित करेगी तो दूसरी ओर मेरे अधिकांश पूर्व कृत कर्मो को छोटे और हल्के रूप में भी परिवर्तित कर देगी। इस कारण सत्पुरुषार्थ का पथ ही मेरे लिये साध्य तक पहुंचाने वाला पथ है।

मुझे समझना हैं कि मेरा यह पुरुषार्थ क्या और कैसा होगा तथा वह मेरी आत्म विकास की महायात्रा के साथ कैसे जुडा हुआ रह सकेगा ? यह सत्य है कि मेरे आत्म पुरुषार्थ का चरम साध्य अपनी आत्मा को सर्वथा कर्म बंधन से मुक्त एवं रहित बना देना है और कर्म बंधन को क्षय करने का मार्ग है श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का पुरुषार्थ, यही मुक्ति का मार्ग है। किन्तु अपने चरम साध्य को दृष्टि में रखते हुए उस दिशा में अपने पुरुषार्थ का प्रारंभ तो अपनी नई ढली क्रियाओं के साथ ही करना होगा। जब मुझे कर्म बंध के कारणों का ज्ञान हो गया है तो मेरे पुरुषार्थ का पहला चरण यही होगा कि मैं उन कारणों का निरोध करूं याने कि अपनी क्रियाओं को इस नयेपन में ढालूं जो पाप–प्रभाव से मुक्त रहें। मेरी नई क्रियाएं स्व–पर कल्याण की प्रेरक क्रियाएं होनी चाहिये। क्योंकि स्व–कल्याण की प्रक्रिया में कुछ पुष्टता आने पर पर–कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति की प्रगाढ़ता के साथ स्व–कल्याण स्वयं सरल बनता जाता है। स्व–पर कल्याण तब अभिन्न हो जाते हैं।

लोकोपकार से महानता

एक अज्ञान या निष्क्रिय व्यक्ति तो लोकोपकार को समझेगा ही क्या ? लोकोपकार की तरफ अभिरुचि उस व्यक्ति की होगी, जिसका ज्ञान इतना विकसित हो गया है कि अपने जीवन को अहिंसा के आचरण में ढालने का उपक्रम कर सके तथा जिसकी क्रियाशीलता इतनी सजग हो गई है जो परहित से ऊपर स्व–स्वार्थों को उठने नहीं दे। इसका अर्थ ही यह होगा कि अपने जीवन में सामान्य–सा विकास हो जाने के बाद सबसे पहले अन्य प्राणियों के लिये संवेदना प्राप्त हो जाती है। क्योंकि सुज्ञता के साथ संवेदनशीलता बढ़ती ही है और जब संवेदनशीलता बढ़ती है तो व्यक्ति शुभ क्रियाओं में अधिकाधिक प्रवृत्ति करना आरंभ कर देता है।

इस प्रक्रिया का मैं यह अभिप्राय समझता हूं कि मैं संसारी जीवों की स्थिति तथा अपनी आत्मा की अवस्था को जानकर सुज्ञ बनूं और निश्चित है कि मेरी सुज्ञता मेरी संवेदनशीलता को उभारेगी एवं वस्तुतः मेरे पुरुषार्थ को उभारेगी कि मैं दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने एवं उन्हें सुखी बनाने में प्रयत्नशील बनूं। जब मैं ऐसा करने लगूंगा तो मैं अहिंसक बनूंगा। मैं दूसरों के हित में अपने परिग्रह का त्याग करूंगा, तब मैं पहले अपरिग्रहवादी, तटस्थ एवं निष्काम बनने लगूंगा। मैं छः काया के समस्त जीवों की रक्षा में उदार बनूंगा तो पहले मेरी ही आचार–विचार सम्बन्धी विश्रृंखलताएं दूर होगी और

मैं सत्य–दर्शन के समीप पहुंचने लगूंगा।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि दूसरे प्राणियों को कम या ज्यादा लाभ पहुंचे परन्तु मुझे तो अत्यधिक लाभ मिलेगा। मेरा विश्वास है कि सुमर्यादित लोकोपकार की विशुद्ध भावना ही मुझे महान् बना सकती है। लोकोपकार का क्षेत्र इतना व्यापक और इतने प्रभाव वाला होता है कि बाहर के संसार में भी अच्छाई फैलती है और भीतर के आन्तरिक संसार में भी नित नये–नये आत्मीय गुणों का विकास होता हुआ चला जाता है।

लोकोपकार की महत्ता को समझने के लिये मैं श्रावक के पहले अणुव्रत अहिंसा का ही उदाहरण दूं। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है और साधु सम्पूर्ण हिंसा का। श्रावक के हिंसा त्याग का स्वरूप क्या ? अपराधी को छोड़ शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग। इस अहिंसा अणुव्रत को ग्रहण कर श्रावक तो शुभता प्राप्त करेगा, किन्तु इस हिंसा–त्याग का सीधा लाभ किनको प्राप्त होगा ? उन द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों को यदि श्रावक पहला अणुव्रत ग्रहण नहीं करता तो वे जीव उसके हाथों प्राणघात पाते। इसका अर्थ यह लीजिये कि पर कल्याण के साथ ही, बल्कि उसकी साधना से ही स्व–कल्याण की साधना संभव बनती है। अतः आत्म कल्याण के नाम पर लोकोपकार को अलग नहीं किया जा सकता है बल्कि लोकोपकार को गहरा बनाते जाने पर ही स्व–कल्याण का मार्ग सुगम बनता जाता है।

व्यक्ति समाज में रहता है और न केवल अन्य व्यक्तियों के बल्कि पशु पक्षियों आदि स्थूल एवं पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म प्राणियों के भी सम्पर्क में वह रात–दिन आता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सामाजिक सुव्यवस्था को बल देने वाला हो—यह आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में सुधार का पहला दृष्टिकोण इसी आशय का रहता है। इसी तथ्य को इस भाषा में भी कह सकते हैं कि सम्यक् लोक कल्याण की उच्चतम साधना में ही आत्म–कल्याण की उत्कृष्टता भी समा जाती है और जो जितना बड़ा लोकोपकारी हो जाता है, वह उतना ही महान् भी कहलाता है क्योंकि श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्याग करता है उसका व्रत छोटा व्रत (अणुव्रत) कहलाता है किन्तु साधु सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करके सभी स्थूल एवं सूक्ष्म प्राणियों (छः काया) का रक्षक भी बनतां है, अतः उनका व्रत महाव्रत कहलाता है। तो यह 'अणु' और 'महा' इसी सत्य पर बने हैं कि आपका लोक कल्याण का क्षेत्र कहां तक विस्तार पा गया है ? इस प्रकार मैं समझ गया हूं कि मेरी महानता का मार्ग लोक

कल्याण के अहर्निश प्रयासों में सन्निहित है।

स्व–पर कल्याण की शुभ प्रवृत्ति मेरे आत्म स्वरूप के साथ शुभ कर्मों को संलग्न करेगी। शुभ कर्मों के फलोदय से शुभ संयोगों की प्राप्ति होगी, जिनकी सहायता से मेरी आत्मविकास की महायात्रा आसान बन जायेगी। पाप की तरह पुण्य भी कर्म पुंज ही होता है, लेकिन पाप कर्मों के फल से दुर्योग मिलते हैं और पुण्य कर्मों के फल से शुभ संयोग। साध्य तक पहुंचने के लिये शुभ संयोगों की भी आवश्यकता होती है। जैसे मार्ग में आई हुई नदी को पार करनी है तो नाव की जरूरत होगी। यद्यपि उस किनारे पर पहुंच जाने के बाद नाव भी छोड़नी पड़ेगी, फिर भी किनारे तक पहुंचने के लिये नाव की सहायता अनिवार्य है। वैसे ही पुण्य कर्म मोक्ष तक पहुंचाने में नाव के समान सहायक होता है। इस रूप में कर्म बंध, कर्म क्षय एवं कर्म मुक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये।

कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति

वस्तुतः स्व–पर कल्याण का जो पुरुषार्थ होता है, वह प्रारंभ की स्थिति है तो उसी पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति कर्म मुक्ति के रूप में ही प्रतिफलित होती है। जहां तक शुभ कर्मों के बंध का प्रश्न है, कर्म बंध में भी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है तो कर्म क्षय में कठोर पुरुषार्थ की। कर्ममुक्ति तो आत्म–पराक्रम की परमोत्कृष्टता की प्रतीक होती है। अतः कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल की मालिश करके रेत पर लेटे तो रेत के कण उसके शरीर पर चिपक जायेंगे। उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से आत्म प्रदेशों में जब हलचल होती है तो जिस आकाश में आत्म प्रदेश होते हैं, वहीं के अनन्त–अनन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा के एक–एक प्रदेश के साथ बंध जाते हैं। कर्म तथा आत्म प्रदेश दूध पानी या लोहपिंड अग्नि की तरह एकमेक हो जाते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का यह जो बंध होता है, उसे ही कर्म बंध कहते हैं।

कर्म बंध चार प्रकार का कहा गया है–(अ) प्रकृति बंध–कर्म पुद्गलों में भिन्न–भिन्न स्वभावों तथा शक्तियों का पैदा होना। (ब) स्थिति बंध–कर्म पुद्गलों में अमुक काल तक आत्मा के साथ बंधे रहने की कालावधि का होना। (स) अनुभाग बंध–कर्म पुद्गलों में अनुभव के तरतम भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, तथा (द) प्रदेश बंध–कर्म पुद्गलों में न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कंधों का सम्बन्ध होना। कर्म बंध का सम्पूर्ण

ज्ञान इन चार प्रकारों से होता है कि बंधे हुए कर्म का स्वभाव कैसा है, वह बंध कितनी कालावधि का है, उसका अनुभव कैसा होगा तथा उसका घनत्व कितना है ? जैसे सौंठ, पीपल, कालीमिर्च आदि कई वस्तुओं को मिला कर लड्डू बनाया जाता है तो उस वस्तु बंध रूप लड्डू से कर्म बंध का स्वरूप समझिये। कल्पना करें कि वह लड्डू वायुहरण के लिये बनाया गया है तो वायुनाशक उस लड्डू की प्रकृति हो गई। वह लड्डू एक सप्ताह, दो सप्ताह या अमुक अवधि तक अपना निजी स्वभाव याने ताजगी बनाये रखेगा—यह उसकी स्थिति हो गई। उस लड्डू का स्वाद अधिक मधुर है या अधिक कटु—यह उसका अनुभाग, अनुभव या रस हुआ। उसी प्रकार प्रदेश यह होगा कि वह लड्डू छोटे आकार का है या मध्यम या बड़े आकार का। इस प्रकार कर्म बंध के ये चार पहलू हैं।

कर्म बंध के प्रारंभ को उपक्रम कहते हैं, जो चार प्रकार का है— (1) बन्धनोपक्रम—कर्म पुद्गल एवं आत्म प्रदेशों के एकरूप सम्बन्ध होने को बंधन कहते हैं और इसी बन्धन के आरंभ को बन्धनोपक्रम। इसका अर्थ हुआ कि बिखरी हुई अवस्था में रहे हुए कर्मों को आत्मा से सम्बन्धित अवस्था वाले बना देना। (2) उदीरणोपक्रम—विपाक अर्थात् फल देने का समय नहीं होने पर भी कर्मो का फल भोगने के लिये प्रयत्न विशेष से उन्हें उदय—अवस्था में प्रवेश करना उदीरणा है। उदीरणा के प्रारंभ का नाम है उदीरणोपक्रम। (3) उपशमनोपक्रम—कर्म उदय, उदीरणा, निधत्तकरण और निकाचना करण के आयोग्य हो जाएं इस प्रकार उनकी स्थापना करना उपशमना है और इसका आरंभ उपशमनोपक्रम है। इसमें आवर्तन, उदवर्तन और संक्रमण—ये तीन करण होते हैं। (4) विपरिणामनोपक्रम—सत्ता, उदय, क्षय, क्षयोपशम, उर्द्वतना, अपवर्तना आदि द्वारा कर्मों के परिणाम को बदल देना विपरिणामना है जिससे कर्म एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदल जाते हैं। इस उपक्रम के प्रारंभ को विपरिणामनोपक्रम कहते हैं। इन उपक्रमों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अपने योग्य पुरुषार्थ से कर्मों के मूल बंधानुसार नियत फल भोग, उदय उदीरणा तथा अवस्था तक में परिवर्तन कर सकती है। इस का अभिप्राय यही है कि यद्यपि एक बार बंध जाने पर कर्म अपना फल देते ही हैं, फिर भी आत्मा उनके फल देने के पहले ही धर्माराधना के बल पर उनके प्रभाव को मन्दतर बना सकती है। आत्म पुरुषार्थ कभी भी निरूपयोगी नहीं होता।

इसी आत्म पुरुषार्थ के बल पर कर्मो का संक्रमण (संक्रम) भी किया जा सकता है। आत्मा जिस प्रकृति का कर्म बंध कर रही है, उसी विपाक में

पुरुषार्थ विशेष से दूसरी प्रकृति के कर्म पुद्गलों को परिणत करना संक्रमण कहलाता है। इससे बंधे हुए कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप बन जाते हैं। यह चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश।

आत्म पुरुषार्थ से सभी श्रेणियों के कर्म बंध में परिवर्तन लाया जा सकता है किंतु इसकी एक ही श्रेणी अपवाद रूप है और वह है निकाचित कर्मों की श्रेणी। निकाचित कर्म उन्हें कहते हैं जिनका फल कर्म बंध के अनुसार ही निश्चय रूप से भोगा जाता है और जिन्हें बिना भोगे आत्मा का छुटकारा नहीं होता है। निकाचित कर्म में कोई भी कारण नहीं होता। ये आत्मा के साथ प्रगाढ़ता से सम्बन्धित हो जाते हैं।

बंध से लेकर कर्म की चार अवस्थाएं बताई गई हैं :– (1) बंध—मिथ्यात्व आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिल जाना बंध कहलाता है। (2) उदय—उदय काल याने फल देने का समय आने पर कर्मों के शुभा–शुभ फल देने को उदय कहते हैं। (3) उदीरणा—आबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्म दलिक (समूह) पीछे से उदय में आने वाले हैं, उनको पुरुषार्थ विशेष से खींच कर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। (4) सत्ता—बंधे हुए कर्मो का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाता है।

कर्म अथवा कर्म के कारण होने वाले भव का अन्त करना अन्तक्रिया है। यों तो अन्तक्रिया एक ही स्वरूप वाली होती है किन्तु सामग्री के भेद से चार प्रकार की बताई गई है। (1) पहली अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, प्रचुर संयम, संवर और समाधि की साधना करती है तथा तपाराधन, शुभ ध्यान आदि से लम्बी दीक्षा पाल कर निर्वाण को प्राप्त हो जाती है। उसे उपसर्ग जनित घोर वेदना नहीं सहनी पड़ती हैं और घोर तप भी नहीं करना पड़ता है। (2) दूसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, किन्तु महाकर्मो को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना भी सहती है। इस प्रकार की आत्मा थोड़ी ही दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध हो जाती है। (3) तीसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली तथा दीर्घ दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है किन्तु

महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना सहती है। फिर वह दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध होती है। (4) चौथी अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली तथा अल्प दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है परन्तु वह न तो घोर तप करती है, न ही घोर वेदना सहती है, बल्कि वह अल्प दीक्षा पर्याय पाल कर ही सिद्ध हो जाती है।

कर्म क्षय के लिये दो बातें आवश्यक है—(1) नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा (2) संचित कर्मों का नाश करना। नवीन कर्मों का आगमन संवर से रुक जाता है तो संचित कर्मों के विनाश के लिये तपाराधन करना चाहिये (तप का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय में किया गया है।)

कर्म क्षय के क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ एवं पराक्रम द्वारा क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब तेरहवें गुणस्थान (गुणस्थानों का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय में मिलेगा) में पहुंचती है, उस समय उसके चार घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। आत्मा के मूल गुणों की घात करने वाले होने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म घाती कर्म कहे जाते हैं। इनमें पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है तब उसके बाद तीनों कर्मों का एक साथ क्षय होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा के ज्ञान—गुण पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है। यह आवरण पूर्णतया हटते ही आत्मा अनन्त ज्ञान वाली बन जाती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा का अनन्त दर्शन रूप गुण प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने से आत्मा में अनन्त चारित्र प्रकट हो जाता है एवं अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा में अनन्त शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य—ये जो आत्मा के चार मूल गुण हैं, वे इन चार घनघाती कर्मों के क्षय हो जाने पर पूर्णतः प्रकट हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान केवल उनके शुभ कर्मो मात्र एक समय के लिये ही बन्धते हैं।

आगामी चरण कर्म क्षय से कर्म मुक्ति का होता है। चौदहवें गुणस्थान में आत्मा योगों की प्रवृत्ति को भी रोक देती है। उस समय न मन कुछ सोचता है, न वचन कुछ बोलता है तथा न काया में कोई हलचल होती है। इस प्रकार योग निरोध हो जाने से कर्मों का आगमन सर्वथा रुक जाता है। साथ में बाकी बचे चार अघाती कर्म—वेदनीय, नाम, गौत्र तथा आयुष्य भी विनष्ट हो जाते हैं और आत्मा कर्म मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। मुक्ति का अर्थ यही है कि कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना। चार अघाती कर्मों के क्षय

हो जाने से सिद्धात्मा में उसके चार गुण प्रकट होते हैं। वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त या अव्याबाध सुख, नाम कर्म के क्षय से अरूपी स्वरूप, गौत्र कर्म के क्षय से अगुरु लघुत्व तथा आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा को अजरामरता प्राप्त हो जाती है।

संसार में जन्म मरण का कारण कर्म हैं। कर्मों को सर्वथा क्षय कर देना ही इस जन्म मरण के चक्र से छूट जाना है अर्थात् कर्म मुक्ति ही मोक्ष है। मुक्त हो जाने पर आत्मा पुनः संसार में नहीं आती— सदा काल के लिये आठ गुणों से संयुक्त बन कर सिद्धावस्था में ज्योति रूप बन जाती है।

कर्म बंध, कर्म क्षय एवं कर्म मुक्ति के इस विश्लेषण से मैं समझ गया हूं कि कर्म मुक्ति ही मेरा अन्तिम ध्येय है। अतः कर्म मुक्ति के लिये कर्म बंध को अवरुद्ध करना तथा कर्म क्षय हेतु धर्माराधना करना मेरे पुरुषार्थ का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है। इस ध्येय के प्रति नियोजित होने वाला पुरुषार्थ ही आत्मा का सत्पुरुषार्थ कहलाता है। मेरा प्रथम प्रयास हो कि मैं सत्पुरुषार्थी बनूं।

'मैं' में समाहित सर्वहित

मेरी आन्तरिक अभिलाषा बन गई है कि संसार के सभी प्राणी सुखी हों, निरापद बनें और इस अभिलाषा की पूर्ति में मैं किसी भी प्राणी के प्राण को दुःख न दूं तथा जो मुझे किसी भी प्रकार से दुःख पहुंचावे, उसे मैं शान्तिपूर्वक सहन करूं व उसके प्रति रंच मात्र भी द्वेष भाव न लाऊं। फिर मैं दूसरे प्राणियों के दुःखों को देखकर दयाभाव से ओतप्रोत बन जाऊं तथा उसके दुःखों को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करूं, उन्हें सुखी बनाने के कार्य करूं। सर्वकल्याण की मेरी यह भावना मेरे स्वकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर देगी, क्योंकि सर्वहित में 'मैं' भी समाहित हो जाता हूं।

वस्तुतः मेरी आत्म साधना सर्वहित की साधना बन जाती है। मेरा जीवन अहिंसापूर्ण बनता है, इसका सीधा प्रभाव मेरे सम्पर्क में आने वाले प्राणियों पर पड़ता है कि वे मेरी ओर से संभावित हिंसा के प्रहारों से बच जाते हैं। मेरे ही समान जब अधिकाधिक आत्माएं इस प्रकार की साधना में प्रवृत्त होती हैं तो अनेकानेक प्राणी आशंकित दुःखों से रक्षित होकर वे भी अहिंसा को अपने जीवन में स्थान देने लगते हैं जिसके कारण समूचे सामाजिक वातावरण में अहिंसा, निर्भयता एवं पारस्परिक सौहार्द्रता का संचार होता है। मैं असत्य के आचरण से विरत होता हूं तो मेरे असत्य प्रयोग से दुःखी बन सकने वाले प्राणी सुरक्षित हो जाते हैं। इसी प्रकार मेरा अचौर्य व्रत अनेक

प्राणियों के शोषण एवं संत्रास को रोक देता है तो मेरा ब्रह्मचर्य व्रत सारे समाज को सादगी की प्रेरणा देता है। संज्ञा पंचेन्द्रिय जीवों की श्वास भी रोक देता है। मैं जब अपरिग्रही बनता हूं तो निश्चय मानिये कि मेरे येन केन प्रकारेण परिग्रह अर्जन एवं संचय के प्रभाव से मुक्त होकर अनेक प्राणी राग द्वेष की विवर्जनाओं से बच जाते हैं और अपने भाव–परिणामों को विशुद्ध बनाने का अवसर पाते हैं। धार्मिकता से युक्त मेरी प्रत्येक क्रिया मेरी आत्मशुद्धि के साथ अन्य प्राणियों को निर्भीक एवं सदाशयी बनाती है। उनके उस आचरण परिवर्तन से समग्र समाज में एक प्रकार का उत्थानकारी धरातल तैयार होता है जिस पर वे प्राणी भी अपने पग बढ़ाने का सत्प्रयास करते हैं जो सामान्य वातावरण में अपनी चेतना को जागृत नहीं बना सकते थे।

समाज और व्यक्ति के अभिन्न सम्बन्धों की मार्मिकता को समझते हुए मैं जानता हूं कि यहां समाज में एक व्यक्ति अपने घर–परिवार ग्राम–समाज, राष्ट्र और विश्व में रहता है जहां प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अन्य व्यक्तियों एवं प्राणियों के सम्पर्क में आता है। इस दृष्टि से वह अन्य प्राणियों को अपने आचरण से प्रभावित करता है तो दूसरों के आचरण से यत्किंचित् रूप में स्वयं भी प्रभावित होता है। यह पारस्परिक प्रभाव मन, वाणी और कर्म के माध्यम से पड़ता है। कौन बाहर के प्रभाव से कितना ग्रहण करता है अथवा कि कौन अपने प्रभाव को बाहर कितने विस्तार से छोड़ता है—यह व्यक्तिगत आत्म विकास पर निर्भर करता है। समझिये कि एक अन्य व्यक्ति ने मेरे प्रति दुर्भावना बनाई, फिर कुवचन मुझे कहे और मेरे पर आघात करने की चेष्टा की, उस समय यदि मेरे मन, वाणी और कर्म में दुर्बलता होगी तो मेरी वृत्तियां भी तुच्छ बन जायेगी और उसकी तरह मैं भी हीन प्रवृत्तियों में लग जाऊंगा। इसके विपरीत यदि मेरा मन, मेरा वचन और मेरा कर्म सधा हुआ होगा तो मैं उसके समूचे व्यवहार को इस धैर्य और शान्ति से सह लूंगा कि वह स्वयं अपने व्यवहार पर लज्जित होकर उसमें शुभ परिवर्तन लाने का संकल्प कर लेगा।

इस रूप में व्यक्ति–व्यक्ति अपना सत्प्रयास करें तो सारे समाज के सभी व्यक्तियों के आचरण में धीरे–धीरे ही सही, किन्तु एक शुभ परिवर्तन ला सकते हैं। इस प्रयास को ही लोक कल्याण की संज्ञा दी जाती है, वरन् वह है स्व–कल्याण का ही सत्प्रयास । स्व जब प्राभाविक बनता है तो वह दूसरों को भी प्रभावित बनाता है। सर्व हित की रूपरेखा इसी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयासों के आधार पर बनती, फूलती और फलती है। इसी दृष्टि से मेरे हित में सर्वहित समाहित होता है तो सर्वहित में स्वहित समाहित रहता है।

सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि

कर्म क्षय की राह पर आगे बढ़ते हुए मैं यही चिन्तन करता हूँ कि सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि का वातावरण प्रसारित होता रहे। सब हर जगह और हर समय सच्चे सुख और शान्त समाधि के शोधक बन जायें। जब मैं चाहता हूँ कि सब शोधक बना जाये तो पहले मेरा स्वयं का शोधक बनना तो आवश्यक है ही। इसलिए मैंने अपने मन, अपने वचन तथा अपने कर्म की समूची तुच्छता और हीनमन्यता को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारंभ कर दिया है। मेरी तुच्छता मिटेगी और हृदय में उदारता व्याप्त होगी तो मुझे आन्तरिक सुख मिलेगा—मेरी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ समाधि ग्रहण करेंगी। सुख और समाधि मुझे मिलेगी तो वह मेरे भीतर ही बन्द थोड़े ही रहेगी—उस की आनन्द लहरें बाहर भी लहरायेगी और अन्य प्राणियों को भी स्पर्श—सुख देगी। मेरी साधना की गूढ़ता के साथ ये आनन्द लहरें आगे से आगे बढ़ती ही जायेगी और फैलती ही जायेंगी।

मेरे मन का सुख, मन की समाधि में परिणत होता जायेगा। मन की समाधि यह होगी कि मैं किसी एक श्रेष्ठ उद्देश्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करूंगा और उसी के स्व—समीक्षण में लम्बे समय तक अपने मन को लगाये रखूंगा—वह होगी मेरी चित्त समाधि और मन में कुछ भी नहीं सोचते हुए मन के योग व्यापार को परिपूर्ण नियंत्रण की अवस्था में रखूंगा जो मेरी मध्यम चित समाधि होगी और उत्कृष्ट चित्त समाधि के लिए शुक्ल ध्यान के अग्रिम दो चरणों के अनुरूप साधना का स्वरूप बनाऊंगा। इस योगाभ्यास से कई सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु मैं उनके प्रलोभन में नहीं पड़ते हुए अपने आत्म—विकास की महायात्रा में निरन्तर प्रगतिशील बना रहूंगा।

सर्वदा और सर्वत्र प्रवर्तित रहने वाली समाधि—अवस्था तक पहुँचने के लिए मैं ऐहिक और पारलौकिक फल की इच्छा न रखते हुए तप करूंगा, प्राणियों का आरंभ समारंभ नहीं करूंगा तथा धर्माराधना हेतु शुद्ध संयम का पालन करूंगा। ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथ पैर और काया को वश में करके उन्हें किसी तरह से दुःख नहीं दूंगा तथा दूसरे द्वारा बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण नहीं करूंगा। मैं श्रुत धर्म और चारित्र धर्म को यथार्थ रूप से कहूंगा, वीतराग देवों की आज्ञा में निःशंक बनूंगा एवं समस्त प्राणियों को अपने समान मानूंगा। मैं विवेक और समाधि में रहते हुए अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करूंगा तथा प्राणातिपात आदि पापों से पूर्णतया निवृत्त होऊंगा। मैं समस्त संसार को समभाव से

देखूंगा—न कोई मेरा प्रिय होगा, न अप्रिय। परिषह एवं उपसर्ग आने पर अथवा अपनी पूजा एवं प्रशंसा के अवसरों पर संयम में मैं अविचल रहूंगा। असत्य के त्याग को मैं सम्पूर्ण समाधि और मोक्ष का मार्ग मानकर सत्य की आराधना करूंगा। मैं न विषय विकार के लिए जीने की इच्छा रखूंगा, न दुःख से घबराकर मरने की, बल्कि शरीर पर भी ममत्व को त्याग कर सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर विचरूंगा।

यही नहीं, मैं सर्वविरति साधु अवस्था को दीपाते हुए पंडित मरण की अभिलाषा रखूंगा। विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि तथा आचार समाधि का आनन्द लेकर मेरी आत्मा में इतनी विशुद्धता व्याप्त हो जायेगी कि अपने इस जीवन के अन्त में मरण को सुधार कर सारे जीवन और आगामी भव को भी वह सुधार लेगी। विनय समाधि से मैं जितेन्द्रिय बनूंगा। श्रुत समाधि से ज्ञान प्राप्ति के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए, विवेक पूर्वक धर्म में दृढ़ता प्राप्त करने के लिए तथा स्वयं स्थिर होकर दूसरों को धर्म में स्थिर करने के लिए मैं स्वाध्यायी बनूंगा। तप समाधि की दृष्टि से मैं न इस लोक के फल के लिए, न परलोक के फल के लिए और न कीर्ति, वाद, प्रशंसा या यश के लिए तप करूंगा, बल्कि मात्र निर्जरा के लिए ही तप करूंगा। मेरी आचार समाधि का उद्देश्य भी आश्रव निरोध और कर्म क्षय ही होगा। मैं मानता हूँ कि मन, वचन और काया से शुद्ध बन कर जो व्यक्ति संयम में अपनी आत्मा को सुस्थिर बनाता है और चारों प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है, वह अपना तथा सबका विपुल हित करता है एवं अनन्त सुख देने वाले कल्याण रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

यह मैं मान गया हूँ कि जिसको सम्यक् समाधि जीवन में और सम्यक् समाधि मरण में हो, वह जीवन धन्य हो जाता है। मैं भी ऐसे ही धन्य जीवन की आकांक्षा रखता हूँ।

'एगे आया' की दिव्य शोभा

ऐसा सम्यक् समाधिमय जीवन और मरण ही 'एगे आया' (एकात्मा) की दिव्य शोभा का प्रतीक होता है। एकात्मता का अर्थ है सभी आत्माओं की समानता। जो निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायों को प्राप्त होता है, वह आत्मा है एवं सभी आत्माओं का ज्ञान, उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण एक है अतः 'एगे आया' का सम्बोधन किया गया है।

मेरा विचार है कि यह सम्बोधन अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बोधन में न केवल संसार की समस्त आत्माएँ सम्मिलित है, अपि सिद्ध आत्माएँ भी

सम्मिलित हैं। चैतन्य गुण सभी आत्माओं का है। गुण की दृष्टि से सभी बद्ध एवं बुद्ध आत्माओं में एकरूपता है। न्यूनाधिक विकास की दृष्टि से पर्याय भेद होता है किन्तु पर्याय भेद से स्वरूप भेद नहीं होता। इस दृष्टिकोण की महत्ता इस सत्य में समाहित है कि संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा अपने अष्ट कर्मों को क्षय करके परमात्मा बनती है। आत्मा ही परमात्मा बनती है जिसका मूल सन्देश यह है कि परमात्मा अर्थात् मुक्त ईश्वर बनने का सामर्थ्य मेरी अपनी आत्मा और संसारी आत्माओं में रहा हुआ है। यह सन्देश ही संसारी आत्माओं के लिए पुरुषार्थ का प्रबल प्रेरणा स्रोत है कि ईश्वरत्व इस आत्मा से ऊपर कोई शक्ति नहीं है। इसलिए मेरे मन में यह उत्साह समा जाता है कि मूल स्वरूप से मैं भी ईश्वर हूं और ईश्वर बन सकता हूँ, काश कि ईश्वर बनने का मेरा आत्म–पुरुषार्थ पूर्ण रूप से सफल बन जाय। आत्मा अलग है और ईश्वर अलग है—ऐसा जो मानते हैं, वे आत्म–पुरुषार्थ का द्वार ही बंद कर देते हैं और आत्म–विकास की भावना को हताशा में डुबो देते हैं। यदि यह विचार जम जाय कि मैं सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता तो मैं निराश हो जाऊंगा कि मैं कोई भी शक्ति अर्जित नहीं कर सकूंगा। अतः आत्मा से परमात्मा बनने की धारणा ही वास्तविक धारणा है जो संसारी आत्माओं को समाधिस्थ होने की प्रेरणा देती है कि यह समाधि ईश्वरत्व की पूर्ण समाधि में परिवर्तित हो सकती है और जो प्राप्ति हो सकती है, उसके लिए ही सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देने की उमंग सदा बनी रहती है। यही पुरुषार्थ को प्रबल बनाये रखने का प्रगतिशील पाथेय है।

प्रबल पुरुषार्थ की भावना ही मुझे और सभी प्राणियों को परस्पर एक समझने तथा एकरूप बनने की निष्ठा जगाती है। यही एकात्मता शिक्षा देती है कि परम धर्म रूप अहिंसा को अपने जीवन की समग्र वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में गहराई से रमा लो—इतनी गहराई से कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल प्राणी ही उसकी अहिंसा के रक्षा क्षेत्र में न हों बल्कि पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि, वनस्पति आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव भी अहिंसात्मक आचरण से सुरक्षित बन जाय। मैं इसीलिये संयम में सुस्थिर होकर सफल साधु जीवन की आकांक्षा रखता हूँ कि जिस जीवन में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हिंसा न करने न करवाने और न करते हुए को अनुमोदन देने तथा सभी जीवों को अभयदान देने का महाव्रत लिया हुआ होता है। सभी छः काया के जीवों का संरक्षण ही 'एगे आया' का विराट् रूप है— उसकी दिव्य शोभा है।

यह विराट् रूप और दिव्य शोभा मेरे अन्तर्मन में रम कर एक रूप हो जाय तभी मैं अपना समस्त जीवन लोक कल्याण में विसर्जित कर सकता हूँ।

यह विसर्जन ही अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण कहलायेगा। यह भी मैं मानता हूँ कि जो अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण बना लेता है, वही सत्य का साक्षात्कार भी कर सकता है। मैं मानता हूँ कि आत्मविकास की इस महायात्रा में यदि पूर्ण अहिंसामय आचरण परिपुष्ट बन जाता है तो पूर्ण सत्य का प्रकाश भी उस जीवन में खिल उठता है। सभी सिद्धान्तों को एक शब्द में यदि गूँथना चाहें तो वह है अहिंसा। अहिंसा अपनी आत्मा के प्रति कि वह कहीं भी हिंसक न हो और संरक्षक बनी रहे तथा अहिंसा संसार की समस्त आत्माओं के प्रति जो अहिंसा का रसास्वादन करके निर्भय बनें और सत्य शोधक बनें।

मैं देखता हूँ कि इसीलिए अहिंसा सम्पूर्ण धार्मिकता की सिरमौर है—परम धर्म है। अहिंसा का ही विधि रूप है दया, अनुकम्पा और करुणा। यही कारण है कि मेरे सुदेवों (वीतराग देवों) ने और सुगुरुओं (निर्ग्रंथ मुनि) ने दयामय धर्म को ही 'सुधर्म' कहा है। कौन प्रबुद्ध और सहृदय ऐसा व्यक्ति होगा, जो ऐसे सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में अपनी सम्पूर्ण आस्था को प्रतिष्ठित करना नहीं चाहेगा ? ये तीनों तत्त्व जहाँ आस्था के मूल बन जाते हैं, वहाँ 'एगे आया' की निष्ठा भी सुदृढ़ बन जाती हैं और व्यक्ति स्व–पर कल्याण को अपना चरम लक्ष्य मानकर तदनुकूल पुरुषार्थमय साधना में संलग्न हो जाता है।

'एगे आया' की इस दिव्य शोभा को मैं मेरे भीतर अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरुषार्थ करूं—यह प्रश्न मेरे हृदय में उठता है। मेरी इस जिज्ञासा का समाधान आप्त वचनों में मिल जाता है कि मैं कुछ ऐसी साधना करूँ कि वीतराग, अरिहंत और तीर्थंकर बन सकूं। तीर्थंकर वे जो लोक–कल्याण के सर्व प्राणीहितकारी कार्य करते हैं तथा सर्वात्माओं के उत्थानकारी उपदेश प्रदान करके चार तीर्थों की स्थापना करते हैं। आत्मा के तरण–स्थल को तीर्थ कहते हैं और तीर्थो की छाया में प्रत्येक आत्मा को ऊर्ध्वगामिता प्राप्त होती है। ये तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका—जो व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक तीर्थ होते हैं। अहिंसा आदि की साधना में जो अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर देती है। वही आत्मा साधना के उत्कर्ष के बल पर अनंतज्ञानादि की अभिव्यक्ति पाती हुई भव्य आत्माओं के लिए तीर्थ रूप तारक बन जाती है। गुणमय चतुर्विध तीर्थो की स्थापना करने से ही ये महापुरुष तीर्थकर कहलाते हैं। तीर्थकर इसी कारण महानतम माने जाते हैं कि वे अरिहन्त (करमनाशक) बन कर वीतराग (राग द्वेष नाशक) तो होते ही

हैं किन्तु लोक कल्याण के शिखर पर विराजमान होकर तीर्थंकरत्व भी धारण करते हैं। वे सर्वहित में समाहित हो जाते हैं। सर्वहित में समाहित हो जाने वाले महापुरुष ही सर्वोच्च कहे जाते हैं।

तो मैं अपने अन्तःकरण में आकांक्षा रखता हूँ कि मैं भी तीर्थंकर बनूं और मेरी यह आकांक्षा पुरुषार्थमय उत्साह से परिपूरित है। आकांक्षा रखने से ही कोई भी आकांक्षा सफल नहीं हो जाती है अपितु उसके योग्य पुरुषार्थ करने की अपेक्षा रहती है। मैं आशावान् हूँ कि मेरी आकांक्षा सफल हो सकती है और इसी कारण मैं परम पुरुषार्थी भी होना चाहता हूँ। मेरे सुदेवों ने मुझे भी सुदेव बन जाने का मार्ग दिखा रखा है और मैं उसी पर चल कर अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करना चाहता हूँ। मैं निम्नानुसार पुरुषार्थ कर सकूं तो मैं भी तीर्थंकर बन सकता हूँ :

(1) मैं उन अरिहन्त भगवान् के गुणों की नित स्तुति करूं और उनकी विनय भक्ति करूं, जिन्होंने चार घनघाती कर्मों का नाश कर दिया और जो अनन्त ज्ञान–दर्शनादि से सम्पन्न बन इन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय बन गये।

(2) मैं उन सिद्ध भगवान् का भी गुणग्राम करूं और उनकी विनय भक्ति करूं जो सकल कर्मों के नष्ट हो जाने से कृतकृत्य हो गये, परम सुख एवं ज्ञान–दर्शन में लीन बन गये तथा लोकाग्र स्थित सिद्ध शिला से ऊपर ज्योति रूप विराजमान हो गये।

(3) मैं विनय भक्ति पूर्वक प्रवचन का ज्ञान सीखूँ और उसकी आराधनां करूं तथा प्रवचन के ज्ञाता पुरुषों की विनय भक्ति करूं, उनका गुणोत्कीर्तन करूं तथा उनकी आशातना टालूं। बारह अंगों (आगमों) के ज्ञान को प्रवचन कहते हैं तथा उपचार से प्रवचन ज्ञान के धारक संघ को भी प्रवचन कहते हैं।

(4) मैं धर्मोपदेशक गुरु महाराज की बहुमान भक्ति करूं, उनके गुण प्रकाश में लाऊं एवं आहार, वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करूं।

(5) मैं स्थविर महाराज के गुणों की स्तुति करूं, उनकी वन्दनादि रूप से भक्ति करूं तथा प्रासुक आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं। जाति, श्रुत और दीक्षा पर्याय के भेद से स्थविर (1) वयः स्थविर (आयुवृद्ध) (2) सूत्र स्थविर (ज्ञानवृद्ध) तथा (3) प्रव्रज्या स्थविर (दीक्षावृद्ध) रूप से तीन प्रकार के होते हैं।

(6) मैं बहुश्रुत मुनियों की वन्दना–नमस्कार रूप भक्ति करूं, उनके गुणों की श्लाघा करूं, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं तथा उनके अवर्णवाद या उनकी आशातना का परिहार करूं। प्रभूत श्रुतज्ञानधारी मुनि को बहुश्रुत कहते हैं जो सूत्र–बहुश्रुत, अर्थ–बहुश्रुत या उभय बहुश्रुत होते हैं।

(7) मैं तपस्वी साधुओं की विनय भक्ति करूं, उनके गुणों की सराहना करूं, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं एवं उनके अवर्णवाद व उनकी आशातना का परिहार करूं। तपस्वी मुनिराज वे जो अनशन–ऊणोदरी आदि छः बाह्य तपों तथा प्रायश्चित–विनय आदि छः आभ्यन्तर तपों की कठोर आराधना करते हैं।

(8) मैं निरन्तर ज्ञान में अपना उपयोग बनाये रखूं।

(9) मैं निरतिचार (बिना अतिचार लगाये) शुद्ध सम्यक्त्व धारण करूं।

(10) मैं ज्ञान आदि का यथायोग्य विनय करूं।

(11) मैं भावपूर्वक शुद्ध आवश्यक प्रतिक्रमण आदि कर्त्तव्यों का पालन करूं।

(12) मैं निरतिचार शील और व्रत अर्थात् मूल गुण एवं उत्तर गुणों का पालन करूं।

(13) मैं सदा संवेग भावना एवं शुभ ध्यान का सेवन करता रहूं।

(14) मैं यथाशक्ति बाह्य एवं आभ्यंतर तपों की आराधना करता रहूं।

(15) मैं सुपात्र को साधुजनोचित प्रासुक अशन आदि का दान दूं।

(16) मैं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, सह–धार्मिक, कुल, गण, संघ की भक्तिभावपूर्वक वैयावृत्त्य करूं जो इस प्रकार हो सकती है कि मैं आहार लाकर दूं, पानी लाकर दूं, आसन लाकर दूं, उपकरण की प्रतिलेखना करूं, पैर पूंजू, वस्त्र दूं, औषधि दूं, मार्ग में सहायता दूं, दुष्ट, चोर आदि से रक्षा करूं, उपाश्रय में प्रवेश करते हुए ग्लान या वृद्ध साधु की लकड़ी लूं, तथा उनके उच्चार, प्रश्रवण एवं श्लेष्म के लिये पात्र दूं।

(17) मैं गुरु आदि का कार्य–सम्पादन करूं तथा उनके मन को प्रसन्न रखूं।

(18) मैं नवीन ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करता रहूं।

(19) मैं श्रुत की भक्ति और बहुमान करूं।

(20) मैं देशना द्वारा प्रवचन की प्रभावना करूं।

ये बीस बोल (बातें) हैं जिनकी मैं जितनी गहराई से साधना कर सकूं करूं तो मैं आशा रख सकता हूँ कि इस साधना के फलस्वरूप मैं भी कभी तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकूंगा। यह तीर्थंकर पद 'एगे आया' की दिव्य शोभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। मेरा लक्ष्य तो सर्वकर्म मुक्त सिद्धावस्था पाना है।

चौथा सूत्र और मेरा संकल्प

मैं सुज्ञ हूँ इसलिए अपने और सबके कल्याण का सुमार्ग जानता हूँ और मैं संवेदनशील हूँ अतः दयामय हूँ–किसी के दुःख को देख नहीं सकता तो भला अपनी ही आत्मा के दुःखों को क्या मैं देख सकूंगा ? और जब मैं उन्हें देखूंगा तो मुझे लगेगा कि मेरे अपने मानस वचन और कर्म की तुच्छता से बढ़कर मेरे लिये और क्या दुःख हो सकता है ? मेरी सुज्ञता और मेरी संवेदनशीलता मुझे अनुप्राणित करती है कि मैं अपनी जड़ग्रस्तता के स्वरूप और उसके कारणों की खोज करूं। यह खोज मुझे बताती है कि यह सारी जड़ग्रस्तता मुझे अष्ट कर्मों से बांधती है तो फिर ये बंधे हुए अष्ट कर्म मेरे भीतर अज्ञान एवं अविवेक की मौजूदगी से मेरी जड़ग्रस्तता को बढ़ाते ही रहते हैं तथा मेरी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को अधिकाधिक तुच्छ व हीन बनाते रहते हैं।

यह तुच्छता और हीनमन्यता ही मेरी सबसे बड़ी आन्तरिक दुर्बलता बन जाती है जिसकी वजह से मेरी दृष्टि विकृत बनकर अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को ही नहीं देख पाती है, मेरा ज्ञान मेरे दमित पुरुषार्थ को जगा नहीं पाता है एवं मेरा उपयोग अपने ही विकारग्रस्त स्वरूप की गहरी परतों को भेद नहीं पाता है। इसलिये मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कर्म की तुच्छता को मूल से मिटा देने का कठिन पुरुषार्थ करूंगा और यह पुरुषार्थ होगा शुभ कर्मों के बंध से लेकर सम्पूर्ण कर्म क्षय तक का और मेरे इस पुरुषार्थ का अवलम्बन होगा वह दयामय सुधर्म जो अन्तःकरण को करुणा से आप्लावित करता हुआ समस्त विश्व को दयामय बना देने की क्षमता रखता है।

सुमर्यादित रहकर मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं ऐसे दयामय धर्म की आराधना करूंगा। लोक कल्याण से अपनी महानता का निर्माण करूंगा तथा 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

अध्याय छः

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 5

मैं समदर्शी हूँ, ज्योतिर्मय हूँ !

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ–कहाँ घूमता है,

वचन कैसा–कैसा निकलता है और

काया किधर–किधर बहकती है ?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अंधकार की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख–सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय–कषायों में उलझकर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य–अप्रिय तथा कर्म कितना विद्रूप–अधर्ममय हो गया है ? मैं दृढ़ संकल्प के साथ मन, वचन एवं काया के योगों को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूंगा तथा भावनाओं के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूंगा।

पांचवां सूत्र

मैं समदर्शी हूँ क्योंकि समदर्शिता मेरी आत्मा का मूल गुण है। मेरी यह समदर्शिता मेरे समभाव से उपजती है और समतामय बन कर पूर्णता प्राप्त करती है। मैं जब समग्र विश्व को समभाव से देखता हूँ, तब मेरी समदृष्टि होती है। समभाव और समदृष्टि एकमेक होकर जब मेरे प्रत्येक कर्म में समाविष्ट हो जाते हैं तब मेरा समूचा जीवन समता से ओतप्रोत बन जाता है। तब मैं न किसी को ऊँचा देखता हूँ, न किसी को नीचा। मैं न किसी का प्रिय करता हूँ, न किसी का अप्रिय। मैं तब अपने पराये के भेद से परे हो जाता हूँ। मेरी समदर्शिता मुझे निरपेक्ष आत्म–दृष्टा बना देती है।

मैं समदर्शी हूँ क्योंकि मैं सुज्ञ हुआ और संवेदनशील बना। मैं सबको अपना मानने लगा और मैंने अपना अपनत्व सबमें घोल दिया। सब मेरे और मैं सबका हो गया। स्व तथा पर के प्रति मेरी अभिन्न दृष्टि बन गई। मैं समदर्शी हो गया एवं स्वरूप को जान गया तथा उस पर श्रद्धावंत बन गया।

मैं समदर्शी हूँ इसलिए सबको–समस्त जीवों को समान भाव से देखता हूँ। सबको देखता हूँ तो अपने को भी देखता हूँ अपनी आत्मा को भी देखता हूँ। अपनी ही आत्मा के मूल गुणों को भी देखता हूँ तो उसके विकारों को भी देखता हूँ। जब मैं अपनी ही आत्मा के मूल गुणों को देखता हूँ और अपनी समदर्शिता का रसास्वदन करता हूँ, तब अनुभूति लेता हूँ कि मेरे अन्तःकरण में अमृत ही अमृत भरा हुआ है–ऐसा अमृत जो मुझे ही अमर नहीं बना देगा अपितु जहाँ–जहाँ वह झरेगा, वहाँ–वहाँ अमरता की अमर बेल को सींचता चलेगा। अमृत झरता है तो अमिट शान्ति का झरना बह निकलता है और उस झरने के शीतल जल का जो भी स्पर्श पा जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

एक समदर्शी महात्मा थे। वे पाद विहार से एक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक खुली जगह में कई पुरुष, कई स्त्रियां और कई बालक आश्रयहीन होकर भयंकर शीत से ठिठुरते हुए बैठे थे। उनका हृदय अनुकम्पा

से भर उठा। वे उनके पास तक चले गये और बोले—क्या आप लोग निराश्रित हैं ? हाँ महाराज, इसलिये ही तो यहाँ हैं—उन्होंने उत्तर दिया। महात्मा को क्या सूझा सो उन्होंने कह दिया—आओ, सभी मेरे साथ चलो। वे आगे हो गये और पीछे भीड़। चलते हुए वे सीधे राजमहल में पहुँच गये। महात्मा आये हैं—यह देखकर राजा ने उनका स्वागत किया किन्तु पीछे आम आदमियों की भीड़ को देखकर झुंझला उठा। वह धैर्य न रख सका और बोल पड़ा— आप पधारे सो श्रेष्ठ, किन्तु इन नीच लोगों को अपने साथ यहाँ कहाँ ले आये हैं ? यह मेरा राजमहल है, यहाँ मेरी महारानियाँ रहती हैं, मेरे राजकुमार और मेरी राजकुमारियां रहती हैं। इन्हें मेरे यहाँ राजमहल के भीतर तक लाकर आपने शोभनीय कार्य नहीं किया है। महात्मा शान्त भाव से बोले—तुम्हारा विचार समीचीन नहीं है कि यहाँ सब कुछ तुम्हारा ही है। तुम भी यहाँ रह रहे हो, ये लोग भी रह लेंगे। यहाँ बहुत स्थान है—निराश्रित देखकर ही मैं इन्हें यहाँ ले आया हूँ। राजा की भौंहें तन गई, चेहरा लाल होने लगा और उसके विद्रूप से वचन निकले—महात्मन्, शायद आपने अपना विवेक खो दिया है, तभी तो ऐसी अनर्गल बात कह रहे हैं!

महात्मा का शान्त भाव और गहरा हो गया। वे स्नेह से भी भर उठे, कहने लगे—राजन्, ये लोग भी दुःखी थे और तुम भी दुःखी हो। मुझसे किसी का दुःख नहीं देखा जाता—इसीलिए कह रहा हूँ और तुम इसे अनर्गल बताते हो। राजा कुपित हो उठा—मेरे इस वैभव को देखकर भी आप कहने की हिम्मत कर रहे हैं कि मैं दुःखी हूँ। हाँ राजा, क्या वैभव है तुम्हारा ? धर्मशाला में ही तो रह रहे हो न ? महात्मा की यह बात सुनकर तो राजा आपे से बाहर हो गया— आप हद से बाहर जा रहे हैं जो मेरे राजमहल को धर्मशाला बता रहे हैं।

महात्मा तो समदर्शी थे, राजा को भी यथार्थ रूप में सुखी बनाना चाहते थे उसको उसकी ममत्त्व—मूर्छा से दूर हटाकर। बोले—अच्छा, राजन् तुम यहाँ कितने वर्षों से रह रहे हो ? राजा बोला—जन्म हुआ तब से। महात्मा ने पूछा—तुम कितने वर्ष के हो ? राजा ने कहा—पैंतीस वर्ष का। महात्मा पूछते गये—तुम्हारे पिता कब स्वर्ग सिधारे ? दस वर्ष पहले। तुम्हारे दादा कब स्वर्ग सिधारे ? साठ वर्ष पूर्व। तुम्हारे जन्म से पहले यहाँ कौन रहता था ? मेरे पिता रहते थे। उनके पहले कौन रहता था ? मेरे दादा रहते थे। तुम्हारे स्वर्ग सिधार जाने के बाद यहाँ कौन रहेगा ? मेरा राजकुमार रहेगा। तब महात्मा ने बात के मर्म को पकड़ा व कहा—तब तुम कैसे कहते हो कि यह

राजमहल तुम्हारा है ? तुम्हारे पिता, पिता के पिता, पिता के पिता और कई लोग रहते आये हैं और यहाँ तुम्हारे राजकुमार, के राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार और कई लोग रहते रहेंगे—फिर यह राजमहल ही कहाँ रहा ? धर्मशाला नहीं हो गया क्या ? धर्मशाला में क्या होता है—एक आता है और एक जाता है। आने जाने के क्रम से ही धर्मशाला बनती है और धर्मशाला किसी की अपनी नहीं होती—फिर यह राजमहल तुम्हारा ही कैसे हैं ? ये लोग भी यहाँ क्यों नहीं रह सकते हैं ? जैसे इस धर्मशाला में तुम अपने परिवार सहित रहते हो, वैसे ये लोग भी रह लेंगे।

राजा सुनता रहा, सुनता रहा। उसे कुछ उत्तर देते नहीं बना। महात्मा की समदर्शिता उसकी दृष्टि में उतरने लगी। उसके भीतर के कपाट खुल गये। वह भाव विह्वल होकर महात्मा के चरणों पर लोट गया, झरते आंसुओं से बोला—महात्मन्, आपने मेरी बंद आंखें खोल दी है। मैं अंधा था और यह सब कुछ जो मेरा नहीं है, मेरा मानकर मूर्छाग्रस्त हो रहा था। अब मुझमें और इन लोगों में भेद नहीं है। इन्हें यहीं रहने की आज्ञा दे दीजिये महात्मन्, और आप भी यहीं विराजिये ताकि मेरी आंखें फिर से बन्द न हो। मैं समदर्शिता की प्रकाश किरण देख चुका हूँ।

मैं समदर्शी हूँ महात्मा के समान कि मुझे राजा और रंक एक समान दिखाई देते हैं। मैं समदर्शी बनता हूँ राजा के समान कि समदर्शिता का अमृत अहर्निश पीता रहूँ। मैं मिट्टी को सोना समझूं और सोने को मिट्टी के समान मानूं। ममत्त्व से ऊपर उठ कर मैं प्रत्येक आत्मा में अपनी ही आत्मा के दर्शन करूं।

मैं समदर्शी हूँ, तभी तो मैं ज्योतिर्मय हूँ। मेरी समता मुझे भीतर बाहर से एक अनूठे आलोक से आलोकित कर देती है। मैं ज्योतिर्मय हो जाता हूँ या यों कहूँ कि मेरे लिये समग्र विश्व ही ज्योतिर्मय हो जाता है। मुझे कहीं भी अंधकार दिखाई नहीं देता—न भीतर, न बाहर। प्रकाश ही प्रकाश फैला है अन्तरंगता में और बहिरंगता में। यह प्रकाश ही मेरा पथ है और पाथेय भी। यह प्रकाश मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं, मैं ही हूँ। मैं ही ज्योतिर्मय हूँ क्योंकि सम्पूर्ण रूप से ज्योति में विगलित होकर एक दिन मात्र ज्योतिर्मय हो जाने वाला हूँ।

मैं ज्योतिर्मय हूँ—मुझे अपने भीतर जगमगाती हुई ज्योति को प्रकटित करनी ही है और इसलिए समदर्शी भी होना ही है। और समदर्शी होना है तो समभावी बनना है तथा समभावी बनना है तो अपने मन, वचन व शरीर को

विषय–कषायों के अशुभ योग व्यापार से बाहर निकालना ही होगा तथा अपने मन, वचन एवं कर्म को समता से आप्लावित बना कर एक रूप करना ही होगा।

भौतिक सुखों की कामनाएँ

राजा की तरह मानव को भी महात्मा का संसर्ग–बोध मिलेगा जब मिलेगा। लेकिन अभी तो वह स्वयं राजा बना हुआ है और वह सोचता है यह कि भवन मेरा अपना है, कौन इसमें प्रवेश करने का साहस कर सकता है ? मैं उसे सबक सिखा दूंगा। इसकी सम्पत्ति मेरी अपनी है– मैंने अर्जित की है—कोई इसे छू कर देखे। यह परिवार, यह पत्नी, ये पुत्र पुत्री मेरे अपने हैं– इनके सुख में ही तो मेरा सुख रहा हुआ है। और मेरा यह सुभग शरीर–इसे मैं किसी भी तरह कष्टित नहीं करना चाहता। इसी विचार धारा में वह आगे विचार करता है कि वह सब मेरे अपनों के लिए सुख–सामग्री चाहिये– सुविधा चाहिये। सामान्य सुविधा नहीं, भव्य सुविधा, संसार में उपलब्ध अधिक से अधिक ऊँची सुविधा। इन सुविधाओं के बारे में भी, प्राप्त मेरे लिये नगण्य हो जाती है और प्राप्य का क्षेत्र अति विस्तृत बन जाता है क्योंकि मेरी कामनाएँ अपार है। जो चारों ओर दिखाई देता है, मेरा मन करता है कि यह भी हो, वह भी हो और जो कल्पना लोक में ही घूमती हैं, वे सुविधाएँ भी मुझे मिलें। बाह्य संसार में जितना भौतिक सुख और वैभव है, वह सब मुझे प्राप्त हो जाय। मेरी इच्छाओं का, मेरी कामनाओं का अन्तिम छोर मुझे कहीं भी दिखाई नहीं देता।

वह सोचता है कि मुझे धन चाहिये—अपार धन चाहिये। मुझे सत्ता चाहिये—अखंडित सत्ता चाहिये। लोग मुझे उच्च मानें, मेरे वर्चस्व को अपने सिर–माथे स्वीकारें और दिक्–दिगन्त में मेरी यशःकीर्ति की पताका फहरावें। उसे इस संसार के भौतिक सुख कितने चाहिये–इसका उसको खुद को अनुमान नहीं। जो प्राप्त होता जाता है, उसे भूलता रहता है। और प्राप्य के लिये भाग दौड़ करता है। इस भाग दौड़ का कहीं अन्त नहीं है। लाभ बढ़ता है लोभ बढ़ता है और ये लोभ–लाभ बढ़कर मुझे ममत्त्व की मूर्छा में सुलाते रहते हैं। मैं संज्ञाहीन सा बनकर समझ भी नहीं पाता हूँ कि मेरा मन कहाँ–कहाँ घूमता है, वचन कैसा–कैसा निकलता है और काया किधर–किधर बहकती है ?

इतना ही नहीं, भौतिक सुखों की ये कामनाएँ मन में रात दिन चिन्ता रूपी ज्वालाएँ जलाये रखती हैं। कहाँ से कितना अधिक प्राप्त कर सकूँ—यही

धुन सवार रहती है। भौतिक सुखों के संदर्भ में मुझे इस संसार में दो प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। एक तो वह वर्ग है कुछ लोगों का, जिनके पास अतुल वैभव, अबाध सत्ता और विपुल भोग–सामग्री विद्यमान है, फिर भी उन लोगों की तृष्णा थमी नहीं है। वे अपनी सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियों के जोर से अधिक से अधिक अर्जित करते चले जाना चाहते हैं इस हकीकत का बिना खयाल किये कि उनकी वह सक्रिय तृष्णा कितने लोगों के जीवन को भारी आघात पहुँचा रही है। कुछ लोगों का यह वर्ग भौतिकता में मदमस्त बना हुआ है। कई लोगों का दूसरा ऐसा वर्ग है जो आर्थिकं रूप से अति अभावग्रस्त है—जीवन निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ तक इन लोगों को प्राप्त नहीं है। एक तो वे अपने ही अभाव से दुःखी हैं तो दूसरे, सम्पन्न वर्ग के विलासी जीवन को देखते हुए सामाजिक विषमता से भी दुःखी हैं। यह अभावग्रस्त वर्ग अपनी अनुभव कटुता एवं विचार विश्रंखलता में कई बार अपना सन्तुलन खो बैठता है क्योंकि इन लोगों की भौतिक कामनाएँ भी उद्दाम हो जाती है। अपवाद दोनों वर्गों में मिलेंगे, किन्तु अधिकांशतः दोनों ही वर्गो में अनैतिकता फैलती हुई दिखाई देगी। एक प्रकार से वर्तमान की आर्थिक विषमता भी भौतिक सुखों के लिये अभावग्रस्त या सम्पन्न, दोनों वर्गों की कामनाओं को भयंकर रूप से भड़काती है। यदि समाज में फैली आर्थिक विषमता मिटे और समानता का वातावरण बने तो नैतिकता एवं धार्मिकता की कई समस्याएँ भी सुन्दर समाधान पा सकती हैं।

परिग्रह की परिभाषा करते हुए मैंने अनुभव किया था कि एक व्यक्ति बिना परिग्रह रखे हुए भी परिग्रही या परिग्रहवादी हो सकता है तथा दूसरा व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रह रखकर भी अनासक्तता के कारण अपरिग्रही या अपरिग्रहवादी जैसा हो सकता है। परिग्रह का भाव रूप अर्थ–विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जो ममत्त्व के रूप में माना गया है। ममत्त्व का सम्बन्ध धन रूप परिग्रह से भी अधिक भावना के साथ होता है। परिग्रह नहीं है, अभावग्रस्त स्थिति है फिर भी अगर हाय–हाय लगी हुई है तो ममत्त्व की मार से परम दुःखी रहेगा। किन्तु आज दुरावस्था ऐसी है कि सम्पन्नों में से भी अधिकांश तथा अभावग्रस्तों में से भी अधिकांश लोग ममत्त्व की मार से दुःखी बन कर येन केन प्रकारेण परिग्रह, अर्थ के उपार्जन की अंधी दौड़ में बेभान भागे जा रहे हैं। वे यह भी नहीं सोच पाते कि जो अगणित कामनाएँ उन्होंने पाल रखी हैं या वे पालते हुए चले जा रहे हैं, क्या वे पूरी होने लायक भी हैं अथवा क्या उनका सारा श्रम उनकी पूर्ति कर लेने में समर्थ है ? शान्त

चित्त से वे इतना भी सोच लें तब भी कामनाओं के बोझ और तनाव को वे घटा सकते हैं। इतने–से चिन्तन के बाद तो वे अहिंसामय आचरण के लिये भी जागरूकता ग्रहण कर सकते हैं कि वे अपने उपार्जन का अधिक संचय न होने दें बल्कि अधिक का संविभाग करते रहें।

किन्तु मैं देखता हूँ कि भौतिक सुखों की कामनाओं के पीछे अधिकांश व्यक्ति सत्ता और सम्पत्ति के उपार्जन में बुद्धि और विवेक को तिलांजलि देकर मानो पागलों जैसी क्रियाएँ कर रहे हैं। अर्थ उनके माथे चढ़ गया है और वे भूत से अभिभूत बने जैसे भाग रहे हैं।

विषयान्ध इन्द्रियों का जाल

मैं सोचता हूँ कि मानव की अर्थोपार्जन की ऐसी अंधी दौड़ आखिर क्यों चल रही है ? क्या होगा अधिक से अधिक अर्थ उपार्जित और संचित कर लेने के बाद ? अर्थ के मामले को लेकर समझदार मनुष्य भी अपना सन्तुलन क्यों खो देता है ?

मैं विचार करता हूँ कि अर्थोपार्जन की अँधता का प्रधान कारण है इन्द्रिय सुख। निर्वाह की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तक के अर्थोपार्जन को तो छोड़ दें और उससे नीचे के वर्ग की दुर्दशा को भी एक बार अलग कर दें, किन्तु उन लोगों के लिये सोचें जो निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक और बहुत अधिक अर्जन करते हैं। क्या उद्देश्य होता है उनके अधिक से अधिक अर्थोपार्जन का ? यही कि अपनी पांचों इन्द्रियों के विभिन्न विषयों को अधिक से अधिक विलास सामग्री के साथ भोगें। यह विषयान्ध इन्द्रियों का ही जाल होता है कि मनुष्य परिग्रही और परिग्रहवादी बनता है तथा ममत्त्व के जटिल बन्धनों से स्वयं ही बंध जाता है।

ये इन्द्रियां कैसी और कितनी होती हैं तथा ये अपने किन–किन विषयों रमणस्थलों में भ्रमण करती हैं–इसकी जानकारी मानव को होनी चाहिये, तभी इनके स्वरूप को समझ कर इन्हें उन स्थलों से हटा सकें जहां इन्हें रमण नहीं करना चाहिये तथा उन स्थलों पर नियोजित किया जाय जहाँ इन्हें रमण करना चाहिये।

ये इन्द्रियाँ शरीर की अंगभूत होती है, जिसमें आत्मा निवास करती है। चूंकि आत्मा सर्व वस्तुओं का ज्ञान करने वाली तथा भोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न क्षमता वाली होने से इन्द्र कहलाती है, इसके इन अंगों को इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियाँ आत्मा द्वारा इष्ट, रचित, सेवित और प्रदत्त होती हैं। अतः

इन्द्रियाँ शरीर के उन साधनों को कहेंगे जो सर्दी, गर्मी, काला, नीला, गरम, ठंडा आदि विषयों का ज्ञान करती है, तथा जो अंगोपांग व निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं।

ये इन्द्रियाँ पांच प्रकार की होती हैं।

(1) श्रोत्रेन्द्रिय—जिसके द्वारा जीव, अजीव तथा मिश्र शब्द का ज्ञान होता है।

(2) चक्षुरिन्द्रिय—जिसके द्वारा पांच प्रकार के वर्णो का ज्ञान किया जाता है।

(3) घ्राणेन्द्रिय—जिसके द्वारा आत्मा सुगंध और दुर्गंध को जानती हैं।

(4) रसनेन्द्रिय—जिसके द्वारा पांच प्रकार के रसों का ज्ञान किया जाता है।

(5) स्पर्शेन्द्रिय—जिसके द्वारा आठ प्रकार के स्पर्शो का ज्ञान होता है।

इन पांच प्रकार की इन्द्रियों की विशेष प्रकार की बनावट को संस्थान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। इन्द्रियों का बाह्य संस्थान भिन्न—भिन्न जीवों के भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है—सभी के इन्द्रियों का बाहरी आकार एक—सा नहीं होता हैं किन्तु इन्द्रियों का आभ्यन्तर संस्थान सभी जीवों का एक—सा होता है। इसलिये इन्द्रियों के आभ्यंतर संस्थान का रूप इस प्रकार होता है—(1) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का संस्थान कदम्ब के फूल जैसा होता है। (2) चक्षुरिन्द्रिय (आंखें) का संस्थान मसूर के दाल जैसा। (3) घ्राणेन्द्रिय (नाक) का आकार अति मुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा। (4) रसनेन्द्रिय (जीभ) का संस्थान खुरपे जैसा तथा (5) स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) का आकार अनेक प्रकार का होता है।

अनभिज्ञ मनुष्य ही काम—परायण होते हैं, क्योंकि काम जीवन की समस्त शक्तियों का विनाशक होता है। इन्द्रिय—जन्य उपभोग की कामना करना सत्व रूप काम है तो शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श का भोग करना द्रव्य काम कहलाता है। काम मूलतः दो प्रकार का कहा गया है—(अ) असम्प्राप्त अर्थात् वैचारिक, जो दस प्रकार से उत्पन्न होता है—(आ) सम्प्राप्त अर्थात् मैथुनिक जो चौदह प्रकार से भोगा जाता है—

इसी प्रकार काम वेग दस प्रकार के परिणामों में प्रकट होता है—(1) चिन्ता भोग सम्बन्धी सोच विचार में पड़े रहना (2) दर्शनेच्छा—स्त्री मुख को देखते रहने की कामना करना (3) दीर्घ निश्वास—भोग पूर्ति न होने पर अथवा

भोग चिन्ता में निराशापूर्ण श्वास लेना (4) ज्वर–काम ताप से पीड़ित हो जाना (5) दाह–काम ताप से बुरी तरह जलना। (6) भोजन अरुचि–शारीरिक पीड़ा से भोजन में अरुचि पैदा हो जाना (7) महामूर्छा–अचेतनावस्था के दौरे पड़ना या अचेतनावस्था बनी रहना (8) उन्मत्तता–पागलपन के दौरे उठना। (9) प्राणों में सन्देह बार–बार मरणवत् स्थिति का बन जाना तथा (10) मरण–दयनीय दिशा में मृत्यु हो जाना।

एक कामी पुरुष का इस रूप में आरंभ और अन्त होता है। आरंभ उसे भोगने में बड़ा मधुर महसूस होता है किन्तु ऐसा कटुक अन्त सहते हुए भी उससे सहा नहीं जाता है। अत्यन्त मूर्छा भावों में उसका मरण परम दुःखदायी हो जाता है। यह समझने की आवश्यकता है कि ऐसे घोर दुःख देने वाले भीषण परिणाम युक्त इन पांचों इन्द्रियों के विषय और विकार क्या और किस रूप के होते हैं जो मनुष्य को लुभाकर उसका दुःखद अन्त कर देते हैं।

पांच इन्द्रियों का विषय परिमाण भी इस प्रकार बताया गया है–(1) श्रोत्रेन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट बारह योजन से आये हुए शब्दान्तर और वायु आदि से अप्रतिहत शक्ति वाले शब्द पुद्गलों को विषम करती है। यह इन्द्रिय कान में प्रविष्ठ शब्दों को स्पर्श करती हुई ही जानती है। (2) चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ दूरी पर रहे हुए अव्यवहित रूप को देखती है। यह अप्राप्यकारी है। इसलिये रूप का अस्पर्श करके उसका ज्ञान करती है। (3–5) घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय–ये तीनों इन्द्रियाँ जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट नव योजन से प्राप्त अव्यवहित विषयों को स्पर्श करती हुई जानती हैं। इन्द्रियों का यह जो विषम परिमाण है उसे आत्मागुल से जानना चाहिये।

इन पांचों इन्द्रियों के काम–गुण होते हैं क्रमशः शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। ये पांचों काम अर्थात् अभिलाषा उत्पन्न करने वाले गुण होते हैं। इन पांचों विषयों को प्रमाद जनित माना गया है। शब्द, रूप आदि पांचों विषयों में आसक्त प्राणी विषाद आदि को प्राप्त होते हैं अतः इन्हें विषय का नाम दिया गया है। शब्द, रूप आदि विषय भोग के समय मधुर होने से तथा परिणाम में अति कटुक होने से विष से उपमित किये जाने के कारण भी विषय कहलाते हैं। इस विषय प्रमाद से व्याकुल चित्त वाला जीव हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, इसलिये इन इन्द्रियों के माध्यम से अकृत्य का सेवन करता हुआ वह चिर काल तक संसार के दुःखों में परिभ्रमण करता रहता

है। पांचों प्रकार के विषयों में आसक्त प्राणियों में क्रमशः हिरण, पतंगा, भंवरा, मछली तथा हाथी के दृष्टान्त दिये जाते हैं, जो अपने इन्द्रिय–विषयों में इतनी गहराई से डूब जाते हैं कि उन्हें अपने प्राणान्त तक का भान नहीं होता। उसी प्रकार पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव भी विषय का उपभोग करते हुए कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता है। विषय भोग में प्रवृत्त रहने से विषयेच्छा शान्त न होकर उसी प्रकार बढ़ती जाती है जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से उसकी ज्वालाएं बढ़ती जाती हैं। विषय भोग में अति आसक्ति वाले जीव के दुःख तो इसी जीवन में देखने को मिल जाते हैं और वैसा जीव परलोक में भी नरक एवं तिर्यंच योनियों के महादुःख भोगता है। इसलिये विषय भोगों से निवृत्ति लेने तथा विषयान्ध इन्द्रियों के मोह जाल को तोड़ देने को ही कल्याणकारी कहा गया है।

पांचों इन्द्रियों के तेईस विषय तथा दो सौ चालीस विकार माने गये हैं– (अ) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय–(1) जीव शब्द, (2) अजीव शब्द तथा (3) मिश्र शब्द। विकार–कुल बारह–तीनों प्रकार के शब्दों की शुभता और अशुभता से छः तथा छः पर राग और छः पर द्वेष होने से बारह। (ब) चक्षुरिन्द्रिय के विषय (1) काला (2) नीला (3) पीला (4) लाल और (5) सफेद। विकार कुल साठ–पांचों विषयों के सचित्त, अचित्त तथा मिश्र के भेद से पन्द्रह और पन्द्रह अपनी शुभता व अशुभता से तीस तथा राग और द्वेष से साठ। (स) घ्राणेन्द्रिय के विषय–(1) सुगंध एवं (2) दुर्गंध। विकार बारह–दोनों के सचित्त, अचित्त एवं मिश्र के भेद से छः तथा इन पर राग और द्वेष से बारह। (द) रसनेन्द्रिय के विषय–(1) तीखा (2) कडुआ (3) कषैला (4) खट्टा और (5) मीठा। विकार साठ–पांचों विषयों के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप से पन्द्रह तथा पन्द्रह अपनी शुभता और अशुभता से तीस तथा तीस पर राग और द्वेष से साठ हुए। (य) स्पर्शेन्द्रिय के विषय– (1) कर्कश (2) मृदु (3) लघु (4) गुरु (5) स्निग्ध (6) रूक्ष (7) शीत और (8) ऊष्ण। विकार छियान्वे–आठ विषयों के सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से चौबीस तथा चौबीस अपनी शुभता और अशुभता से अड़तालीस तथा राग और द्वेष से छियान्वे। इस प्रकार सब मिलकर 240 विकार हुए।

मैं उपरोक्त विश्लेषण की कुछ गहराई में उतरना चाहता हूं। पांचों इन्द्रियों के जो अपने अपने विषय हैं, उन्हें ग्रहण करना उनका स्वभाव है और इसे सामान्य स्थिति ही मानेंगे। जैसे कि आंख का विषय है रंगों को देखना। जो रंग उनके सामने आवेंगे, वे उनके दृष्टि पथ से गुजरेंगे। जहां तक समक्ष

आये हुए दृश्य पटलों का आंखों के दृष्टि पथ से सामान्य रीति से गुजरने का सवाल है, वहां तक कोई बुराई की बात नहीं है। बुराई वहां से पैदा होती है जहां से आसक्ति शुरू होती है। कल्पना करें कि आंखों के सामने कोई सुन्दर रूप आया, उसे एक तो आंखों ने स्वभावगत सामान्य रीति से देख लिया और वे अप्रभावित—सी रही और दूसरे, आंखों ने उस सुन्दर रूप को देखा, देखते रहने की कामना जागी और देखकर व्यामोह—सा होने लगा—आकर्षण पैदा हो गया तो समझें कि वह उन आंखों का आसक्ति भाव है। यह आसक्ति मन्द होगी तो आंखें उसे देखती हुई कुछ तृप्ति या कुछ अतृप्ति लेकर आगे बढ़ जायेगी। यदि वह उग्र होगी तो वह वचन में उतर सकती है या काया के हाव—भाव में भी उतर सकती है। वैसी आसक्ति कोमल व्यवहार से अपनी कामना पूर्ति कर सकती है अथवा क्रूर व जघन्य रूप भी धारण कर सकती है। इस आसक्ति के उग्र रूप कई प्रकार के हो सकते हैं।

तो मैं मानता हूं कि इन्द्रियों के विषय इतने मुख्य नहीं, जितने उनमें आसक्ति के भाव मुख्य होते हैं। और यह आसक्ति मन का विषय बन जाती है। मन को जब बल मिलता है तो ये इन्द्रियाँ अपने—अपने विषयों का सेवन करने में अंधी और बावली हो जाती है। यह अंधापन और बावलापन अधःपतन की कितनी नीची हद तक पहुंच सकता है—इसके दृश्य संसार में चारों ओर नजर में आते रहते हैं। इन्द्रियों का यह अंधापन और बावलापन दो तरीकों से फूटता हैं। एक तो आंखों के सामने सुन्दर रूप आता है तब फूटता है और दूसरा जब आंखों के सामने इतना असुन्दर रूप आ जाय कि बरबस घृणा व ग्लानि जाग उठे, तब भी फूटता है। किन्तु इन दोनों तरीकों के फूटने में विपरीत अन्तर होता है। एक अंधापन और बावलापन तो फूटता है राग भाव से तथा दूसरा फूटता है द्वेष भाव से। मनोज्ञ याने मन को भावे ऐसे रूप पर राग जागता है और वह रूप मन को लुभाता है तो अमनोज्ञ याने मन को नहीं भावे ऐसे रूप पर द्वेष भाव से घृणा और ग्लानि जागती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ विपरीत दिशाओं में होती है किन्तु राग और द्वेष दोनों प्रकार की मनःस्थितियों में मन, वचन, काया की अशुभ हलचल होती है। यह अशुभता ही ऊपर विकारों के रूप में वर्णित की गई है।

विषय भोगों का यह अनुभव बाह्य रूप से इन्द्रियाँ करती हैं और उनके माध्यम से मन और आत्मा। भोग भोगने की क्रियाओं का वैचारिक प्रभाव मन और आत्मा पर पड़ता हैं तथा भोग—जन्य सुख अथवा दुःख का अनुभव भी वे ही लेते हैं। जैसे कि किसी का एक बैल किसी दूसरे के खेत में घुस गया

और वह फसल चरने व उजाड़ने लगा, इतने में खेत का मालिक आ गया। इस नाजायज चराई के नतीजे में बैल भी डंडे खा सकता है लेकिन हर्जाने का वजन तो मालिक को ही भुगतना पड़ेगा। अगर किसी का बैल इस तरह उजाड़ करने की कई हरकतें करता रहें तो क्या उसका मालिक चेत नहीं जायगा ? जरूर चेतेगा और बैल के नाथ डालकर उसे अपने नियंत्रण में रखेगा। किन्तु इन्द्रियों का मालिक मन और जीव ऐसी जिम्मेदारी को जल्दी नहीं पकड़ते हैं। इन्द्रियां अपने विषयों में आसक्त बनकर विकारपूर्वक भटकने लगती हैं और सद्गुणों की फसल को उजाड़ने लगती हैं, फिर भी मन जल्दी चेतता नहीं—जीव जल्दी जागता नहीं, बल्कि अधिक बार ऐसा होता है कि मन और आत्मा भी इन्द्रियों के साथ हो जाते हैं एवं उन्हीं के नियंत्रण में उजाड़ व बिगाड़ करने लग जाते हैं। बैलों को काबू में करने की बजाय अगर मालिक ही बैलों के पीछे—पीछे चलने लगे और उनके करने के मुताबिक खुद भी करता जाय तो उस मालिक की दुर्दशा को कौन मिटा सकता है ?

मैं गंभीरतापूर्वक इस परिप्रेक्ष्य में अपनी इन्द्रियों, अपने ही मन और अपनी ही आत्मा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालना चाहता हूं। पहली बात तो यह कि मेरा मन और मेरी आत्मा का नियंत्रण कौशल पूर्णतया दक्ष होना चाहिये जिसके कारण इन्द्रियाँ उस डोर से बंधी रहें नाथ लगे बैल की तरह। ऐसा तभी हो सकता है जब आत्मा का ज्ञान और विवेक पूर्ण रूप से जागृत हो। दूसरी बात यह हो सकती है कि आत्मा और मन का इन्द्रियों पर नियंत्रण अति कुशल न हो किन्तु एक बार उनके भटक जाने पर उन्हें यथाशक्य शीघ्रता से पुनः वहां से लाकर आत्मस्थ बना सके। तीसरी बात आत्मा और मन की सुप्तावस्था की होती है कि वे इन्द्रियों के विकारों को रोक पाने में अक्षम बने रहते हैं, यहां तक तो फिर भी ठीक है कि सोये हुओं को जगा दिया जाये तो फिर विकृति रुक जायेगी। किन्तु जहाँ पर आत्मा और मन भी इन्द्रियों के भटकाव में भटक जाये और परम आसक्ति भाव से मूर्छित बन जाय, तब वह दुरावस्था चिन्तनीय बन जाती है।

आत्मा की ऐसी विदशा पर ही मैं समझता हूं कि वीतराग देवों ने चेतावनियाँ दी हैं कि इच्छा और भोग रूप कामनाओं का नाश करना अति कठिन है। काम भोगों की इच्छा रखने वाली आत्मा उनके प्राप्त न होने पर या उनका वियोग होने पर शोक करती है, खिन्न होती है, मर्यादा भंग करती है, पीड़ित होती है तथा परिताप करती है। काम भोग शल्य रूप है, विष रूप हैं और विषधर सर्प के समान है। काम भोगों का सेवन तो दूर रहा, मात्र

उनकी अभिलाषा करने से ही आत्मा दुर्गति में जाती है। काम भोगों में आसक्ति रखने वाले प्राणी कर्मों का संचय करते हैं तथा अमित कर्मो से बंध कर संसार में परिभ्रमण करते हैं। विष के समान इन भोगों को खूब भोग लेने पर भी अन्त में कटुक, अनिष्ट तथा दुःखदायी परिणाम भोगने पड़ते हैं। विषयाभिलाषी आत्मा विषय सुखों के प्राप्त न होने से न उनके समीप होता है और न विषयाभिलाषा का त्याग करने के कारण वह उनसे दूर ही होता है। शब्द, रूप, गंधादि भोग भोगने पर आत्मा कर्म मल से लिप्त होती है किन्तु अभोगी आत्मा लिप्त नहीं होती हैं। भोगी अथवा भोग की लालसा वाला संसार के दुःखों में डूबा रहता है परन्तु अभोगी संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। जैसे कालकूट विष स्वयं पीने वाले को, उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को और मंत्रादि से वश नहीं किया हुआ बेताल तांत्रिक को मार डालता है, उसी प्रकार शब्द आदि विषय वाला साधु धर्म भी वेशधारी द्रव्य साधु को दुर्गति में ले जाता है। जैसे तृण काष्ठों से अग्नि तृप्त नहीं होती, हजारों नदियों के मिल जाने पर भी लवण समुद्र सन्तुष्ट नहीं बनता, उसी प्रकार काम भोगों से भी इस जीव को कभी तृप्ति नहीं हो सकती है। जो आत्मा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श में राग एवं द्वेष नहीं करती है, वही आत्मा ज्ञान, वेद, आचार, आगम, धर्म और ब्रह्म को जानने वाली होती है।

कषाय विकारों की मलिनता

इन्द्रियाँ जो विषय भोग में रत बनती हैं, अपने पीछे विकृत भावनओं का धुंआ छोड़ती जाती है, वहीं कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को कषाय मलिन बनाती है। कष अर्थात् जन्म मरण रूप संसार की प्राप्ति जिन विकारपूर्ण वृत्तियों के कारण हो, वे कषाय वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये वृत्तियाँ कषाय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं। यह कषाय सम्यक्त्व, श्रावकत्व, साधुत्त्व तथा यथाख्यात चारित्र को नष्ट करने वाली होती है।

यह मेरा अनुभव है कि जब इन्द्रियाँ काम भोगों की प्राप्ति की तरफ उन्मुख बनती हैं तो वे उसकी विकृत छाप विचारों पर अवश्य छोड़ती हैं और जब वे काम भोगों में प्रवृत्त होती हैं व लिप्त बनती है तो उस रूप में विकार विचारों को—वृत्तियों को ढालते हैं। यदि किसी के पास काम भोग सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है तो उसके मन—मानस पर अहंकार छा जायगा। यदि उसकी उस उपलब्ध सामग्री को कोई छीनना चाहेगा तो वह क्रोध से भर उठेगा। उपलब्ध सामग्री को संचित करते रहने की वृत्ति उसे लालची बनायेगी तो वह अपने लालच की कपटपूर्ण उपायों से पूर्ति करेगा। आशय

यह है कि काम भोगों की लिप्तता के साथ कषायों की ज्वालाएं धधकती हैं जो आत्मा के चारित्र गुण को भस्म करती रहती हैं।

मूल रूप से इस कषाय के चार प्रकार कहे गये हैं जो प्रत्येक प्रकार की कषाय के साथ सम्बन्धित होते हैं—(1) अनन्तानुबंधी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व तक की घात कर देता है तथा जीवन पर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति के योग्य कर्मों का बंध करता है। (2) अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प त्यागप्रत्याख्यान भी नहीं होता है। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बनी रह सकती है और इससे तिर्यंच गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। (3) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। यह कषाय चार मास तक बनी रह सकती है और इसके उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्मो का बंध होता है। (4) संज्वलन—जो कषाय परिषह या उपसर्ग के आ जाने पर मुनियों तक को भी थोड़ा—सा जलाती है। यह हल्की सी कषाय सबसे ऊंचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुंचाती है। यह कषाय एक पक्ष तक बनी रह सकती है तथा इससे देवगति के योग्य कर्मो का बंध होता है। उपर्युक्त कषायों की स्थिति तथा गति का जो उल्लेख किया गया है, वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्योंकि इसके अपवाद रूप उदाहरण भी पाये जाते हैं।

प्रज्वलनशील क्रोध

कषाय के चार भेद किये गये हैं—(1) क्रोध—कृत्य—अकृत्य के विवेक को हटाने वाले प्रज्वलन स्वरूप आत्म परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश जीव किसी की भी बात को सहन नहीं करता है और बिना विचारे अपने व पराये अनिष्ट के लिये हृदय के भीतर और बाहर जलता रहता है। क्रोधी समभाव को भूल जाता है और आक्रोश में भर कर दूसरों पर रोष करता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से आत्मगुणों का क्षय, विवेक शून्यता तथा सूक्ष्मनाड़ी तंत्र का नाश होता है। क्रोध से मानसिक, वैचारिक, वैयक्तिक, शारीरिक, नैतिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कई प्रकार की असहिष्णुताएं जन्म ले लेती हैं। यह क्रोधाग्नि पहले स्वयं को जलाती है और फिर दूसरे को जलाती हुई स्व—पर दाहक बनती है।

क्रोध इन कारणों से उत्पन्न हो सकता है—(1) दुर्वचन से (2) स्वार्थ या कामपूर्ति में बाधा पड़ने से (3) अनुचित प्रतीत होने वाले व्यवहार से (4) भ्रम से या (5) विचार अथवा रुचि भेद से। क्रोध से उत्पन्न दोष इस रूप में हो सकते हैं—(1) दुस्साहसी बनना (2) चुगली करना (3) वैर बांधना (4) जलन रखना (5) दोष देखना, ढूंढना और आरोपण करना (6) दुष्ट ध्यान में रत रहना (7) कठोर वचन उच्चरित करना तथा (8) क्रूर व्यवहार करना।

क्रोध के चार प्रकार बताये गये हैं—(1) आभोग निवर्तित—पुष्ट कारण होने पर यह सोचकर कि ऐसा किये बिना सामने वाले को शिक्षा नहीं मिलेगी— जो क्रोध किया जाता है वह उस का आभोग निवर्तित प्रकार है। यह क्रोध क्रोध के विपाक को जानते हुए किया जाता है। (2) अनाभोग निवर्तित— जब कोई यों ही गुण दोष का विचार किये बिना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका वह क्रोध अनाभोग निवर्तित होता है। (3) उपशान्त—जो क्रोध सत्ता (अस्तित्व) में तो हो लेकिन उदयावस्था में न हो, उसे उपशान्त क्रोध कहते हैं। (4) अनुपशान्त—जो क्रोध उदयावस्था में आ जाय, वह अनुपशान्त क्रोध कहलाता है।

क्रोध की उत्पत्ति के भी चार प्रकार कहे गये हैं—(1) आत्म प्रतिष्ठित जो अपने आप में ही क्रोध करता रहे। अपने पर ही क्रोध आवे और अपने को ही भीतर जलाता रहे। (2) पर प्रतिष्ठित—जो क्रोध दूसरे के कारण आवे और दूसरे पर बरसे। (3) उभय प्रतिष्ठित—जिस क्रोध का कारण और ठहराव अपने और दूसरे दोनों के निमित्त से हो। (4) अप्रतिष्ठित—जो क्रोध बिना किसी निमित्त के ही भड़क उठे।

कषाय के मूल प्रकारों के समान क्रोध के भी चार प्रकार इस रूप में बताये गये हैं : (1) अनन्तानुबंधी क्रोध—पर्वत के फट जाने पर जो दरार पड़ जाती है। जैसे उस दरार का मिलना कठिन होता है, वैसे ही इस प्रकार का क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता है। (2) अप्रत्याख्यानवरण क्रोध—सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरारें पड़ जाती हैं किन्तु जब वर्षा होती है, तब वह फिर से मिल जाती है। वैसे ही इस प्रकार का क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है। (3) प्रत्याख्यानावरण क्रोध—बालू में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है। (4) संज्वलन क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर जैसे खिंचने के साथ ही मिट

जाती है, वैसे ही किसी कारण से उदय में आया हुआ इस प्रकार का क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

मूलतः क्रोध आत्मा के शुभ परिणामों का नाश करता है। वह सर्वप्रथम अपने स्वामी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका विपरीत रूप अविवेक आकर जीव को अकार्य में प्रवृत्त करता है। क्रोध सदाचार को भी दूर करता है और मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्ति करने को प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिर काल तक आराधित यम, नियम, तप आदि को पल भर में भस्म कर देती है। दोनों लोक बिगाड़ने वाला पापमय और स्व–पर का उपकार करने वाला यह क्रोध वास्तव में प्राणियों का महान् शत्रु है।

प्रमुख रूप से क्रोध को शान्त करने का एक ही उपाय है और वह है क्षमा। क्षमाभाव के आविर्भाव से शान्ति प्राप्त होती है और शान्त रह कर ही क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। क्रोध को तात्कालिक रूप से शान्त करने के लिए इन उपायों का उपयोग किया जा सकता है : (1) क्रोध आते ही एकान्त में चला जावे (2) मौन होकर ध्यान करले (3) क्रोध न करने की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करे तथा प्रायश्चित रूप दंड का संकल्प ले (4) मन व विचार की दिशा बदल कर किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त हो जावे अथवा (5) श्वास–निरोध द्वारा यौगिक क्रिया करे।

विनम्रता विनाशक मान

(2) मान–जाति आदि गुणों में अहंकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश छोटे बड़े के प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता है। मानी व्यक्ति अपने को बड़ा समझने लग जाता है और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्ववश वह दूसरों के गुणों को भी सहन नहीं कर सकता है।

जैसे क्रोध के वश में हो जाने वाला मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता है, वैसे ही मान के वश में हुआ मनुष्य भी शोक–परायण होता है अर्थात् हर समय चिन्तातुर रहता है। मान या मद आठ प्रकार का कहा गया है : (1) जाति मद (2) कुल मद (3) बल मद (4) रूप मद (5) तप मद (6) विद्या मद (7) लाभ मद और (8) ऐश्वर्य मद। इनमें से किसी भी प्रकार का मद या मान करना नीच गौत्र कर्म के बंध का कारण होता है। मान विवेक को नष्ट करता है तथा आत्मा को शील–सदाचार से पतित बना देता है। वह विनय का भी नाश करता है तो विनय के साथ ज्ञान का भी। एक मानी अपने को मान के

माध्यम से ऊँचा बनाना चाहता है लेकिन वह इस तथ्य को नहीं समझ पाता है कि उस से उसके सब कार्य नीच होते हैं।

एक अभिमानी व्यक्ति (1) प्रदर्शन का आग्रही (2) अपमान का प्रतिशोधी (3) अहं का पुजारी (4) स्वयं का प्रशंसक (5) नाममोही (6) दूसरों को नीचा दिखाने की भावना वाला (7) अपनी आन्तरिक शक्तियों को नहीं पहिचानने वाला तथा (8) दूसरों से कुछ भी शिक्षा नहीं लेने वाला बन जाता है। इस वजह से वह इस प्रकार से हानि उठाता है : (1) उसके सद्गुणों का ह्रास होता है (2) उसकी उन्नति में अवरोध पैदा होते रहते हैं (3) उसकी वृत्तियाँ पापों के मूल तक पहुंच जाती हैं (4) उसके आत्म–विकास में बाधाएँ डाली जाती हैं (5) उसको समाज में सहयोग नहीं मिलता है (6) उसका मानी स्वभाव कई प्रकार की आसुरी वृत्तियों का जन्मदाता बन जाता है (7) उसकी ज्ञान प्राप्ति में व्यवधान आते रहते हैं तथा (8) उसके विनय गुण का नाश होता रहता है।

मान कषाय के भी चार प्रकार इस रूप में कहे गये हैं : (1) अनन्तानुबंधी मान–जैसे पत्थर का खंभा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता, वैसे ही जो मान किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सके। (2) अप्रत्याख्यानावरण मान– जिस प्रकार हड्डी अनेक उपायों से नमती है, उसी प्रकार जो मान अनेक उपायों तथा अति परिश्रम से दूर किया जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण मान–जैसे काष्ठ (लकड़ी) तेल वगैरा की मालिश आदि से नम जाता है, वैसे जो मान थोड़े से उपायों से नमाया जा सके तथा (4) संज्वलन मान–जैसे बेंत बिना मेहनत के सहज ही में नम जाती है वैसे जो मान सहज ही छूट जाता है।

जैसे क्रोध के चार प्रकार होते हैं, वैसे ही मान के भी चार प्रकार (1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त तथा (4) अनुपशान्त होते हैं। मान के समानार्थक बारह नाम बताये गये हैं : (1) मान–कषाय (2) मद–हर्ष करना (3) दर्प–घमंड में चूर होना (4) स्तंभ –खंभे की तरह कठोर बने रहना (5) गर्व–अहंकार करना (6) अत्युत्क्रोश–अपने को दूसरों से उत्कृष्ट बताना (7) परपरिवाद–दूसरों की निन्दा करना। (8) उत्कर्ष–अभिमान पूर्वक अपनी समृद्धि प्रकट करना और दूसरे की क्रिया से अपनी क्रिया को उत्कृष्ट बताना (9) अपकर्ष–अपने से दूसरों को तुच्छ बताना (10) उन्नत–विनय को छोड़ देना (11) उन्नाम–वन्दनीय को भी वन्दन नहीं करना। (12) दुर्नाम–बुरी तरह से वन्दन करना।

मायाविनी माया

(3) माया—मन, वचन एवं काया की कुटिलता द्वारा परवंचना करना याने दूसरों के साथ कपटाई, ठगाई या दगा—धोखा करना। ऐसा आत्मा का परिणाम- विशेष माया कहलाती है। माया अज्ञान और अविद्या की जननी तथा अकीर्ति का कारण होती है। यदि माया के साथ तप, संयम आदि के अनुष्ठानों का सेवन किया जाता है तो वह भी नकली सिक्के की तरह असार होता है। वह स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल भी होता है। माया ऐसा शल्य है जो आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देता है क्योंकि व्रती का निःशल्य होना अनिवार्य है। माया इस लोक में तो अपयश देती ही है, परन्तु परलोक में भी दुर्गति देती है। यदि माया कषाय को नष्ट करती है तो वह ऋजुता और सरलता के भाव अपनाने से ही नष्ट हो सकती है।

मायावी याने कपटी पुरुष सदा ही दूसरों का दास होता है क्योंकि दगाबाज सबके सामने दुगुना नमता है। माया सबसे बड़ा भय भी होती है जो गोपनीयता में पैदा होती है, लोभ में पनपती है, मान में अपना उठाव दिखाती है और क्रोध में बाहर प्रकट होती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार गिनाये गये हैं—(1) कपट (2) मायाचार (3) प्रतारणा व वंचना (4) दंभ और आडम्बर (5) कुटिलता और जटिलता (6) दुराव तथा छिपाव आदि। इसी प्रकार माया के विविध रूपों को प्रकट करने वाले इसके समानार्थक चौदह नाम अन्यथा भी गिनाये गये हैं : (1) उपधि—किसी को ठगने के लिए प्रवृत्ति करना (2) निवृत्ति—किसी का आदर सत्कार करके फिर उसके साथ माया करना या एक मायाचार छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना (3) वलय—किसी को अपने माया जाल में फंसाने के लिए मीठे—मीठे वचन बोलना (4) गहन—दूसरों को ठगने के लिये अव्यक्त शब्दों का उच्चारण करना या ऐसे गूढ़ तात्पर्य वाले शब्दों का प्रयोग करना व जाल रचना जो दूसरे की समझ में ही नहीं आवे (5) णूम—मायापूर्वक नीचता का आश्रय लेना (6) कल्क—हिंसाकारी उपायों से दूसरों को ठगना (7) कुरूप—निन्दित रीति से मोह पैदा करके ठगने की प्रवृत्ति करना (8) जिह्मता—कुटिलतापूर्वक ठगने की प्रवृत्ति करना (9) किल्विष—किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति करना (10) आदरणा—(आचरणा) मायाचार से किसी का आदर करना तथा ठगाई के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ करना (11) गूहनता—अपने स्वरूप को छिपाना (12) वंचनता—दूसरों को ठगना (13) प्रतिकुंचनता—सरल भाव से कहे हुए वचन का खंडन करना अथवा उल्टा अर्थ लगाना (14) सातियोग—उत्तम पदार्थ के साथ तुच्छ

पदार्थो की मिलावट करना। इस प्रकार मायावी पुरुष लोगों को रिझाने के लिए कपट करने वाला, महापुरुषों के प्रति स्वभाव से ही कठोरता का व्यवहार करने वाला, बात-बात में नाराज और खुश होने वाला, गृहस्थों की चापलूसी करने वाला, अपनी शक्ति का गोपन करने वाला तथा दूसरों के विद्यमान गुणों को भी ढांकने वाला होता है। वह चोर की तरह सदा सभी कार्यों में शंकाशील बना रहता है तथा कपटाचारी होता है। मूल कषाय की दृष्टि से माया के भी चार भेद कहे गये हैं-(1) अनन्तानुबंधी माया- जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो तथा सरलता रूप में परिणत नहीं हो सके। (2) अप्रत्याख्यानावरण माया-जैसे मेढ़े का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी कठिनाई से सीधा होता है, उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण माया-जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर हवा आदि से मिट जाती है, उसी प्रकार जो माया सरलतापूर्वक दूर हो सके। (4) संज्वलन माया-छीले हुए बांस के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज ही में मिट जाता है, वैसे ही जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जांय।

क्रोध और मान की तरह ही माया के भी चार प्रकार (1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त और (4) अनुपशान्त कहे गये हैं।

जीर्ण न होने वाला लोभ

(4) लोभ-द्रव्य आदि विषयक इच्छा, मूर्छा, ममत्त्व-भाव, तृष्णा एवं असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते हैं। लोभ कषाय सभी तरह के पापों का आश्रय होती है। लोभ के पोषण के लिए लोभी माया का सहारा लेता है। सभी जीवों में जीने की इच्छा प्रबल होती है और सभी मृत्यु से डरते हैं, लेकिन लोभ इसके विपरीत ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति कराता है जिनमें सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति में मर जाता है तो लोभ वृत्ति के परिणाम स्वरूप उसे दुर्गति में भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में उसका यहाँ का सारा शुभ परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि लोभ से लाभ भी हो गया तो उसके भागी अन्य ही होते हैं। लोभी इतना नीच भी बन जाता है कि उसे स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, क्षीण, दुर्बल, अनाथ आदि तक की हत्या करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती है। यों कह सकते हैं कि नरक गति के कारणरूप जितने दोष बताये गये हैं, वे सभी दोष लोभ से प्रकट होते हैं। लोभ को दूर करना है तो उसका एक ही सबल उपाय

है और वह है सन्तोष। इच्छाओं का संयमन करके ही लोभ का परिहार किया जा सकता है।

लोभी मनुष्य सदा ही अर्थपरायण होता है। वह तीन मनोवृत्तियों के चक्र में ही चक्कर काटता रहता है—(1) धन—लाभ की धुन (2) संग्रह और संचय की रट, तथा (3) स्वार्थ परायणता। हकीकत में धन लोभी के अधिकार में नहीं होता, बल्कि वह खुद ही धन के अधिकार में हो जाता है। वह अपने धन के पागलपन के सामने न सम्बन्धी या मित्र के हित को देखता है और न अपने स्वयं के स्वास्थ्य के प्रति ही ध्यान देता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ के ध्यान में वह सब कुछ भुला देता है। वह हमेशा रौद्र ध्यान में पड़ा रहता है और सबसे बैर बढ़ाता रहता है। परस्पर अविश्वास उसका पहला दुर्गुण बन जाता है और अनन्त इच्छाओं के भ्रम जाल में वह अपने जीवन को जीर्ण बना लेता है किन्तु उसका लोभ जीर्ण नहीं बनता।

लोभ के विभिन्न रूप उसके समानार्थक चौदह नामों से प्रकट होते हैं—(1) लोभ—सचित्त अथवा अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना। (2) इच्छा—किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा करना (3) मूर्च्छा—प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर इच्छा बनाये रखना (4) कांक्षा—अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना (5) गृद्धि—प्राप्त वस्तुओं पर आसक्ति भाव बनाना (6) तृष्णा—प्राप्त अर्थ आदि का व्यय न हो ऐसे सोच में पड़े रहना (7) भिध्याविषय भोगों का ध्यान रखना (8) अभिध्याचित्त की चंचलता बनाना (9) कामाशा—इष्ट शब्द रूप आदि की प्राप्ति की कामना करना (10) भोगाशा—इष्ट गंध, रस आदि की प्राप्ति की कामना करना (11) जीविताशा—जीते रहने की कामना करना (12) मरणाशा—विपत्ति के समय मरने की कामना करना (13) नन्दी— वांछित अर्थ की प्राप्ति पर आनन्द मनाना तथा (14) राग—विद्यमान सम्पत्ति पर प्रगाढ़ राग भाव रखना।

क्रोध, मान एवं माया के समान लोभ के भी मूल कषाय रूप से चार भेद हैं— (1) अनन्तानुबंधी लोभ—जैसे किरमची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो। (2) अप्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे बैलगाड़ी के पहिये का कीटा (खंजन) परिश्रम करने पर अति कष्ट पूर्वक छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है वैसे ही जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो। (4) संज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रंग सहज ही छूट जाता है वैसे

ही जो लोभ आसानी से स्वयं दूर हो जाय। लोभ भी चार प्रकार का अन्य कषायों की तरह ही होता है—(1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त तथा (4) अनुपशान्त।

कषाय से मुक्त होना ही मुक्ति

कषायों की मलिनता का विश्लेषण जान कर मुझे आप्त वचन का स्मरण हो आता है कि एक दृष्टि से मुक्ति वास्तव में कषायों से मुक्त हो जाने में ही है। क्रोध आदि कषाय सांसारिकता की जड़ों को सींचते हैं और संसार के रंगों को गाढ़ा बनाते हैं। अपने चारों ओर तथा कई बार स्वयं को देखने पर मेरे यह तथ्य अनुभव में आते हैं कि कषायों के सेवन से परलोक की दुर्गति को एक तरफ रख दें तब भी इस जीवन में ही इसके जो दुखपूर्ण परिणाम सामने आते हैं, वे सामान्य विवेक की रौशनी में भी चौंकाने वाले होते हैं। क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान से विनयभाव की समाप्ति होती है, माया से मित्रता का नाश होता है और लोभ से प्रीति, विनय तथा मित्रता तीनों नष्ट हो जाते हैं।

चारों प्रकार की कषाय को जीतने के भी चार उपाय बताये गये हैं :—

(1) मैं क्रोध को शान्ति और क्षमा द्वारा निष्फल करके दबा दूं और क्षमावृत्ति को अभिवृद्ध बनाते हुए क्रोध को क्षय कर दूं—ऐसा मेरा पुरुषार्थ जागना चाहिये। कारण, मैं जानता हूं कि क्रोध की अधिकता से नरक गति में जाना पड़ता है। इसलिये मैं चौरासी लाख योनियों के सभी जीवों से क्षमा मांगता रहूं, किसी भी जीव के साथ वैर—भाव नहीं रखूं तथा सभी प्राणियों के साथ अपने मैत्री भाव का विस्तार कर लूं। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, सहधार्मिक, कुल और गण के प्रति भी मैं क्रोध आदि कषाय पूर्वक जो व्यवहार करूं, उसके लिये भी मन, वचन और काया से क्षमा चाहूं। मैं नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर पूज्य श्रमण समुदाय से अपने सभी अपराधों के लिये विनयपूर्वक क्षमा मांगूं। धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भाव पूर्वक सभी जीवों से अपने क्रोध—कषाय पूर्ण व्यवहार के लिये क्षमा चाहूं तथा सद्भाव—पूर्वक सभी जीवों के अपराधों को भी क्षमा कर दूं। क्षमा के साथ ही मेरे हृदय में अपूर्व शान्ति का संचार होगा, जिसके कारण उग्र से उग्र हेतु पैदा हो जाने पर भी क्रोध का मेरे ऊपर उग्र प्रभाव नहीं होगा।

(2) मैं मान पर मृदुता एवं कोमल व विनम्र वृत्ति द्वारा विजय प्राप्त करूं। ज्यों ही मान भाव मेरे मन मानस पर आक्रमण करें, मैं अधिक से

अधिक मृदुता एवं विनम्रता ग्रहण कर लूं। मैं विनय को धर्म रूप वृक्ष का मूल मानूं जिसका सर्वोत्तम रस मोक्ष रूप में मिलता है। मैं विनय–साधना से ही पूर्णतः प्रशस्त श्रुत ज्ञान का लाभ ले सकता हूं। मैं जानता हूं कि विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है और जो विनयरहित है, उसको धर्म और तप कहां से हो सकते हैं ? मैं गुरु की आज्ञा पालूं, उनके समीप रहकर सेवा करूं तथा उनके इंगितों व आकारों को भलीभांति समझूं तभी मैं विनीत शिष्य कहला सकता हूं। मैं जानता हूं कि गुरु का वचन नहीं सुनने वाला, कठोर वचन बोलने वाला और दुःशील का आचरण करने वाला शिष्य गुरु को भी क्रोधी बना देता है। इसके विपरीत गुरु की चित्त वृत्ति का अनुसरण करने वाला और अविलम्ब गति से गुरु का कार्य करने वाला विनीत शिष्य तेज स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न करके कोमल बना देता है।

मैं आप्त वचनों को स्मरण करके प्रतिपल विनय भाव से ओतप्रोत रहना चाहता हूं ताकि किसी भी रूप में मान का आविर्भाव न हो सके। क्योंकि अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है तथा विनीत को सम्पति प्राप्त होती है–जो ये दो बातें जान लेता है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान पुरुष अहंकार के दुष्प्रभाव को तथा विनय के महात्म्य को समझकर विनम्र बनता है। लोक में उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का आधार रूप होता है जैसे कि पृथ्वी प्राणियों के लिये आधार रूप होती है। मान का परिहार करके तथा विनय को धारण करके ही मैं तिर्यंच गति को टाल सकता हूं। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काम विनय और लोकोपचार विनय के रूप में मैं अपने सम्पूर्ण आचरण को विनय–भाव से आलोकित बनालूं।

(3) मैं ऋजुता और सरलता की भावनाओं से माया रूप कषाय का मर्दन करूं, जिस से कुटिलता मेरे भीतर प्रवेश तक न पा सके। मैं यह समझ कर अपने मायाचार की आलोचना करूं कि 'मायावी पुरुष इस संसार में सर्वत्र निन्दित और अपमानित होता है।' मायावी का परलोक भी गर्हित होता है–देव बने तो तुच्छ जाति का और मनुष्य बने तो वह नीच कुल में जन्म लेता है। मैं जानता हूं कि मायावी यदि अपनी आलोचना नहीं करता तो वह विराधक बन जाता है। इस कारण आराधक बने रहने के लिये मुझे बार–बार अपनी मायापूर्ण वृत्तियों व प्रवृत्तियों की आलोचना करते रहना चाहिये।

(4) मैं लोभ को जीतने के लिये सन्तोषभाव को शस्त्र के रूप में काम में लूं ताकि लोभ क्षत विक्षत होकर मेरे आत्म–परिणामों में से चला जावे। जब

आवे सन्तोष धन तो फिर सब धन मेरे लिये धूलि समान हो जायेंगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय में परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मैं सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूंगा। शान्ति के साथ समस्त जीवों के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगा तथा सबकी मित्रता एवं लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढ़ती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मैं मान गया हूं कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारों ही धर्म के द्वार हैं। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुनः मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हूं कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों कषाय पाप की वृद्धि करने वाली हैं, अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषों का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बहता रहता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

मैं इस वीतराग वचन को अपने हृदय में धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूंगा व इस अग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूंगा तथा दानशील, सदाचार और तप रूपी शीतल जल की इन कषायों पर निरन्तर वर्षा करता रहूंगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

मैं कल्पना करूं कि एक रथ दौड़ रहा है जिसमें पांच घोड़े जुते हुए हैं। सारथी उस रथ को चला रहा है और रथ में बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब मैं दो प्रकार के दृश्यों की कल्पना करता हूं। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई है कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है ? क्या सारथी भी जगा हुआ और सतर्क है या नहीं, जो कि पांचों घोड़ों को सन्तुलन से चला रहा है। वह पांचों घोड़ों की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चौकन्ना रहता है और पांचों घोड़ों की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोड़े भी समझदार होते हैं—अपने सारथी के

प्रत्येक संकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति में रथ किस तरह चलेगा ? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा–एक–सा चलेगा जिससे भीतर बैठे हुओं को तनिक भी धक्का नहीं लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गंतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुंच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बैठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नींद का झौंका लग जाय, तब भी सारथी एक हाक लगाकर घोड़ों को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादे। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योंकि रथ का स्वामी, सारथी और घोड़े सभी अपनी सावधानी बनाये रखते हैं।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, कैसी चाल से चल रहा है और रथ के सामने क्या–क्या खतरे हैं–इन सबसे रथ का स्वामी बेभान हो–मजे से नींद में खर्राटे भर रहा हो। जब स्वामी बेभान हो तो सारथी अपने मन की करने से कब चूकता है ? वह घोड़ों की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलाता रहेगा जिस ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है ? घोड़े ही जो ठहरे – उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय–रास्ते का ध्यान ही छोड़ दें। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुंह मोड़ दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गंतव्य का ध्यान रखेंगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा में भी मुड़ जाय तो उनको रोकेगा ही कौन ? वे घोड़े मस्त होकर रथ को बीहड़ में भटका सकते हैं। तो गढ्ढों में पटक कर उसको क्षत–विक्षत कर सकते हैं। रथ के नष्ट होने की दशा में भी स्वामी नहीं जागे–वह बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। अंत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य में अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हूं। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमें मेरा 'मैं' बैठा हुआ है–मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पांचों घोड़े हैं मेरी पांचों इन्द्रियाँ। इस, में कोई सन्देह नहीं कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये हैं कि क्या मेरा 'मैं' अपने रथ को भलीभांति देख रहा है ? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है ? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोड़ों पर भी लगी हुई है ? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या रथ गंतव्य स्थान तक पहुंचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर ? इन सारी परिस्थितियों की जांच मेरे 'मैं' को करनी है क्योंकि रथ का

आवे सन्तोष धन तो फिर सब धन मेरे लिये धूलि समान हो जायेंगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय में परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मैं सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूंगा। शान्ति के साथ समस्त जीवों के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगा तथा सबकी मित्रता एवं लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढ़ती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मैं मान गया हूं कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारों ही धर्म के द्वार हैं। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुनः मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हूं कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों कषाय पाप की वृद्धि करने वाली हैं, अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषों का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बहता रहता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

मैं इस वीतराग वचन को अपने हृदय में धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूंगा व इस अग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूंगा तथा दानशील, सदाचार और तप रूपी शीतल जल की इन कषायों पर निरन्तर वर्षा करता रहूंगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

मैं कल्पना करूं कि एक रथ दौड़ रहा है जिसमें पांच घोड़े जुते हुए हैं। सारथी उस रथ को चला रहा है और रथ में बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब मैं दो प्रकार के दृश्यों की कल्पना करता हूं। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई है कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है ? क्या सारथी भी जगा हुआ और सतर्क है या नहीं, जो कि पांचों घोड़ों को सन्तुलन से चला रहा है। वह पांचों घोड़ों की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चौकन्ना रहता है और पांचों घोड़ों की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोड़े भी समझदार होते हैं—अपने सारथी के

प्रत्येक संकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति में रथ किस तरह चलेगा ? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा–एक–सा चलेगा जिससे भीतर बैठे हुओं को तनिक भी धक्का नहीं लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गंतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुंच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बैठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नींद का झौंका लग जाय, तब भी सारथी एक हाक लगाकर घोड़ों को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादे। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योंकि रथ का स्वामी, सारथी और घोड़े सभी अपनी सावधानी बनाये रखते हैं।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, कैसी चाल से चल रहा है और रथ के सामने क्या–क्या खतरे हैं–इन सबसे रथ का स्वामी बेभान हो–मजे से नींद में खर्राटे भर रहा हो। जब स्वामी बेभान हो तो सारथी अपने मन की करने से कब चूकता है ? वह घोड़ों की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलाता रहेगा जिस ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है ? घोड़े ही जो ठहरे – उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय–रास्ते का ध्यान ही छोड़ दें। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुंह मोड़ दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गंतव्य का ध्यान रखेंगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा में भी मुड़ जाय तो उनको रोकेगा ही कौन ? वे घोड़े मस्त होकर रथ को बीहड़ में भटका सकते हैं। तो गढ्ढों में पटक कर उसको क्षत–विक्षत कर सकते हैं। रथ के नष्ट होने की दशा में भी स्वामी नहीं जागे–वह बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। अंत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य में अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हूं। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमें मेरा 'मैं' बैठा हुआ है–मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पांचों घोड़े हैं मेरी पांचों इन्द्रियाँ। इस, में कोई सन्देह नहीं कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये हैं कि क्या मेरा 'मैं' अपने रथ को भलीभांति देख रहा है ? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है ? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोड़ों पर भी लगी हुई है ? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या रथ गंतव्य स्थान तक पहुंचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर ? इन सारी परिस्थितियों की जांच मेरे 'मैं' को करनी है क्योंकि रथ का

स्वामी वही है और रथ स्वस्थ एवं सुन्दर गति से प्रगति करे—यह दायित्व भी उसी का है।

लेकिन जब मैं इतना सोचने के लिये बैठता हूं तो यह निश्चय मान सकता हूं कि मेरे 'मैं' में अवश्य जागरण की किरणें फैल रही हैं और यह सुव्यवस्था तथा प्रगति के लिये शुभ लक्षण है। मेरा 'मैं' जाग रहा है जिसका अर्थ है कि मैं जाग रहा हूं और रथ में बैठा हुआ मैं जाग रहा हूं तो सबसे पहले मेरी दृष्टि मेरे सारथी पर ही गिरनी चाहिये। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात भी यही है। मैं राजा हूं, हर कर्मचारी से मैं सीधा क्यों भिडूं ? अपने दीवान को ही ऐसी झाड़ पिलाऊं कि वह तुरन्त कर्त्तव्य परायण हो जाय क्योंकि दीवान अपना काम सम्हाल लेगा तो मुझे फिर किसी दूसरे को देखने की जरूरत नहीं रहेगी। दीवान पर नजर रखने से ही मेरा काम भली प्रकार चल जाएगा।

मन को मैं सम्हालूं, मन को मैं जांचूं परखूं, मन पर अपना पक्का काबू बनाऊं और मन को मैं अपनी मर्जी से चलाऊँ—यह सारा निग्रहकारी काम मुझे ही करना है। यह एकदम सही है कि मन ही मनुष्य के बंध और मनुष्य के मोक्ष का कारण है। मन रूपी सारथी को एकाग्र बना लिया तो घोड़ो की क्या हिम्मत कि वे अपनी चाल तो दूर, नजर को भी इधर—उधर करें ? मन मजबूत तो आत्मा की सुदृढ़ता को भी कौन डिगा सकेगा ? एक मन की जीत लें तो पांचों इन्द्रियां स्वतः ही जीत ली जायगी इस प्रकार पांच इन्द्रियां कषाय और एक मन (आत्मा) दसों को भी जीत लिया जायेगा। जब मन एकाग्र हो जाता है—गंतव्य की दिशा में आगे बढ़ने को एकनिष्ठ, तब रथ भी सन्तुलित चलता है तो रथ का स्वामी भी धर्मानुष्ठानों में सन्तुष्ट रहकर संलग्न हो सकता है। कारण, मन एकनिष्ठ तो वचन एकनिष्ठ और मन वचन एकनिष्ठ तो सकल प्रवृत्तियाँ एकनिष्ठा से ही प्रवर्तित होगी। फिर आत्मा को अपना समग्र पुरुषार्थ नियोजित करने में किसी भी प्रकार का व्यवधान कहाँ से आवेगा ?

आत्म विकास की इस महायात्रा में जो घातक व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे मूल रूप में अपनी ही आन्तरिकता से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि बाहर से आने वाली भीषण से भीषण बाधा या कठिनाई भी एक साधक को विचलित नहीं कर सकती है, यदि उसका मन मजबूती से सधा हुआ हो। मन को कैसे साधे—यही मेरे सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न है।

अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरी आत्मा में जागरण की जो कमी रही है, उसके कारण सांसारिक विषयों में उसकी अधिक

अभिरुचि रहती आई है। उसकी अभिरुचि की ही छाप मन और इन्द्रियों पर पड़ती आई है अतः सारी नियंत्रणहीनता फैली हुई है भीतर की प्रशासन व्यवस्था में। अब मैं जाग रहा हूं—यह ठीक है लेकिन मुझे सारी प्रशासन व्यवस्था को जगानी और सुचारू बनानी होगी और उसके लिये सर्वप्रथम मन को साधना पड़ेगा। इसको साधने का पहला चरण यह होगा कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय। सांसारिक अभिरुचि के विषय—कषायों में जो मन की गति बनी हुई है—पहले तो उसका इस रूप में निग्रह करूं कि उस दिशा में उसे न जाने दूं—प्रवृत्ति के चक्र को विपरीत दिशा में घुमाऊं, उसे निवृत्ति की ओर मोड़ूं।

तो मेरा पहला काम यह हो कि मैं मेरे मन की सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति को निवृत्ति में बदलूं—वह संसार की दिशा में दौड़ना बंद करदे। किन्तु क्या मन का दौड़ना मैं कभी भी बंद कर सकूंगा ? मन बहुत ही चंचल और सदा गतिशील होता है। उसकी दौड़ कभी बन्द नहीं होगी। इसलिये उसकी निवृत्ति का अर्थ होगा—संसार के विषय कषायों से निवृत्ति, किन्तु तत्काल ही उसकी प्रवृत्ति का भी प्रबंध करना होगा कि उसे आध्यात्मिक, धार्मिक तथा लोकोपकार के क्षेत्रों में प्रवृत्ति कराई जाय। मन की दौड़ न तो बंद की जा सकती है, न बंद होती है। करना यह है कि सिर्फ मन की दौड़ की दिशा बदल दी जाय। अभी वह पश्चिम में दौड़ रहा है तो उसे पूर्व में दौड़ाना शुरू करा दिया जाय। एक प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा दूसरी निवृत्ति से प्रवृत्ति ये यों तो मेरे दो काम होंगे लेकिन होगा असल में एक ही काम कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय। मन दौड़ता रहे—यह मुझे अभीष्ट होगा, मगर गंतव्य की दिशा में दौड़े।

मन को इस प्रकार एक दिशा में निवृत्ति तथा दूसरी दिशा में प्रवृत्त कराने का काम मेरे लिये कोई आसान काम नहीं होगा। वह बार–बार पश्चिम में छलांग लगायगा और मुझे उसकी टांग पकड़–पकड़ कर पूर्व में धकेलना पड़ेगा। यह कशमकश लगातार और लम्बे अर्से तक चलती रहेगी। यह अवधि ही यथार्थ रूप में मेरा परीक्षा काल होगा। मैं मन को अपने काबू में कर ही लेता हूं या कि मन के आगे मैं अपनी हार मान जाता हूं—उसी रूप में मेरी परीक्षा का परिणाम सामने आवेगा। अतः प्रत्येक प्रतिभावान विद्यार्थी के समान मुझे भी इस परीक्षा में इसी कठिन संकल्प के साथ जुटना होगा कि मैं परीक्षा में सफल बनूं ही।

परीक्षा की इन घड़ियों में मुझे अतीव कठोर परिश्रम करना होगा। जब–जब मन अपने मनोज्ञ और रुचिकर भोग–विषयों की ओर अथवा तज्जन्य काषायिक वृत्तियों की ओर बढ़ने लगे, तब–तब मुझे उन विषयों से उसे दूर करते रहना पड़ेगा ताकि तज्जन्य काषायिकता उत्पन्न ही न हो। सोचें कि मन शब्द, रूप, गंध, रस या स्पर्श के मनोज्ञ पदार्थ को भोगने की इच्छा करे कि अमुक गाना सुनूं या अमुक रूप देखूं या कि अमुक रस चखूं तो तत्काल मुझे उसे उस गाने, रूप या भोजन से वंचित कर देना होगा। निग्रह के इस उपाय को बार–बार प्रयोग में लाने से तथा आध्यात्मिक चिन्तन में उसे लगा देने से उसकी इच्छाओं का अन्त होता जायगा। धीरे–धीरे उसकी एक ओर से निवृत्ति और दूसरी दिशा में प्रवृत्ति सुचारू बनती जायगी। किन्तु ऐसा मेरी निर्मम कठोरता से ही हो सकेगा। कि मैं मन को हर मौके पर बलात् पीछे खींचता रहूं। प्रारंभ में तो मेरी पूर्ण दृढ़ता ही मुझे सफलता दिला सकेगी किन्तु जब मन शुभ प्रवृत्ति में अभ्यस्त बनता जायगा तब वह आत्मनिष्ठ भी हो जायगा तो एकाग्र भी बन जायगा। तब वह अपनी भी अशुभ वृत्ति तक को प्रविष्ठ नहीं होने देगा।

मैं निग्रह एवं एकाग्र प्रक्रिया से मन को वश में करूंगा और देखूंगा कि मन पांचों इन्द्रियों को कड़ाई से वश में करे। राग के झौंकों और द्वेष के अंधड़ों को दूर हटाते हुए मैं चलूंगा कि मेरा मन और मेरी इन्द्रियां उनसे प्रभावित न हों। फिर वीतराग देवों के अमृतमय उपदेशों का चिन्तन मैं करूंगा, मेरा मन उनसे प्रभावित होगा और मेरी इन्द्रियां उन उपदेशों के अनुसार ही व्यवहार करेगी। मन में तब मैं न तो अधोमुखी संकल्प विकल्पों को उठने दूंगा और न ही उसे संशय में गिरने दूंगा। वह निःशंक होकर संयम के मार्ग पर सुस्थिर बनेगा तो घोड़े भी सरपट भागेंगे और रथ सबको सुरक्षित लेकर प्रगति करता रहेगा। मुझे सावधानी यही रखनी होगी कि यह मन भूल कर भी मैले में मुंह नहीं मारे या किसी तरह की गांठ न पटक दे। वह विशुद्ध भी बने और संयम में निर्ग्रंथ भी, मन निर्ग्रंथ हो जाय और आने वाली ग्रंथियों को सही तरीकों से सुलझाना सीख जाय तभी साधक सच्चा निर्ग्रंथ मुनि बन सकता है। ऐसा ही मन सारे बंध तोड़ कर साधक को मोक्ष तक पहुंचा सकता है।

मैं निश्चय कर चुका हूं कि बंध के कारण–रूप मन को उसकी दिशा बदल कर मैं मोक्ष का कारण भूत बना लूंगा। मैं एक पल भी असावधान नहीं रहूंगा या कि चैन नहीं लूंगा और मन को सम्हालता ही रहूंगा कि वह उन्मार्ग

की दिशा में देखे तक नहीं। क्योंकि मै जानता हूं कि यदि मैं मन की चंचलता को दूर करके उसे संयम में एकनिष्ठ नहीं बना सकूंगा तो मेरा जप-तप-ध्यान और ज्ञान-कोई भी अनुष्ठान सार्थक नहीं हो सकेगा। मन की मलिनता के साथ आत्म विकास की महायात्रा के पथ पर एक भी चरण स्वस्थ गति से आगे नहीं बढ़ सकेगा। इसलिये मन की मलिनता का मुझे प्रतिपल बोध होता रहे और उसको दूर करते रहने का मेरा पुरुषार्थ भी प्रति पल जागता हुआ रहे—इसकी मुझे समुचित व्यवस्था करनी होगी। ऐसा करूं कि मैं मन के सामने ऐसा दर्पण लगा दूं कि उसकी कोई भी हरकत मुझसे अजानी न रह सके।

यह है मन के लिए दर्पण

मन कितनी शुभता में घूमा है और कितनी अशुभता में—वह कितना मानवतायुक्त रहा है और कितना मानवताहीन—उसकी प्रतिच्छाया दिखाई देती है लेश्या के दर्पण में। मन के लिए मैं लेश्या को दर्पण मान लेता हूँ।

क्या होती है लेश्या ? मन का जैसा योग व्यापार चलता है, वैसे ही कर्म आत्मप्रदेशों के साथ बंधते हैं। किन्तु इन दोनों क़ी क्रियाओं का माध्यम होती है लेश्या। लेश्या वह बेरोमीटर होती है जिसमें मनोवृत्तियों का भी रंग दिखाई देता है और बंधने वाले कर्मो का भी। असल में लेश्या को रंग ही मान लीजिये जिससे मन के रंग की तुरन्त पहिचान हो सके। जिससे कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं। या यों कहें कि जिसके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त होती है और जो लिप्तता योगों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। संक्षेप में, मन के शुभाशुभ भावों को लेश्या कहते हैं। मन के जो विचार हैं, उनको भाव लेश्या कहते हैं और जिन विचारों से आकषित होकर लेश्या के पुद्‌गल आत्मा को लगते हैं, उन पुद्‌गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर ही रखे गये हैं।

योग परिणामों के अन्तर्गत पुद्‌गलों के वर्णो की अपेक्षा से द्रव्य लेश्या छः प्रकार की कही गई है :

(1) कृष्ण लेश्या—काजल के समान काले वर्ण वाली यह लेश्या मन के उस रूप को दिखाती है जो पांच आश्रवों में प्रवृत्ति करता है, तीन गुप्तियों से अगुप्त रहता है, छः काया के जीवों की विराधना करता है, तीव्र भावों से आरंभ समारंभ करता है, निर्दयता के परिणामों के साथ क्रूर और नृशंस बनता है और इन्द्रियों को कतई वश में न रखते हुए दुष्ट भावों से युक्त बन कर प्रवृत्ति करता है। कृष्ण लेश्या के दर्पण में मन की जो प्रतिच्छाया आती है वह कठोर, क्रूर परिणामधारी और अजितेन्द्रिय मन की होती है।

(2) नील लेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाली इस लेश्या के माध्यम से मन का वह रूप प्रतिबिम्बित होता है जो ईर्ष्यालु, कदाग्रही, तपस्या नहीं करने वाला, अविद्यायुक्त, मायावी, निर्ल्लज्ज, विषय भोगों में आसक्त, द्वेषी, मूर्ख, प्रमादी, रसलोलुप, भोगों की प्राप्ति के लिए कामुक, आरंभ से निवृत्त नहीं होने वाला, क्षुद्र, तुच्छ तथा दुस्साहसिक और वैचारिकता से हीन होता है। मन के ऐसे भाव नील लेश्या में अभिव्यक्त होते हैं। नील लेश्या वाला जीव सम्यक्ज्ञान एवं तपाराधन में शून्य होता है।

(3) कापोत लेश्या—कबूतर के समान रक्त–कृष्ण वर्ण वाली इस कापोत लेश्या के दर्पण में मन का वह स्वरूप दिखाई देता है जो वक्र (टेढ़ेपन से) विचारने वाला, वक्र वचन निकालने वाला तथा वक्र ही कार्य करने वाला होता है। ऐसे मन का मालिक अपने दोषों को ढकता है, छलपूर्वक बर्ताव करता है और सर्वत्र दोषों का ही आश्रय लेता है। वह मिथ्या–दृष्टि, अनार्य, चोर, मायावी, मत्सरी तथा मर्मभेदी शब्द कहने वाला है और दूसरों की उन्नति नहीं सह सकने वाला होता है।

(4) तेजो लेश्या—तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के द्रव्य तेजोलेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर मन में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि वह अभिमान का त्याग करके मन, वचन और शरीर से विनय वृत्ति वाला बन जाता है। वह चपलता रहित, माया रहित, कूतुहल आदि नहीं करने वाला, परम विनम्र भक्ति रखने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला, स्वाध्याय आदि में रत रहने वाला, उपधानादि तप करने वाला, धर्म में सुदृढ़ रहने वाला, पाप से भय खाने वाला, सभी प्राणियों का हित चाहने वाला शुभ भावों से युक्त बन जाता है। तेजोलेश्या वाला जीव मुक्ति का अभिलाषी भी बन जाता है।

(5) पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रंग वाली इस लेश्या के दर्पण में मन का स्वरूपवान् चेहरा सामने आता है। पद्म लेश्याधारी क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय को मन्द बना देता है और शान्त चित्त रख कर अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर हटा लेता है। वह अल्प कषाय वाला, शान्त चित्त वाला, अपनी आत्मा का दमन करने वाला, स्वाध्याय तप आदि में निरत रहने वाला, परिमित बोलने वाला, सौम्य, उपशान्त और जितेन्द्रिय बन जाता है।

(6) शुक्ल लेश्या—शंख के समान श्वेत वर्ण के द्रव्य शुक्ल लेश्या के पुद्गलों का संयोग होने पर मन में ऐसा परिणाम होता है कि वह आर्त्त व रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान को ध्याता है।[1] प्रशान्त चित्ती

1. विशेष जिज्ञासु देखें सद्धर्म मण्डनम् द्वितीय आवृति, पेज 72/73

व आत्म शोधक बनता है, पांच समिति व तीन गुप्ति का आराधक होता है, अल्परागी अथवा वीतरागी, सौम्य, जितेन्द्रिय तथा उत्तम भावों से युक्त होता है।

इन छः लेश्याओं को समझने के लिए दो दृष्टान्तों का भी उल्लेख किया गया है।

पहला दृष्टान्त है। छः पुरुषों ने एक जामुन का पेड़ देखा। पेड़ पके हुए फलों से लदा था। डालियाँ भार से नीचे की ओर झुकी हुई थीं। यह देखकर सबको फल खाने की इच्छा हो गई। सोचने लगे—फल किस प्रकार खाये जायं ? एक ने कहा—पेड़ पर चढ़ने से गिरने का खतरा है इसलिए इसे जड़ से काटकर गिरादें और सुखपूर्वक बैठकर फल खावें। दूसरा बोला— पेड़ को जड़ से काटकर गिराने से क्या लाभ ? केवल बड़ी—बड़ी डालियां ही क्यों न काटी जाय ? तीसरे ने सुझाव दिया— बड़ी—बड़ी डालियाँ न काटकर सिर्फ छोटी—छोटी डालियाँ ही काटें। फल तो छोटी डालियों पर ही लगे हुए हैं। चौथे ने कहा— हमें तो फलों से प्रयोजन है, डालियाँ क्यों काटें ? केवल फलों के गुच्छे ही तोड़ लें। पांचवा बोला—गुच्छे भी तोड़ने की क्या जरूरत है ? केवल पके हुए फल ही नीचे गिरादें। छठा बोला—जमीन पर ही इतने फल गिरे हुए हैं जो हमारे सबके लिए पर्याप्त हैं। इन्हें ही खालें।

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है। छः ड़ाकू किसी गाँव में डाका डालने के लिए रवाना हुए। रास्ते में वे विचार करने लगे। पहला बोला—जितने भी मनुष्य और पशु हमको दिखाई दें, उन सबको हम मार डालें। दूसरे ने कहा—पशुओं ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। हमारा तो मनुष्यों के साथ विरोध है इसलिये उन्हीं का वध करना चाहिये। तीसरे ने राय दी—स्त्री हत्या महापाप है, इस कारण क्रूर परिणाम वाले पुरुषों को ही मारना चाहिये। इस पर चौथे ने सुझाया—यह भी ठीक नहीं, शस्त्र रहित पुरुषों पर वार करना व्यर्थ है अतः हम सिर्फ सशक्त पुरुषों को ही मारेंगे। पांचवां कहने लगा—सशस्त्र पुरुष भी अगर डर के मारे भाग रहे हों तो उन्हें नहीं मारना चाहिये। जो शस्त्र लेकर हमसे लड़ने आवें, उन्हें ही मारा जाय। अन्त में छठे ने कहा—हम लोग डाकू हैं। हमें तो धन लूटना है इसलिये जैसे धन मिले वैसे ही उपाय करने चाहिये। एक तो हम लोगों का धन लूटें और दूसरे उन्हें मारें भी—यह उचित नहीं है। यों ही चोरी पाप और उस पर हत्या का महापाप क्यों करें ?

दोनों दृष्टातों के पुरुषों में पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इस प्रकार आगे से आगे पुरुषों के परिणाम क्रमशः अधिकाधिक शुभ हैं। इन

परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी एवं मृदुता की अधिकता है। छहों में इसी प्रकार लेश्याओं में भी क्रमशः परिणामों की विशुद्धता अधिकाधिक रूप से समझना चाहिये। छहों लेश्याओं में पहली तीन अधर्म लेश्या हैं तथा अन्तिम तीन धर्म लेश्या हैं। अधर्म लेश्या से जीव दुर्गति में तथा धर्म लेश्या से सुगति में जाता है। जिस लेश्या को लिये हुए जीव की मृत्यु होती है, तदनुसार ही उसे आगामी जन्म मिलता है।

भाव लेश्या के दो भेद बताये गये हैं—

(1) विशुद्ध भाव लेश्या—अकलुष द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम विशुद्ध भाव लेश्या है।

2. अविशुद्ध भाव लेश्या—कलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर राग द्वेष विषयक आत्मा के अशुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इन्हीं के आधार पर छः द्रव्य लेश्याएं हैं जिनमें से अन्तिम तीन विशुद्ध तो पहले की तीन अविशुद्ध भाव लेश्या समझी जाती हैं।

मैं लेश्याओं के दर्पण में सदा अपने मन को देखता रहूं तो उसकी प्रतिक्षण होने वाली गतिविधियां मुझसे छिपी हुई नहीं रह सकेगी और उस जानकारी के अनुसार मैं अपने मन पर प्रतिक्षण नियंत्रण साध सकूंगा। मन को पर्याप्त सीमा तक साध लेने पर मैं अपने मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकूंगा।

त्रिविध योग व्यापार

योग याने परिणाम अर्थात् भाव रूप व्यापार याने क्रियाएं तीन माध्यमों से संचालित होती हैं। सबसे पहला और बड़ा माध्यम होता है मेरा मन, जहाँ किसी भी वृत्ति का जन्म होता है। मन ही उस वृत्ति को पालता, पोषता और परिपक्व बनाता है। वही वृत्ति वचन बनकर तब मुंह से बाहर प्रकट होती है और तदनन्तर काया से जुड़ कर कार्य रूप में परिणत होती है। वृत्ति से वाणी, वाणी से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से विभिन्न वचनों और नई—नई वृत्तियों का अभ्युदय—इस प्रकार का त्रिविध योग व्यापार इस जीवन में चलता ही रहता है। मूल में मन शुभ होता है तो वृत्ति शुभ ढलती है और वही शुभता वाणी और प्रवृत्ति में भी बनी रहती है। योग व्यापार की इस शुभाशुभता का दार्शनिक रहस्य मैं जानना चाहता हूं।

योग क्या है ? वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म प्रदेशों के चंचल होने को योग कहते है अथवा यों कह दें कि शक्ति विशेष से होने वाले साभिप्राय आत्मा के पराक्रम को योग कहते हैं। योग एक शक्ति रूप है, जिस का शुभ अथवा अशुभ अभिप्राय के लिये मन, वचन तथा काया के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है। इस रूप में योग एक शक्ति अथवा पराक्रम का रूपक होता है। यह योग तीन प्रकार का होता है :–

(1) मनोयोग–आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलंबन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। ऐसी मनोलब्धि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है।

(2) वचन योग–आन्तरिक वाक् लब्धि उत्पन्न होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, वह वचन योग कहलाता है। यह वाक् लब्धि मतिज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से होती है।

(3) काम योग–औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्‌गलों के आलम्बन से होने वाले आत्म प्रदेशों के व्यापार को काम योग कहते हैं।

इन्हीं मुख्य भेदों के विस्तार से योग के पन्द्रह भेद किये गये हैं–(1) सत्य मनोयोग, (2) असत्य मनोयोग (3) मिश्र मनोयोग (4) व्यवहार मनोयोग (5) सत्य भाषा (6) असत्य भाषा (7) मिश्र भाषा (8) व्यवहार भाषा (9) औदारिक (10) औदारिक मिश्र (11) वैक्रिय (12) वैक्रिय मिश्र (13) आहारक (14) आहारक मिश्र तथा (15) कार्मण योग। इनमें से सं. 1 से 4 मनोयोग से, सं. 5 से 8 वचन योग से तथा सं. 9 से 15 काम योग से सम्बन्धित हैं। मन, वचन, काया की शुभाशुभता का परिचय इन भेदों से होता है। मनोयोग एक शक्ति है, उसका उपयोग सत्य के लिये हो सकता है, असत्य के लिये हो सकता है, सत्यासत्य (मिश्र) के लिये हो सकता है अथवा व्यावहारिक दृष्टि की सम्पूर्ति के लिये हो सकता है जो विभिन्न रूपिणी हो सकती है। इसी प्रकार वचन योग रूप शक्ति का भी और काम योग रूप शक्ति का भी उपयोग हो सकता है।

मुझे अपने भीतर में चल रहे तथा तदनुसार बाहर भी प्रकट होने वाले योग व्यापार को देखना, परखना और वास्तु स्वरूप जानना चाहिये ताकि मैं उस त्रिविध योग व्यापार को अशुभता से शुभता की ओर, असत्य से सत्य

की ओर तथा तुच्छता से उच्चता की ओर ले जा सकूं और शुभता, सत्य तथा उच्चता के क्षेत्र में भी उन्हें अधिक उत्कृष्टता प्रदान कर सकूं।

योग व्यापार की परख–प्रक्रिया से ही मुझे ज्ञात हो सकेगा कि अंधकार (अज्ञान) की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन कितना मानवताहीन (विषय कषायों के दुष्प्रभाव से), मेरा वचन कितना असत्य और अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप (दोगला) एव अधर्ममय हो गया है ? मुझे तब यह भी अनुभव होगा कि मनौयोग, वचन योग तथा कामयोग के रूप में मिली शक्तियों का मैंने कितना घोर दुरुपयोग किया है ? जिस तकली से सूत कातकर रचनात्मक कार्य किया जाना चाहिये, उसकी नोक से मैंने आंखें फोड़ने का कुकृत्य किया है–यह हकीकत मुझे चौंकायगी और मुझे विवश करेगी कि अपने क्रियाकलापों पर अब तो कम से कम कड़ी नजर रखूं। मेरी विकृति की अनुभूति ही मुझे सत्कृति की ओर मोड़ेगी–यह मेरा विश्वास कहता है। इसी विश्वास के साथ मैं अपने समूचे योग–व्यापार को अधिकाधिक शुभता के क्षेत्र में ले जाने तथा वहीं बनाये रखने का अपना पुरुषार्थ गंभीर रूप से क्रियाशील बना दूंगा।

यों योग के दो भेद भी किये गये हैं–भाव योग और द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी शरीर और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा और कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्म–नोकर्म ग्रहण करने की जीव की शक्ति विशेष को भाव योग कहते हैं तथा इसी भाव योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन (कंपन) को द्रव्य योग कहा गया है।

यह योग व्यापार ही मानव के जीवनाचरण का मूल आधार है। जैसा आचरण चाहिये, उसी रूप में इस योग व्यापार को मोड़ देना होगा।

मानवीय मूल्यों का ह्रास

इस योग व्यापार के संदर्भ में मैं जब वर्तमान युग पर एक दृष्टि–निपात करता हूं तो अनुभव होता है कि आज यह योग–व्यापार सामान्यतया अत्यधिक मलिन एवं कलुषित होता जा रहा है। जब इसके कारण ढूंढता हूं तो एक बात समझ में आती है कि मूलतः मन का योग व्यापार बाह्य वातावरण को पृष्ठभूमि बनाकर ही अधिकांशतः चला करता है। इस बाह्य वातावरण में सामाजिक परिस्थितियों, विविध क्षेत्रों में भौतिक विकास, विभिन्न प्रकार की सुख सुविधाओं की उपलब्धि आदि सभी तथ्य सम्मिलित मानने चाहिये क्योंकि इन सभी का मनुष्य के मन–मष्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य भी जब

तक अन्तर्मुखी नहीं हो पाता है, तब तक मुख्य रूप से बहिर्मुखी वृत्ति वाला ही होता है। अतः बाह्य संसर्ग से उसके विचार उपजें, प्रकट होवें और अमल में आवें—यह स्वाभाविक है। विशेष रूप से आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव में तो मनुष्य बाहरी जीवन ही प्रधान रूप से जीता है।

दूसरे मैं देखता हूं कि व्यक्ति समूह बना कर परिवार गांव या समाज रूप में रहते हैं तो उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधारभूत कारणों का भी मनुष्य के समग्र जीवन पर भारी असर पड़ता है। उनका पारस्परिक व्यवहार परम्परागत भी होता है तो स्थापित परम्पराओं में नई—नई परिस्थितियों के कारण परिवर्तन भी होते रहते हैं। इस दृष्टि से मैं हमारे अपने चारों ओर रहे हुए समाज की ही समीक्षा करूं तो आज से पचास वर्ष पहले के तथा आज के सामाजिक वातावरण में भारी अन्तर दिखाई देगा। इसी अन्तर में ही हम व्यक्ति के जीवन पर पड़ने वाले परिवर्तित प्रभावों की मीमांसा करते हुए उन परिस्थितियों की जानकारी ले सकते हैं जिन्होंने ऐसा अन्तर पैदा किया और उसी के दर्पण में हम बदलते रहने वाले योग व्यापार की दिशाओं का भी ज्ञान कर सकते हैं।

आज से पचास वर्ष पहले का समय हमसे कोई बहुत दूर नहीं रहा है लेकिन दोनों किनारों के सामाजिक वातावरण की तुलना करें तो बहुत दूरी दिखाई देती है। इस दूरी का कारण मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान का विकास है जिसने अपने नये—नये आविष्कारों से नई—नई सुख सुविधाओं की रचना की है। आंखों के सामने सीधा सादा दृश्य हो तो दृष्टि की गति भी सीधी सादी ही रहेगी किन्तु सामने लुभावना रूप आ जाय तो दृष्टि की लोलुपता बढ़ जायगी और यदि सामने अति आकर्षक नाटकीय दृश्य उपस्थिति हो जाय तो दृष्टि सब को भूलकर अपने ही सुख के लिये अधीर बन जायगी। वैज्ञानिक विकास ने विचारने और करने की दृष्टि में इसी रूप से परिवर्तन किया है। पहले समाज में जो एक खुला जीवन था कि व्यक्ति अपने पड़ोसी, अपने सम्बन्धी अथवा अपने समाज के हालचाल से वाकिफ रहता था—उनके दुःख सुख में बराबर शरीक होता था, वह खुला जीवन भौतिक सुख—सुविधाओं को प्राप्त करने हेतु धन कमाने की अंधी दौड़ में धीरे—धीरे बंद होता गया है। आध्यात्मिक शब्दों में यों कहें कि पहले लोगों के मन, वचन, काम का योग व्यापार जो सामान्यतया अपने साथ सारे समाज के सहयोग रूप में पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति को आधार बना कर मृदुता, सौजन्यता एवं सौहार्द्रता के साथ चला करता था, वही योग व्यापार आज अपने ही स्वार्थ

के घेरों में बन्द होकर अत्यन्त कुटिलता, मलिनता और आक्रामकता के साथ चलता है। हृदय की उदारता के संकुचितता में बदल जाने के कुफल स्वरूप योग व्यापार में सामान्य रूप से ऐसा घृणित परिवर्तन आया है।

यही मानवीय मूल्यों में ह्रास का सबसे बड़ा कारण है। सामाजिक वातावरण में जितना खुलापन होता है, पारस्परिक सम्बन्धों का दायरा भी उतना ही व्यापक होता है और तदनुसार हृदय की उदारता भी उतनी ही मानवता पूर्ण होती है। व्यक्ति जब समाज में रहे और मानवीय सद्‌गुणों को अपने जीवन में नहीं अपना सके तो सामाजिक व्यवहार की सुचारुता का निर्माण ही कैसे हो सकता है ? जब पारस्परिक सहयोग से हट कर व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के संकुचित दायरे में बन्द हो जाता है तब सामाजिकता प्रभावहीन होने लगती है बल्कि दुष्प्रभावी हो जाती है क्योंकि संकुचितता से आर्थिक एवं अन्य प्रकार की विषमताएं बढ़ जाती हैं। किसी भी क्षेत्र में किसी भी रूप से समतामय वातावरण का घटना और विषमता का बढ़ना निश्चय रूप से मानवीय मूल्यों के ह्रास का ही संकेत होता है।

आज मैं देख रहा हूं कि राष्ट्र में व्यक्तियों की स्वार्थ परता अधिक नजर आ रही है, समाज में कोई व्यवस्थित कार्य प्रणाली कम देखी जाती है। स्वच्छन्दता के साथ अपना जोर आजमाने में लगा हुआ है कि वह अपने ही लिये लूट मचा कर कितनी सत्ता और सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है—संचित कर सकता है ? सोचिये कि ऐसी मदमाती सम्पन्नता और तरसती अभावग्रस्तता की परिस्थितियों में व्यक्ति के सामान्य रूप से योग व्यापार की क्या अवस्था हो सकती है ? जैसा बाहर दिखाई देगा, सुनाई देगा और महसूस किया जायगा, मन वैसा ही विचार करेगा—वैसी ही प्राप्तियों की कामना करेगा और वैसे ही उपायों से उनके लिये चेष्टारत बनेगा। जैसा मन का योग होगा, उसी रूप में वचन का और काया का योग ढलेगा। तब समग्र रूप में जीवन का उसी प्रकार का आचरण सामने आयेगा। वहीं आचरण प्रतिबिम्ब होता है पूरे सामाजिक वातावरण का।

मैं मानता हूं कि मानवीय मूल्य शाश्वत होते हैं। उनके व्यवहार की विधि परिवर्तित हो सकती है किन्तु उनका मूल स्वरूप एक—सा रहता है। सामाजिक वातावरण ही मानवीय मूल्यों के परख की कसौटी होता है क्योंकि सामाजिक वातावरण व्यक्ति—व्यक्ति के ही सामूहिक व्यवहार का प्रतिरूप होता है। उसी कसौटी पर आज जब मानव मूल्यों को चढ़ाते हैं तो उनके ह्रास के घनत्व का अनुमान लगता है। धन, सत्ता और विलास की उद्दाम लालसाओं

ने मानवीय मूल्यों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं क्योंकि इन लालसाओं में व्यामोहित होकर मनुष्य कई बार पशुता एवं राक्षसी रूपों के इर्दगिर्द ही चक्कर काटने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपने मनुष्य–तन में तो रहता है लेकिन मनुष्यता से हीन बन जाता है। उसका कारण है—वह धन, सत्ता और विलास चाहता है अपने ऐन्द्रिक सुखों के लिये—जबकि धन और सत्ता का उपयोग होना चाहिये सामाजिक समानता एवं सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिये। वह सामाजिक न्यास के रूप में प्राप्त धन और सत्ता को झौंक देता है अपने विलास और भोग में। भोगों की मोहग्रस्तता के काषायिक वृत्तियाँ भड़कती हैं और उनसे समूचा योग व्यापार विकृत बन जाता है याने कि समूचा जीवन मलिन हो जाता है। एक मलिन जीवन सारे समाज में अपनी मलिनता फैलाते हुए विद्रूप गति की रचना करता है। इसी विकारपूर्ण पृष्ठ भूमि में सामान्य रूप से व्यक्तियों के मन मानवता हीन बनते जाते हैं। मन में मानवता नहीं तो मानवीय चिन्तन कहां से उभरेगा ? मानवीय चिन्तन नहीं तो मानवीय मूल्यों की ओर रूझान ही कैसे बनेगा ? मन में मानवता नहीं तो वाणी असत्य और अप्रिय बने—इसमें आश्चर्य की बात नहीं होगी। मानवताहीन मन से सत्य फूट ही नहीं सकता क्योंकि वह क्रूर होता है और उस कारण वचन प्रियकारी भी नहीं हो सकता। उलझे या विकारों में फंसे मन और वचन वाला मनुष्य अकृत्य नहीं करेगा तो क्या करेगा ? उसके काम कपटपूर्ण भी होंगे तो अधर्ममय भी। उसकी कथनी और करनी का भेद सामने रहेगा। यह दशा ही मानवीय मूल्यों के ह्रास की दशा है।

मैं सोचता हूं कि यदि मानवीय मूल्यों की दृष्टि से अधःपतन की इस दिशा में सुधार लाना है तो व्यक्ति और समाज के दोनों किनारों से शुभ परिवर्तन के प्रयास प्रारंभ करने होंगे। व्यक्ति अपने नियमित विचार और आचार में सुधार लावे—यह भी जरूरी है तो सामूहिक प्रयास के बल पर समूचे सामाजिक वातावरण में भी आवश्यक सुधार लाये जाय—यह भी उतना ही जरूरी है।

मेरा विचार है कि सामूहिक प्रयास व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की उद्दाम लालसाओं पर शक्ति से रोक लगाने के उद्देश्य से किये जाय। सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऐसा परिवर्तन किया जाय कि स्वार्थपूर्ति के मामले में चाहकर भी एक व्यक्ति राक्षसी रूप धारण न कर सके। ऐसा प्रतिबंध राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का हो सकता है। धन और सत्ता पाने की अंधी दौड़ में अगर समता मात्र आंखें लगा दी जाय तो विषय–कषाय

की विकृति के घटती रहने से धीरे–धीरे जागृति का वातावरण बन सकती है और मानवीय मूल्यों का महत्त्व पुनः बढ़ सकता है।

मैं यह तो मानता ही हूं कि किसी भी प्रकार के संशोधन, परिमार्जन या परिवर्तन का श्री गणेश व्यक्ति के जीवन से ही किया जा सकता है। अतः यदि मानवीय मूल्यों की पुनः सुदृढ़ता से स्थापना करनी है तो आज के वातावरण की प्रलुब्धता को घटाकर व्यक्ति को अपने योग व्यापार में शुभ परिवर्तन लाना ही होगा। किसी भी शुभ कार्य का अंकुर पहले मन में ही फूट सकता है क्योंकि मन का निश्चय ही कार्य की सफलता में परिणत होता है। इसलिये मनुष्य का मन शुभ योग व्यापार में कैसे सधे–उसके आध्यात्मिक उपायों पर गहराई से चिन्तन करना आवश्यक है।

सामायिक से समभाव साधना

अशुभ योग व्यापार को शुभता में ढालने का एक मात्र उपाय यही हो सकता है कि मैं पहले अपने मन को साधूं–उसमें समभाव का संचार करूं। कहा गया है कि जैसे–जैसे मन, वचन, काया के योग अल्पतर और मन्दतर होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्म बंध भी अल्पतर होता जाता है। कषाय के अपगत होने पर योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

मैं समझता हूं कि योग चक्र का पूर्णतः निरोध मेरे लिये आदर्श है, जिसकी प्राप्ति मैं विभिन्न चरणों में ही कर सकूंगा। मेरा पहला चरण यह होना चाहिये कि अपने योग व्यापार की वर्तमान अशुभता की मैं कड़ी आलोचना करूं और और उसे शुभता में परिवर्तित करने का संकल्प बनाऊं। सबसे पहले मुझे अपने योग चक्र का रूपान्तरण करना होगा, क्योंकि मन, वचन, काया के तीनों योग अविवेकी और अयुक्त पुरुष के लिये दोष के हेतु बनते हैं तो वे ही तीनों योग विवेकी और युक्त पुरुष के लिये गुण के हेतु होते हैं। अतः इन योगों को मैं गुण के हेतु बनाने के लिये मन की साधना आरंभ करूंगा, उसे समभावों से परिपूरित बनाने का पुरुषार्थ बताऊंगा तथा मन से आरंभ करके त्रिविध योग व्यापार का सम्यक् संशोधन करूंगा।

समभाविता के इस लक्ष्य का अभ्यास मैं प्रारंभ करूंगा सामायिक की साधना से। यह सामायिक क्या है ? सम का अर्थ है जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियों को आत्मवत् समझता है, सम्यक् ज्ञान, दर्शन और

चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। सामायिक में सर्व सावद्य–हिंसापूर्ण व्यापारों का त्याग करना और निरवद्य अहिंसक व्यापारों में प्रवृत्ति करना होता है ताकि राग द्वेष की मलिन भावनाओं से मुक्त हुआ जा सके। जितना राग द्वेष मिटेगा, उतना ही सम–भाव जगेगा। सम अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है। सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति सामायिक है।

मैं सामायिक के निम्न चार प्रकारों पर चिन्तन करता हूं तो समझ में आता है कि सामायिक का महात्म्य अवर्णनीय है, क्योंकि समभाव के आरंभिक अभ्यास के रूप से विकसित होकर यही सामायिक सर्व विरति रूप विराट् स्वरूप ग्रहण कर लेती है–

(1) सम्यक्त्व सामायिक–देव नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला तथा अधिगम अर्थात् तीर्थंकर आदि के समीप धर्म श्रवण से होने वाला तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक है।

(2) श्रुत सामायिक–गुरु के समीप में सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है।

(3) देशविरति सामायिक–श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र देश विरति सामायिक है।

(4) सर्व विरति सामायिक–साधु का पंच महाव्रत रूप सर्व चारित्र सर्व विरति सामायिक है।

श्रावक के बारह अणुव्रतों में से चार शिक्षा व्रत हैं और उनमें पहला व्रत सामायिक व्रत है। यह सामायिक व्रत दो घड़ी याने एक मुहूर्त याने अड़तालीस मिनिट का होता है। इस काल में सावद्य (हिंसापूर्ण) व्यापार का त्याग कर आर्त व रौद्र ध्यानों से दूर होकर समभाव में आत्मा को लगाना होता है। सामायिक में बत्तीस दोषों की भी वर्जना करनी चाहिये।

सामायिक की यह कालावधि समभाव की साधना तथा योग व्यापार की शुभता का किस प्रकार अभ्यास कराती है–यह इसमें टालने लायक बत्तीस दोषों–मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह–की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है।

मन के जिन संकल्पों से सामायिक दूषित हो जाती है, वे मन के दोष कहलाते हैं। इन्हें टालने से ही सामायिक की शुद्धता बनती है। ये दोष इस प्रकार हैं–(1) अविवेक औचित्य–अनौचित्य अथवा समय–असमय का ध्यान

नहीं रखना (2) यशः कीर्ति–यश, प्रतिष्ठा अथवा आदर पाने की कामना करना (3) लाभार्थ–व्यापार बढ़ने या धन आदि के लाभ की इच्छा रखना (4) गर्व–अपनी सामायिक के सम्बन्ध में अभिमान करना (5) भयराज्य, पंच, लेनदार आदि से बचने के लिये भयपूर्वक सामायिक में बैठ जाना (6) निदान–सामायिक के बदले भौतिक फल की अभिलाषा करना (7) संशय–सामायिक के आध्यात्मिक फल के बारे में सन्देह करना (8) रोष–रोग द्वेष आदि के कारण सामायिक में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेवन करना (9) अविनय–सामायिक के प्रति अविनय का भाव रखना तथा (10) अबहुमान–सामायिक के प्रति वांछित आदर भाव नहीं रखना। ये दसों दोष मन के योग व्यापार के माध्यम से लगते हैं। इन दस दोषों से बचने पर ही सामायिक के लिये मन शुद्धि होती है तथा एकाग्रता आती है।

सामायिक में सामायिक को दूषित करने वाले सावध वचन बोलना वचन के दोष कहलाते हैं। वे दस हैं–(1) कुवचन–कुत्सित वचन बोलना (2) सहसाकार–विचार हीनता एवं अप्रतीति से बोलना (3) शच्छन्द–धर्मविरुद्ध राग द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत गाना (4) संक्षेप–सामायिक के पाठ या वाक्य को छोटा करके बोलना (5) कलह–क्लेश उत्पन्न करने वाले वचन बोलना (6) विकथा–स्त्री कथा आदि चार (स्त्री, देश, राज, भक्त) विकथा करना (7) हास्य–हंसना, कौतूहल करना या व्यंग अथवा आक्षेप वाले शब्द बोलना (8) अशुद्ध–सामायिक के पाठ जल्दी–जल्दी अशुद्धियों सहित बोलना (9) निरपेक्ष– बिना उपयोग या सावधानी के बोलना तथा (10) मुणमुण–अस्पष्ट उच्चारण करना। इन दस दोषों से बचने के बाद ही वचन शुद्धि बनती है।

सामायिक में निषिद्ध आसन से बैठना काया का दोष है। इसके बारह भेद हैं–(1) कुआसन–मानपूर्ण या अशुद्ध आसन से बैठना (2) चलासन–बारबार आसन बदलना। (3) चल दृष्टि–बिना प्रयोजन इधर उधर देखना (4) सावद्य क्रिया–शरीर से हिंसापूर्ण क्रिया करना। घर की रखवाली करना या इशारा करना सावध क्रिया में सम्मिलित माना गया है, (5) आलम्बन–बिना कारण दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना। (6) आकुंचन–प्रसारण–हाथ पांव फैलाना व समेटना (7) आलस्य–आलस्य से अंगों को मोड़ना (8) मोडण–हाथ पैर की अंगुलियों के कटके निकालना (9) मल दोष–शरीर का मैल उतारना (10) विमासन–शोकग्रस्त दशा में बैठना या बिना पूंजे खुजलाना अथवा हलन चलन करना। (11) निद्रा–नींद लेना तथा (12) वैयावृत्य अथवा कम्पन–निष्कारण ही सामायिक में बैठे हुए दूसरे से अपनी वैयावृत्य कराना

अथवा घूमना, हिलना या शरीर को कंपाना। ये काया के दोष हैं जिन्हें टालने से सामायिक में काम–शुद्धि होती है।

सामायिक व्रत के निश्चय एवं व्यवहार रूप इस प्रकार होंगे कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गुणों का विचार करना तथा आत्म गुणों की अपेक्षा से सर्व जीवों को एक समान समझना तथा उनमें समता भाव की अवधारणा लेना निश्चय सामायिक व्रत है तो मन, वचन और काया को आरंभ से हटाना और आरंभ (हिंसा) न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है।

सामायिक में बैठने पर सामायिक के इन पांच अतिचारों को भी टालना चाहिये–(1) मनोदुष्प्रणिधान–मन का दुष्ट (बुरा) प्रयोग (2) वाग्दुष्प्रणिधान–वचन का दुष्ट प्रयोग (3) काय दुष्प्रणिधान–काया का दुष्ट प्रयोग (4) सामायिक का स्मृत्यकरण–सामायिक की स्मृति या उपयोग न रखना एवं (5) अनवास्थित सामायिककरण–अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग के तो बाकी दो प्रमाद की बहुलता के हैं।

सामायिक के समता रस में भींज कर मैं कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं मानूंगा, किसी वस्तु के लाभ पर हर्ष या हानि पर विषाद नहीं करूंगा तथा अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के प्रति निर्भय बना रहूंगा। मैं प्रयासरत रहूंगा कि मेरा समभाव और साम्य विवेक किसी भी कारण से विचलित न हो तथा उससे बनने वाला समतामय आचरण अक्षुण्ण बने। मैं सभी प्रकार की आसक्तियों तथा असमानताओं का त्याग करूं तथा सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखूं। मेरी अड़तालीस मिनिट की सामायिक अभ्यास में परिपुष्ट बनती हुई मुझे मेरे चौबीसों घंटों में समभावी बनावे, कठिन व्रत धारण की सक्षमता उत्पन्न करे, त्रिविध योग व्यापार को शुभतरता में ढाले, सहिष्णुता का सद्‌गुण प्रदान करे और अन्ततोगत्वा समदर्शी बनाकर समता–रस में आकंठ डुबो दे–यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है और मैं इस अभिलाषा की पूर्ति हेतु कठिन पुरुषार्थ करते रहना चाहता हूं।

शुभ, शुद्ध और भव्य भावनाएँ

अशुभ योग व्यापार को शुभता में परिवर्तित करने के लिये सर्वप्रथम मुझे अपने मन की गति का रूपान्तरण करना होगा जिसके लिये मन को साधना पड़ेगा। शुभ, शुद्ध एवं भव्य भावनाओं में रमण करते रहने का अभ्यास बनाना मनःसिद्धि में विशिष्ट रूप से सहायक होता है। शुभ भावनाएं भाने से मनः शुद्धि भी होती है तो मनःसिद्धि भी। भावनारत मन विशुद्धता एवं विवेक

के साथ लक्ष्य सिद्धि के लिये भी अनुकूल सामर्थ्य अर्जित कर लेता हैं। मन सध कर वचन और कर्म को भी साध लेता है। फलस्वरूप त्रिविध योग व्यापार अशुभता से हटकर शुभता में रूपान्तरित होता है और अधिकाधिक आत्माभिमुखी बनता है। इस दृष्टि से भावनाओं का अमित महत्त्व माना जाना चाहिये।

मैं 'भावना' को परिभाषित करूं तो वह परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि संवेग, वैराग्य एवं भाव शुद्धि के लिये आत्म स्वरूप और जड़ चेतन पदार्थों के संयोग–वियोग के प्रति उसके सम्बन्धों पर गहराई में उतर कर चिन्तन करना। भावना भाते हुए यह ध्यान रखना कि इस रूप में किये जा रहे चिन्तन में आत्म स्वरूप एवं जड़ सम्बन्धों की यथार्थ स्थिति का गूढ़ अनुसंधान हो तथा धार्मिक अनुष्ठान की योग्य भूमिका का निर्माण हो। भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा भी है जिसका अर्थ होता है–आत्मावलोकन। अपने आत्म स्वरूप पर अर्थात् अपने मन, वचन, काया के योग व्यापार पर बराबर दृष्टि रखना कि वह सदा शुभता की ओर बढ़े–यही भावना का प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

मैं इस उक्ति का ध्यान करता हूं कि 'जिसकी जैसी भावना, वैसी ही उसकी सिद्धि' तो मैं समझ जाता हूं कि भावना आत्म–विकास का वह आधार है जो यदि शुद्ध बन गया तो सम्पूर्ण विशुद्धता की प्राप्ति फिर कठिन नहीं रह जायगी। पांचों मुख्य व्रतों (महाव्रतों) की स्थिरता के लिये भी प्रत्येक की पांच पांच भावनाओं का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

(1) अहिंसा महा व्रत–पांच भावनाएं–(अ) ईर्या समिति–स्व व पर को क्लेश न हो वैसी यतनापूर्वक गति करना। (ब) मनोगुप्ति–मन को अशुभ ध्यान से हटाना तथा शुभ ध्यान में लगाना। (स) एषणा समिति–किसी वस्तु की गवैषणा ग्रहण और उपभोग तीनों में उपयोग रखकर दोष नहीं लगाना। (द) आदान निक्षेपणा समिति–वस्तु को उठाने और रखने में अवलोकन, प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना। (य) आलोकित पानभोजन, खाने की वस्तु बराबर देखभाल कर लेना और उपयोग पूर्वक खाना।

(2) सत्य महा व्रत–पांच भावनाएं–(अ) अनुवीचि भाषण–विचारपूर्वक बोलना। (ब) क्रोध प्रत्याख्यान– क्रोध का त्याग करना। (स) लोभ प्रत्याख्यान–लोभ का त्याग करना। (द) निर्भयता–सत्य मार्ग पर चलते हुए किसी से नहीं डरना। (य) हास्य प्रत्याख्यान–हंसी दिल्लगी का त्याग करना।

(3) अस्तेय महा व्रत–पांच भावनाएं– (अ) अनुवीचि अवग्रह याचन–विचारपूर्वक आवश्यकता निश्चित करना और उतनी ही वस्तु की याचना करना। (ब) अभीक्ष्णावग्रह याचन–आवश्यकतानुसार वस्तु को बार–बार मांगना। (स) अवग्रहावधारण–याचना के पहले परिमाण का निश्चय कर लेना। (द) साधर्मिक अवग्रह याचन–पहले साधर्मिक से स्थान का उपयोग मांग लेना। (य) अनुज्ञापित पानभोजन–विधिपूर्वक अन्न पान आदि लोकर गुरु को दिखाना तथा उनकी आज्ञा होने पर उपयोग में लेना।

(4) ब्रह्मचर्य महा व्रत–पांच भावनाएं–(अ) स्त्री पशुपंडकसेवित शयनासनवर्जन–विजातीय लिंग वाले व्यक्ति द्वारा काम में लिये शय्या और आसन का त्याग करना। (ब) स्त्री कथावर्जन– रागपूर्वक कामवर्धक बातें नहीं करना। (स) मनोहर इन्द्रियालोक वर्जन–विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को नहीं देखना। (द) स्मरणवर्जन–पहले भोगे हुए काम भोगों को स्मरण नहीं करना। (य) प्रणति रस भोजन वर्जन–कामोद्दीपक रसीले या गरिष्ठ भोजन तथा पेय का त्याग करना।

(5) अपरिग्रह महा व्रत–पांच भावनाएं–(अ) मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श समभाव–अच्छा या बुरा लगने के कारण राग या द्वेष पैदा करने वाले स्पर्श पर समभाव रखना। (ब–य) इसी प्रकार रस, गंध, रूप तथा शब्द के मनोज्ञामनोज्ञ अनुभव पर समभाव रखना।

वीतराग देवों ने त्याग को सर्वोच्च स्थान दिया है, इसीलिये पंच महाव्रत धारी साधुओं का स्थान सबसे ऊंचा है। उपरोक्त भावनाएं मुख्यतः साधु जीवन को लक्ष्य करके कही गई है। ये भावनाएं प्रधान रूप से नियमों की संस्मृति रूप ही हैं। अपने–अपने त्याग के अनुरूप दूसरी भी बहुत सी भावनाएँ हैं जिनसे भाव शुद्धि तथा व्रतपालन में सहायता मिलती है। पाप रूप अशुभता से निवृत्ति के लिये इन नियमों की भावना भाई जा सकती है–(1) हिंसा आदि पापों में ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट देखना। (2) हिंसा आदि दोषों में दुःख ही दुःख है–इस प्रकार बार–बार चित्त में भावना भाना। (3) प्राणी मात्र में मैत्री अधिक गुणी को देखकर प्रमुदित होना दुःखी को देखकर करुणा लाना तथा कदाग्रही या अविनीत को देखकर मध्यस्थ भाव रखना। (4) संवेग और वैराग्य के लिये संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना।

महाव्रतों की स्थिरता के लिये त्याग का बारम्बार स्मरण चिन्तन भी आवश्यक है तो उस के दोषों का सम्यक् ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है

क्योंकि दोषों के बारे में पूरी जानकारी हो जाने से त्याग की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती है। इसलिये अहिंसा आदि पांचों व्रतों के दोषों को बार–बार देखते रहना चाहिये। यह दोष दर्शन दो प्रकार का होता है—ऐहिक एवं पारलौकिक। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने आदि का दुष्परिणाम इस जीवन में कैसे उठाना पड़ेगा–यह होगा ऐहिक दोष दर्शन तथा हिंसा, झूठ आदि से नरक आदि गतियों में जाना पड़ेगा–यह देखना पारलौकिक दोष दर्शन है। इन दोनों संस्कारों को आत्मा में दृढ़ बनाना भावना है। यह शुभ भावना है।

इसके विपरीत पांच अशुभ भावनाएं भी बताई गई है जिनका त्याग करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं।

(1) कन्दर्प भावना–पांच प्रकार–(अ) कन्दर्प अट्टहास, हंसी मजाक करना, कठोर या वक्र वचन कहना, काम कथा, उपदेश या प्रशंसा करना। (ब) कौत्कुच्य–भांड की सी वचन और काया से कुचेष्टाएं करना। (स) दुःशीलता–दुष्ट स्वभाव बनाना, आवेश में बोलना, मदमस्त बैल की तरह चलना, जल्दबाजी करना आदि। (द) हास्योत्पादन–विचित्र वेश व भाषा से दूसरों को हंसाना और खुद हंसना। पर–विस्मयोत्पादन विविध प्रकारों से दूसरों को विस्मित करना।

(2) किल्वीषी भावना–पांच प्रकार (अ–य) श्रुत ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधु का अवर्णवाद बोलना, उनमें अविद्यमान दोष बतलाना आदि। मायावी होना भी इसी प्रकार में सम्मिलित है।

(3) आभियोगी भावना–पांच प्रकार–(अ) कौतुक– मंत्र, तंत्र, धूप, आदि देना। (ब) भूतिकर्म– शरीर, पात्र, आदि की रक्षा के लिए मिट्टी, सूत आदि से उन्हें लपेटना। (स) प्रश्न–लाभ–अलाभ के प्रश्न पूछना या अंगूठी, दर्पण, पानी आदि में स्वयं को देखना। (द) प्रश्नाप्रश्न– स्वप्न में आराधी हुई देवी की कही बातों को दूसरों को कहना। (य) निमित्त–अतीत, वर्तमान एवं अनागत का ज्ञान विशेष रखना।

(4) आसुरी भावना–पांच भेद–(अ) सदाविग्रहशीलता–हमेशा लड़ाई–झगड़े करते रहना। (ब) संसक्त तप–आसंक्त साधु का तप करना। (स) निमित्त कथन–तीन काल की नैमेत्तिक बातें बताना। (द) निष्कृपता–स्थावर जीवों को अजीव मानना, उनके प्रति दयाभाव की उपेक्षा करना तथा किसी के कहने पर अनुताप भी नहीं करना। (य) निरनुकम्पता–दुःखी के प्रति क्रूरता जन्य कठोरता धारण करना।

(5) सम्मोही भावना—पांच प्रकार (अ) उन्मार्ग देशना—आज्ञा के विपरीत मार्ग का उपदेश देना। (ब) मार्ग दूषण—सन्मार्ग व सत्साधुओं में मन कल्पित दोष बताना। (स) मार्ग विप्रतिपत्ति—दूषण लगाकर उन्मार्ग को अंगीकार करना। (द) मोह—गहन ज्ञानादि विषयों में ना समझी से मोह करना तथा अन्ययतियों के आडम्बर से ललचाना। (य) मोह जनन—किसी भी उपाय से अन्य मत में दूसरों का मोह पैदा कराना। इस प्रकार ये कुल पच्चीस भावनाएं चारित्र में विघ्न रूप हैं। इन के निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

सद्गुण ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये निम्न चार प्रकार की भावनाओं का चिन्तवन करना अति आवश्यक माना गया है—

(1) मैत्री भावना—मैं प्रत्येक प्राणी को अपने समान और अपना ही समझूं ताकि मैं सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक एवं सत्यवादी बन सकूं। मैं जब सभी प्राणियों को अपने आत्मीय जन मानूंगा तब किसी को दुःखी करने की वृत्ति ही मेरे मन में नहीं उपजेगी बल्कि किसी भी दुःखी प्राणी को देखकर मैत्री भावना से भर कर उसके कष्ट दूर करने का यत्न करूंगा। यह मैत्री भावना मुझे स्वस्थ और प्रसन्न रखेगी तो दूसरों को भी सुख और शान्ति प्रदान करेगी।

मैं दूसरों के साथ यह स्मरण करके अपने मैत्री भाव को पुष्ट बनाऊंगा कि ये सभी किसी न किसी जन्म में मेरे माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, बहिन, आदि रह चुके होंगे अथवा कभी आगामी जन्मों में इस प्रकार के सम्बन्ध बन सकते हैं। सब प्राणियों के अपने प्रति व्यक्त अथवा अव्यक्त उपकार को समझना तथा उपकारी मान कर मैत्री भाव को बढ़ाना मैं अपना कर्त्तव्य मानूंगा। यही भावना मुझे विश्व—बंधुत्व की विशालता के दर्शन करायगी।

(2) प्रमोद भावना—मैं अपने से अधिक गुण सम्पन्न महापुरुषों के दर्शन करके तथा उनके प्रति लोगों द्वारा प्रकट किये जाने वाले मान, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा के भावों को जान करके अतीव प्रमुदित होऊंगा। सामान्य लोग ऐसे अवसर पर ईर्ष्या या जलन का अनुभव करते हैं किन्तु मैं जानता हूं कि ईर्ष्या या जलन करने वाला सच्चा अहिंसक नहीं बन सकता है। ईर्ष्या बहुत बडा दुर्गुण हैं जो मनुष्य को पतित बनाता है। अतः मैं उन सभी पुरुषों का सम्मान करूंगा— गुण गाऊंगा जो विद्या, तप, यश आदि गुणसम्पन्नता से विभूषित होंगे। मैं सोचता हूं, मैं चाहता हूं कि मेरी गुणसम्पन्नता से सभी हर्षित हों और मेरी उन्नति से सभी प्रसन्न बनें तो पहले मुझे ही अपनी ऐसी वृत्ति बनानी

होगी। मैं ईर्ष्या नहीं करूंगा तो मैं भी ईर्ष्या का पात्र नहीं बनूंगा। अपने मे और दूसरों में मैं प्रमोद भावना का अधिकतम विस्तार करना चाहूंगा।

(3) करुणा भावना—यदि शारीरिक अथवा मानसिक दुःखों से दुःखित प्राणियों को देखकर मेरा मन दया, अनुकम्पा और करुणा से द्रवित नहीं हो जाता है तो मुझे यह समझना पड़ेगा कि अभी मेरे अहिंसक बनने में काफी कमी है। मैं तो इस भावना को सुदृढ़ बनाऊंगा कि मैं दीन, अपंग, रोगी और निर्बल लोगों की सेवा करूं, विधवा और अनाथ बालकों को सहायता दूं, अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण अकाल के समय असहाय लोगों के खाने पीने का प्रबंध करूं, बेघर लोगों को शरण दूं, महामारी के समय लोगों को औषधियां पहुंचाऊं, स्वजन वियुक्त लोगों को उनके स्वजनों से मिलाऊं, भयभीत प्राणियों के भय को दूर करूं, वृद्ध व रोगी पशुओं की सार–संभाल करूं और यह मानूं कि मेरे मनोबल, धन तथा शरीर बल की सार्थकता ही करुणा एवं करुणा प्रभावित शुभ कार्यों को सम्पूर्ण करने में समाई हुई है। यह भी विचार करूंगा कि आज की मेरी उपलब्धियां पहले की करुणा के फलस्वरूप ही है तो फिर उसी करुणा को मैं अपने जीवन में साकार स्वरूप क्यों न प्रदान करूं ? मेरी मान्यता है कि धर्म का सम्पूर्ण सार एक दया में सन्निहित है, तभी तो दयामय धर्म को ही सच्चा धर्म माना गया है, अतः दुःखी प्राणियों के कष्ट हरण रूप दया को मैं अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान देता हूं।

(4) माध्यस्थ भावना—इस संसार में मेरे अनुकूल सम्बन्ध और पदार्थ होते हैं तो प्रतिकूल भी। यदि इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को मैं अपने विचारों में स्थान दूं तो निश्चय ही राग और द्वेष की भावनाएं उभरेगी। अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष, जबकि मेरा सारा प्रयत्न ही भावनाओं के माध्यम से राग द्वेष को घटाना है। इस कारण मैं माध्यस्थ भावना का अभ्यास करूंगा कि अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के प्रति समान भाव बन जाय। मनोज्ञ पदार्थ मिले तब भी वहीं बात और अमनोज्ञ मिले तब भी वहीं—सुख–दुःख, संयोग–वियोग में एक सरीखी महकासागिरी—यही मेरी माध्यस्थ भावना होगी। मैं भले बुरे का जब अपने ऊपर कोई असर नहीं मानूंगा तो मेरे मन में न तो विचार आन्दोलित होंगे और न वचन तथा काया प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति में जुटेंगे। इससे मेरी आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलेगी।

भावना अनुचिन्तन शुभ भावनाओं के कई प्रारूप हो सकते हैं जो भाव शुद्धि और मनः सिद्धि के कारण भूत बन सकें किन्तु मान्य बारह भावनाओं

में जो भाव–प्रेरक अर्थ गाँभीर्य समाहित है, वह अपने ढंग का अनूठा है तथा शाश्वत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाला है। वे भावनाएं हैं– (1) अनित्य भावना, (2) अशरण भावना (3) संसार भावना (4) एकत्त्व भावना (5) अन्यत्त्व भावना (6) अशुचि भावना (7) आश्रय भावना (8) संवर भावना (9) निर्जरा भावना (10) लोक भावना (11) बोधि दुर्लभ भावना तथा (12) धर्म भावना। (इनका विस्तार आगे दिया जा रहा है।)

क्या यहाँ सब अस्थिर नहीं ?

मैं इस संसार में चारों ओर देखता हूं तो यहाँ जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब कुछ अस्थिर, परिवर्तनशील और नश्वर दिखाई देता है। दृश्यमान कोई वस्तु शाश्वत नहीं दिखाई पड़ती है। जो पदार्थ जिस रूप में प्रातःकाल में दिखाई देते हैं, वे ही संध्याकाल में अपना रूप बदल लेते हैं। कइयों का तो अस्तित्त्व ही न पहिचाने जा सकने वाले दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है याने कि वे पदार्थ नष्ट हो गये हैं–ऐसा लगता है। कुछ ही समय पहले जहाँ मंगल गान होता हुआ सुनाई पड़ रहा था, वहाँ करुण क्रन्दन सुनाई देता है। जिस व्यक्ति को मैं पदासीन होते हुए देखता हूँ, उसी की चिता का धुंआ कुछ समय बाद दिखाई देने लगता है। इस प्रकार सांसारिक घटनाओं की क्षणभंगुरता मेरे सामने स्पष्ट हो जाती है। इन सबको देखते हुए भी यदि मैं अपने जीवन को अमर मान कर इन दृश्यों में अपने आपको व्यामोहित बनाता रहता हूं तो वह मेरी बुद्धिहीनता तथा विवेकहीनता ही होती है।

मैं कई मनुष्यों को देखता हूं कि वे संसार के मोह ममत्त्व में इस प्रकार डूबे रहते हैं, जैसे उन्हें मरना ही नहीं है और सदा यहाँ की उपलब्धियों को भोगते ही रहना है। वे यह भूल जाते हैं कि आज यह शरीर जो युवावस्था के आनन्द उठा रहा है, कल जराग्रस्त एवं रोग ग्रस्त होकर मरण को प्राप्त होगा। यह शरीर तो वैसे भी रोगों का घर है, फिर इसको जो स्थिर मानकर आत्मार्थी सावधानी ग्रहण नहीं करते हैं, वे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं करते हैं। यहाँ जवानी के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है, ऐश्वर्य के सभी साधन नाशवान हैं तथा जीवन के साथ मृंत्यु लगी हुई है।

मेरे अनुभव में आता है कि महात्मा लोग ऐसी अज्ञानी आत्माओं के प्रति दयाद्र होते हैं और उन्हें चेतावनी देते हैं कि जीवन जीर्ण हो जायगा, किन्तु आशाएं और तृष्णाएं कभी जीर्ण नहीं होगी अतः कम से कम आयु घटने के साथ तो आत्मोत्थान के उपायों पर चिन्तन करो। प्रतिदिन मोह को प्रबल बनाते हो और आत्म कल्याण तथा लोकोपकार में प्रवृत्त होने का विचार नहीं

बनाते हो—यह सचीन नहीं है। देखो, इस संसार में सब कुछ अस्थिर है—नाशवान है, तुम्हारे प्राप्त पदार्थ भी, तुम्हारा स्वयं का शरीर और जीवन भी। स्त्री, परिवार और सभी स्वजन क्षणस्थायी हैं। स्वामित्व स्वप्न तुल्य है। यहाँ संयोग भी वियोग के लिये ही होता है। इसलिये चेतो और इस संसार में मात्र शाश्वत और अनश्वर आत्मा की सेवा के लिये सजग एवं सक्रिय बनो।

मैं वीतरागदेवों और सुगुरुओं के उपदेशों को आत्मसात् करता हूं और संसार की अनित्यता तथा अस्थिरता का विचार करते हुए सभी पदार्थों से पीछे हट जाता हूं, उनमें अपनी आसक्ति को घटाते हुए समाप्त कर देना चाहता हूं तथा उनके लिये क्षोभ एवं शोक करने के सभी मानसिक कारणों को भी मिटा देने के लिये तैयार हो जाता हूं। मुरझाई हुई फूलों की माला को छोड़ देने में भला शोक क्यों होना चाहिये ?

मेरी शरणहीनता

मैं अपनी रक्षा के लिये अपने शरीर को समर्थ और बलवान बनाता हूं, माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री से विपत्ति के समय सहायता की आशा रखता हूं तथा अपने धन वैभव से सुरक्षा के साधन जुटाता हूं, किन्तु समय आने पर क्या कोई भी मेरी सुरक्षा कर सकता है—मुझे अभय शरण दे सकता है ? जब मैं नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त बन जाता हूं तब क्या कोई मेरे रोग लेकर मुझे स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है ?

मगध देश के महाराजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि से उनके दीक्षित हो जाने का कारण जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मैंने दीक्षा लेली क्योंकि मेरा कोई नाथ और शरणदाता नहीं रहा। तब गर्वोन्नत होकर श्रेणिक ने कहा—मैं आपका नाथ बनूंगा, मैं आपको शरण दूंगा क्योंकि मैं एक विशाल राज्य और उसकी अखूट सम्पत्ति का स्वामी हूं। अनाथी मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया—राजन्, तुम मुझे क्या शरण दोगे ? तुम स्वयं शरणहीन और अनाथ हो। मुनि ने अपनी परम दारुण वेदना की कहानी कही तब राजा समझा कि इस संसार में कोई किसी का नाथ और शरण दाता नहीं बन सकता क्योंकि सभी अनाथ और शरणहीन हैं। राजा तो क्या, चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसी परम समर्थ आत्माएँ भी काल के पंजे से नहीं छूट सकती है। इस संसार में कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है।

तब मैं सोचता हूं अपनी शरण—हीनता पर भी। मैं ग़र्व करता था अपनी भौतिक शक्तियों पर—अपने भुजबल पर, अपने स्वजन बल पर, अपनी सत्ता और अपनी सम्पत्ति के बल पर। किन्तु अब सोचता हूं कि किसी में भी मुझे

शरण देने का सामर्थ्य नहीं है। ये रोग, व्याधि, जरा और मृत्यु जब मुझे घेर लेगी तब कोई भी आगे बढ़कर मुझे उनसे छुटकारा नहीं दिला सकेगा। मैं अपनी सब बाहरी शक्तियों को नाथ समझकर तो अनाथ हो जाऊंगा।

तो मैं क्या करूं ? किसकी शरण में जाऊं जो मेरे दुःखों का हरण करें ? क्या मेरे लिये कोई शरण नहीं है ? है, किन्तु बाहर कोई नहीं। मेरा 'मैं' ही मेरी शरण है, मेरा सुधर्म ही मेरी शरण है। मैं अपने धर्म में रमण करूं तो मैं भी अनाथी मुनि के समान सनाथ हो सकता हूं। मेरी शरणहीनता मेरी भावनाओं में है और मेरी ही शुभता में परिवर्तित भावनाएं मुझे निर्भय शरण प्रदान कर सकती है। जब मैं अनुभव करता हूं और अशरण भावना से भावित बनता हूं तो मेरी धर्म में—अपने आत्मोत्थान में और लोकोपकार में अभिरुचि सुदृढ़ एवं अभिवृद्ध बन जाती है।

संसार के रंगमंच पर

इस संसार के रंगमंच पर मै और अन्य संसारी प्राणी अभिनेता की तरह अपना–अपना अभिनय दिखा रहे हैं। अपने–अपने कर्मो से प्रेरित होकर विविध शरीर धारण कर रहे हैं और सांसारिकता से पूर्ण अपनी लीलाएं बता रहे हैं। एक जन्म में जो किसी की माता बनती है, वही दूसरे जन्म में उसकी स्त्री बन जाती है। इसी प्रकार पिता पुत्र और पुत्र पिता तथा स्वामी दास और दास स्वामी बन जाते हैं। संसार की विचित्रता इतनी ही नहीं हैं। एक जन्म में जो राजा होता है, रंक बनते देखा जाता है और रंक व्यक्ति राज्य पद को पा लेता है। भांति–भांति के विचित्र परिवर्तन यहाँ देखे जा सकते हैं।

अन्य प्राणियों के समान मैं भी इस संसार में अनादिकाल से जन्म मरण के चक्र में घूम रहा हूं और भयावह दुःखों को सह रहा हूं। मैं अपने अनन्त जन्मों में संसार के सभी क्षेत्रों में रहा हूं, सभी गतियों में घूमा हूं तथा सभी जातियों व कुलों में जन्मा हूं। इस प्रकार कभी न कभी प्रत्येक प्राणी से मेरा सम्बन्ध जुड़ा है जिससे सभी प्राणी मेरे आत्मीय बने हैं। कर्मवश परिभ्रमण करते हुए मैंने लोकाकाश के एक एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया परन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक योनियों के भीषण दुःख मैंने सहे, तिर्यंच योनियों के क्षुधा, प्यास, रोग, वध, बन्धन, ताड़न, भारारोपण आदि के कष्ट मैंने भुगते, देवयोनि के शोक, भय, ईर्ष्या आदि से भी मैं पीड़ित हुआ तथा इस मानव जीवन के नानाविध ताप–सन्ताप तो मेरे सामने हैं। फिर भी इन दुःखों का अन्त कहाँ है ? क्या कहीं भी अमिट सुख का अनुभव होता है ? क्या किसी भी अवसर पर आत्मशान्ति मिली है ?

यह सत्य है कि मुझे इस संसार में न तो दुःखों का अन्त दिखाई देता है और न ही अमिट सुख तथा आत्मशान्ति का अवसर। संसार में ऐसा एक भी मनुष्य या प्राणी नहीं दिखाई देता है जो सर्व प्रकार के सुखों को भोग रहा हो। कहीं युद्ध है तो कहीं महामारी, कहीं दुष्काल है तो कहीं द्वन्द्व—संघर्ष। किसी को धनाभाव है तो किसी को रोगग्रस्तता, कोई भयाकुल है तो कोई वियोग कष्ट से कष्टित। सभी जगह अशान्ति है, सभी कोई सन्ताप संत्रस्त हैं। क्या मैं भी अशान्त और सन्ताप संत्रस्त ही रहूंगा ? नहीं, मैं इस संसार में नहीं, अपनी ही आत्मा में शान्ति और सुख की खोज करूंगा तथा अपनी शुभ भावनाओं के आधार पर उन्हें प्राप्त करके रहूंगा।

एकत्त्व की अवधारणा

मैं सांसारिक परिस्थितियों की गहराई में उतरता हू तो देखता हूं कि मेरी आत्मा अकेली उत्पन्न हुई है और अकेली ही इस जीवन का त्याग करेगी। कर्मों का बंध भी मेरी आत्मा अकेली ही करती है तथा उदय में आने पर उन कर्मो का फल—भोग भी वह अकेली ही करती है। मेरे स्वजन, मित्र आदि कोई भी कर्म फल से उत्पन्न मेरे दुःखों को स्वयं नहीं ले सकते हैं। सच पूछें तो इस संसार में वस्तुतः स्वजन कोई भी नहीं है। मृत्यु के समय स्त्री विलाप करती हुई काल प्रवाह में पति को भूल जाती है तो ममता की मूर्ति माता भी अपने बेटे के शव को घर के दरवाजे से बाहर कर देती है। सम्बन्धी और मित्र भी श्मशान पहुंच कर अपने आत्मीय के शरीर को चिता पर रखकर अग्नि दे देते हैं। कहिए कोई जाता है मृत व्यक्ति के साथ में ? फिर कैसे कहेंगे उन्हें स्वजन ?

मैं देखता हूँ कि मनुष्य इन्हीं स्वजनो के लिये अपने जीवन में भांति—भांति के पाप कार्यों को करता हुआ थकता नहीं है। उन्हीं के सुख और आनन्द के लिये दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करते हुए वह संकोच नहीं करता। घोर पाप कर्मो का बंध करके वह सम्पत्ति अर्जित करता है जिसे उसके प्रियजन अपना अधिकार मान कर भोगते हैं। लेकिन जब उन्हीं कर्मो का दुःखपूर्ण फल उदय में आता है तब उन प्रियजनों में से कोई भी फल भोग में साथ नहीं देता। जन्म और मृत्यु के समय आत्मा की एकता को प्रत्यक्ष करते हुए भी वह पर—पदार्थो को अपना समझता है—यह देखकर ज्ञानी महात्मा भान दिलाते हैं कि इन्द्रिय—सुखों में ममत्त्व रखना, उनका संयोग होने पर हर्षित होना और वियोग होने पर दुःख करना मोह की विडम्बना मात्र है।

एकत्त्व भावना के संदर्भ में मेरा चिन्तन चलता है कि यह जीव अकेला ही अप्सराओं के मुख रूपी कमल के लिये भ्रमर रूप स्वर्ग का देवता बनता है। अकेला ही तलवारों से छेदा जाकर नरक में अपना खून बहाता है। विषय कषायों से लिप्त होकर वह अकेला ही पाप कर्मों का बंध करता है। और उतना ही यह भी सत्य है कि अपना दृढ़ संकल्प बना लेने के बाद वह अकेला ही कर्मों के सभी आवरणों को दूर करके आत्म विकास की महायात्रा को सफल भी बनाता है। अतः परस्त्री को पत्नी समझना जिस रूप में भयावह है, उससे भी अधिक भयावह है परपदार्थों में ममत्त्व रखना, क्योंकि इसी से राग और द्वेष की मलिनता बढ़ती है जो संसार की जड़ है। यह समझ कर मैं पर पदार्थों में अपना ममत्त्व घटाऊंगा, राग-द्वेष को मिटाऊंगा तथा एकत्त्व भावना को भाऊंगा।

शरीर और आत्मा की भिन्नता

मै कौन हूं ? मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी मेरे कौन होते हैं ? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ ? यह विलास और वैभव सामग्री मुझे कहां से मिली ? इन प्रश्नों के मूल में मैं जाता हूं तो मुझे ज्ञान होता है कि ये सब आत्मा से सम्बन्धित नहीं है-मात्र इस शरीर से सम्बन्धित हैं, कारण, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। शरीर नाशवान होता है और आत्मा अनश्वर। शरीर पुद्‌गलों का समूह है तो आत्मा ज्ञानपुंज। शरीर मूर्त है, इन्द्रियों का विषय है और अशाश्वत है लेकिन आत्मा मूल में अमूर्त, इन्द्रियातीत तथा शाश्वत होती है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म वश बना हुआ है। इसलिये इस शरीर को ही आत्मा मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है-यह अन्यत्त्व भावना है। शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। 'मैं' जो हूं वह आत्मा हूं, शरीर नहीं। अतः मैं शरीर के कृश होने पर शोक न करूं क्योंकि शरीर के कृश होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता है। आत्मा तो नित्य, समदर्शी तथा ज्योतिर्मय होती है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, हास या वृद्धि आत्मा के गुण नहीं हैं-ये तो कर्म के परिणाम होते हैं। इसी प्रकार माता पिता, स्त्री पुत्र इस आत्मा के नहीं है और आत्मा भी इनकी नहीं है। यह जीवन तो उस वृक्ष के समान है जहां पर संध्या के समय अलग-अलग स्थानों से कई पंछी पंखेरू आकर मिलते हैं और रात्रि वास तक ठहरते हैं। स्वजनों का संयोग भी इसी रूप में अल्प समय के लिये होता है। प्रत्येक जन्म में इस आत्मा के साथ अन्य कई आत्माओं का संयोग तथा सम्बन्ध होता है किन्तु उन सबसे यह आत्मा अलग भी हो जाती है।

संयोग के साथ वियोग है—यह विचार करके मुझे अपने स्वजन-सम्बन्धियों के मोह ममत्त्व से दूर हटना चाहिये। मुझे सोचना चाहिये कि जिनके लिये मैं प्रयत्न करता हूं, जिनसे मैं डरता हूं, जिनसे मैं प्रसन्न रहता हूं, जिनका मुझे शोक होता है, जिन्हें मैं हृदय से चाहता हूं, जिन्हें पाकर मैं परम प्रसन्न हो जाता हूं और मैं अपनी गाढ़ी आसक्ति बनाकर अपने विशुद्ध स्वभाव को अपरूप बना लेता हूं— वे सब पराये हैं, मेरा अपना कोई भी नहीं। पर-पदार्थों में ममत्त्व भाव धारण करके मेरी विपरीत वृत्ति बन गई है। मैं आत्मा के उत्थान मार्ग को पतन का मार्ग तथा पतन के मार्ग को उत्थान का मार्ग समझने लग गया हूं। इस कारण मैं अपने यथार्थ कर्त्तव्य को भूल गया हूं तथा उसके सम्यक् निर्धारण के उपयोग से भी शून्य बना हुआ हूँ। मैं विचार करता हूं कि मुझे अपने उन्मार्ग को समझ कर वास्तविक आत्म विकास की ओर अग्रसर बनाना चाहिये।

चारों ओर गंदगी ही गंदगी है

इस संसार में मैं जिधर भी देखता हूं, उधर गंदगी ही गंदगी दिखाई देती है। औरों को तो छोड़ूं—मेरा खुद का शरीर भी कितना गंदा और अशुचिपूर्ण है ? यह शरीर मांस, रुधिर, अस्थि जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में भी अशुचिपूर्ण पदार्थो के आहार के द्वारा ही इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, स्वादिष्ट और रसपूर्ण पदार्थों का भोजन भी इस शरीर के भीतर पहुंच कर घोर अशुचि के रूप में परिणत हो जाता है। नमक की खान में जो भी वस्तु गिरती है, वह नमक बन जाती है। इस शरीर में कितनी ही सरस वस्तुएं पहुंचावें तब भी वे शरीर के अशुचि धर्म के अनुसार गन्दगी का ढेर बन जाती हैं। आँख, कान, नाक आदि सभी नव मल द्वारों से सदा मैल बहता रहता है। इस शरीर को स्वच्छ, सुगन्धित तथा सुन्दर बनाने के लाखों उपाय किये जाते हैं, फिर भी वह अपने अशुचिपूर्ण स्वभाव को छोड़ता नहीं है। निर्मल से निर्मल साधनों को भी वह मलिन बना देता है।

मैं शान्त और स्थिर बुद्धि से विचार करता हूं तो स्पष्ट हो जाता है कि मेरे शरीर का प्रत्येक अवयव और स्वयं सारा शरीर घृणाजनक पदार्थो से भरा पड़ा है। वह एक नहीं, अनेक रोगों का घर है। मेरा आज का सुन्दर और स्वस्थ शरीर कल कुरूप और जर्जरित हो जाता है। क्या यह परिवर्तन मेरे लिये सचेतक नहीं है ? मुझे सोचना चाहिये कि मेरा यह शरीर चमड़ी से ढका हुआ है, वरना सड़ी हुई लाश-सी दुर्गंध भरा हुआ कर्कश हड्डियों का ठट्ठर

है ? शरीर को गंदगी ही गंदगी का समूह समझते हुये मुझे शरीर पर से अपना मोह घटाना चाहिये। शरीर को सुन्दर, निर्मल तथा बलवान बनाने की भ्रान्ति के पीछे आत्म-विकास की उपेक्षा करना मेरे लिये समुचित नहीं है तथा न ही यह समुचित है कि मैं अपने इस सदामलिन शरीर के सुख के लिये अपनी भव्य आत्मीय शक्तियों का अपव्यय करता रहूं।

अशुचि भावना के क्षणों में मुझे अनुभूति होती है कि सुधर्म ही सत्य है, पवित्र है तथा मेरी आत्मा को भी पवित्रतम बनने की प्रेरणा दे सकता है। अतः मुझे शरीर-भाव से दूर हटकर आत्म-भाव की ओर उन्मुख तथा उसी भाव में तल्लीन बनना चाहिये।

शुभाशुभ योग व्यापार

मैं जानता हूं कि आश्रव के माध्यम से ही मन, वचन, काया के शुभाशुभ योग व्यापार द्वारा शुभाशुभ कर्म ग्रहण किये जाते हैं। जैसे किसी भी तालाब में उसके चारों ओर से आने वाले नदी नालों से पानी आता है, वैसे ही आश्रव द्वारा आत्मा में कर्मों का आगमन होता है, जिससे वह व्याकुल और मलिन हो जाती है। पांच अव्रत, पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया रूप आश्रव बयालीस प्रकार का होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह की लिप्तता से जीव यहीं इसी जीवन में अनेक प्रकार के वध, बन्धन, ताड़न आदि दुःख पाते हैं। एक एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर ही हिरण, पतंगा, भंवरा, मछली, हाथी आदि प्राणी प्राणान्त तक का कष्ट भोगते देखे जाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों सें दूषित प्राणी न स्वयं सुख से जीते हैं और न दूसरों को ही सुख से जीने देते हैं। अशुभ योग व्यापार एवं क्रिया कलाप में पड़े हुए प्राणियों की भी ऐसी ही दुर्दशा होती है। मुझे यह सब देखकर अपने लिये शिक्षा लेनी है कि मैं अशुभ कर्म बंध के कारण भूत ऐन्द्रिक सुखों की असारता को समझूं, धीरे-धीरे ही सही कषायों से अपने को विलग करूं और इन सबके आधार रूप मन आदि के योग व्यापार को शुभता में परिवर्तित करूं जिससे मेरा त्रिविध योग व्यापार परिमार्जित, संशोधित और विशुद्ध बन जाय। मैं जानता हूं कि शुभ योग व्यापार से जिन पुण्य कर्मों का बंध होगा, वे भी मुझे सोने की जंजीर की तरह संसार में रोकने वाले ही होंगे, फिर भी उनके द्वारा प्राप्त होने वाली अनुकूलताओं की सहायता से मैं अपने आत्म-विकास को आसान बना सकता हूं। यह सही है कि अन्ततोगत्वा पुण्य कर्मों को भी क्षय करके ही मैं सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकूंगा।

फिर भी आश्रव भावना के द्वारा मुझे यही चिन्तन करना है कि कर्मो की जंजीर चाहे लोहे की हो या सोने की—आत्मा को संसार में ही बांध कर रखती है और मेरी स्वतंत्रता का अपहरण करती है और यह सोचकर अव्रत आदि के कुपरिणाम मुझे समझ लेना चाहिये। मैं भावना पूर्वक निश्चय करूं कि व्रतों को ग्रहण करूंगा, इन्द्रियों और कषायों का दमन करूंगा तथा अशुभ योग व्यापार का निरोध करता हुआ क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करूंगा।

कर्म-निरोधक क्रियाएँ

मैंने अनुभव किया है कि यदि नाव के पेंदे में छेद हो तो उससे पानी भीतर भरेगा और पूरा भर कर नाव को अथाह जल में डुबो देगा। इसी प्रकार आत्मा रूपी नाव में आश्रव रूपी छिद्र से कर्म रूपी पानी बराबर घुसता ही जायगा तो वह आत्मा को डुबोने वाला बनता ही है। इसकी सुरक्षा का उपाय संवर है कि नाव के छिद्रों का निरोध कर दो ताकि बाहर से आने वाला पानी रुक जायगा। अतः संवर उन क्रियाओं को कहते हैं जिन से कर्मों का आना और आत्मा से सम्बद्ध होना रुक जाता है और आत्म विकास की महायात्रा के निर्विघ्न सम्पूर्ण होने की संभावना पुष्ट हो जाती है।

मैं कर्म निरोधक क्रियाओं को अपनाने की भावना भाऊं—यह संवर भावना है। संवर के दो भेद हैं—द्रव्य संवर और भाव संवर। आश्रव से जो कर्म ग्रहण होता है, उसका अंश और सर्व रूप से छेदन करना द्रव्य संवर होता है तो भव हेतुक क्रिया का त्याग करना भाव संवर है। समिति, गुप्ति, मुनिधर्म, ध्यान, भावना, परिषह—सहन चारित्र आदि सभी आते हुए कर्मों को रोकते है—इस कारण द्रव्य संवर के रूप होते हैं। संसार सम्बन्धी क्रिया का ही त्याग कर देना भाव संवर है।

मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की दिशा में संवर का अत्यधिक महत्त्व होता है। मुझे वास्तविक सुख की खोज है और मैं चाहता हूं कि उसकी प्राप्ति के लिये अपना परम पुरुषार्थ लगाऊं तो उसके लिये संसार की नैमेत्तिक क्रियाओं से विरत होना अनिवार्य है। मैं समझता हूं कि यदि संसार के प्रति मेरे हृदय में उदासीनता का भाव जग जाय, त्याग—भाव के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न हो तथा आत्म विकास की तीव्र लगन लग जाय तो कर्म निरोधक क्रियाओं के द्वारा आश्रव को जीत लेना आसान हो जायगा। संवर भावना के नियमित चिन्तन से मेरी आत्मा की संवर क्रियाओं में रुचि बढ़ेगी तथा

कर्मों का मूलोच्छेदन

मुझे अपने सुगुरूओं से सद् ज्ञान मिला है कि संवर भावना द्वारा नवीन कर्मो के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं की तरफ मैं उन्मुख होऊंगा तो मुझे निर्जरा भावना के माध्यम से यह भी चिन्तन करना होगा कि जो कर्म मेरी आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनका सर्व–प्रकारेण मूलोच्छेदन (नाश) कैसे किया जाय ? संसार के परिभ्रमण के कारणभूत कर्मो को उनके बीजों सहित क्षय करने की भावना ही निर्जरा भावना है। यह दो प्रकार की है–सकाम और अकाम। कर्मो का सम्पूर्णतः क्षय हो–इस विचार से तपाराधन द्वारा उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है और फल देकर कर्मों का स्वभावतः अलग हो जाना अकाम निर्जरा है। कर्मों का विपाक अपने स्वभाव तथा आत्मा के उपाय–दोनों प्रकार से होता है। जैसे एक आम डाल पर अपने आप पक जाता है और दूसरे आम को घास आदि से ढककर प्रयत्नपूर्वक भी पकाया जाता है। आत्मा के उपाय से जो निर्जरा की जाती है, वह बारह प्रकार के बाह्य एवं आभ्यंतर तपों की आराधना से संभव होती है। आगामी अधापों में तप का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

मैं जानता हूं कि जिस प्रकार अग्नि सोने के मैल को जलाकर उसे विशुद्ध बना देती है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि आत्मा की कर्म–मलिनता को नष्ट करके उसके शुद्ध–स्वरूप को प्रकट कर देती है। पाप रूपी पहाड़ को चूर्ण करने के लिये तप वज्र रूप है, पाप रूपी सघन धन श्रेणी को बिखेर देने के लिये यह आंधी स्वरूप है। तप का आचरण महापापियों के पाप पुंज को भी भस्मीभूत कर देता है। तपा चरण का अपार महत्त्व है। इससे बाह्य और आभ्यंतर शत्रु जीते जा सकते हैं, इसके प्रभाव से लब्धियों और सिद्धियों की प्राप्ति होती है तो यह तपाचरण आत्म स्वरूप प्रकटाने में सहायक होता है।

मैं निर्जरा के गुणों पर गहराई से विचार करूंगा, अपनी आत्मा को निर्जरा के लिये प्रभावित बनाऊंगा एवं कर्मो की निर्जरा के लिये पराक्रम का प्रयोग करूंगा।

स्वचालित यह लोक

मैं जब लोक के संस्थान का विचार करता हूं तब वह मेरी लोक भावना होती है। इस भावना का चिन्तन करने से तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि होती है तथा मन बाह्य विषयों से हट कर आत्मनिष्ठ एवं स्थिर बनता है। मानसिक स्थिरता का अभ्यास बन जाय तो आध्यात्मिक सुखों की उपलब्धि कठिन नहीं रहती है।

लोक का स्वरूप विस्तार से बताया गया है कि यह छः द्रव्यों–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय से युक्त है। यह लोक किसी का भी बनाया हुआ नहीं है, न ही इसका कोई रक्षक अथवा संहारक है। यह लोक अनादि और आश्वत है तथा जीव और अजीव से व्याप्त है। पर्याय की अपेक्षा इसमें वृद्धि और विनाश देखे जाते हैं। लोक का प्रमाण चौदह राजू है। इसके बीचोबीच मेरू पर्वत है। लोक के तीन विभाग हैं–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। मध्यलोक में प्रायः तिर्यंच और मनुष्य रहते हैं, अधोलोक में प्रायः नारकीय जीव रहते हैं तथा ऊर्ध्वलोक में प्रायः देवता रहते हैं। लोक के अग्रभाग में सिद्धात्मा रहते हैं। लोक का विस्तार मूल में सात राजू है, फिर घटते–घटते मध्य में एक राजू है और फिर बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक में पांच राजू का विस्तार है और ऊपर जाकर क्रमशः घटते–घटते एक राजू का विस्तार रह गया है। लोक का धन सात राजू है। जामा पहिन कर और पैर फैलाकर कोई पुरुष खड़ा हो, दोनों हाथ कमर पर रखे हों, उस आकार से लोक की उपमा दी गई है। लोक में पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है घनोदधि घनवायु पर एवं घरवायु तनुवायु पर स्थित है। यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक के चारों ओर अनन्त आकाश है। लोक में नीचे से ज्यों–ज्यों ऊपर आते हैं, त्यों त्यों सुख बढ़ता जाता है। ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक दुःख है। ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्ध के ऊपर सिद्ध शिला है। आंत्मा का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है, परन्तु कर्म भार से भारी होने के कारण वह नीचे जाती है। इस स्वरूप को समझ कर कर्मों से छुटकारा पाने के लिये आत्मा को धर्माचरण में प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है

उस समय मेरा चित्त बहुत ही दुःखी होता है जब मैं अनेक मनुष्यों को मनुष्य जैसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी मिथ्यात्त्व और माया में फंसते हुए और संसार के अथाह कूप में गहरे उतर कर इधर उधर भटकते हुए देखता हूं। सोचता हूं कि इनको बोधिरत्न की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? मैं यह आत्मालोचना भी करता हूं कि मेरा अपना बोधिरत्न कितना सुन्दर, कितना स्वरूपवान् और कितना निर्मल है ? सूक्ष्म जीवाणुओं के अत्यन्त दुःख भरे जीवन से निकल कर आत्मा त्रस में, पंचेन्द्रिय में, पर्याप्तावस्था और संज्ञित्व में तथा सबसे ऊपर मनुष्य जन्म में आकर भी आत्म ज्ञान (बोधि) से वंचित रह जाय तो यह एक शोचनीय विडम्बना ही कही जायगी। बोधि प्राप्त करने का मनुष्य जन्म ही एक उपयुक्त अवसर है और यही कारण है कि देवता भी

इस जीवन को पाने के लिये लालायित रहते हैं। इस कारण मानव जन्म में आर्य देश, उत्तम कुल, पूर्ण पांचों इन्द्रियां आदि दस प्रकार की उपलब्धियाँ पाकर बोधि प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये।

मैं अपने ही अन्तरावलोकन से जानता हूं कि बोधि–ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है। बोधि ज्ञान को कहूं और सम्यक्त्व को भी कहूं तथा रत्न त्रय भी कहूं तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बोधि का अर्थ है ज्ञान का आन्तरिक प्रकाश और धर्म साधनों की प्राप्ति। धर्म के कोई साधन कितने सत्य स्वरूप हैं–उसकी जांच परख बोधि से ही की जा सकती है। इसीलिये बोधि को रत्न कहा गया है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है उसी प्रकार बोधि की विशेषता ज्ञान है जिसकी प्राप्ति अति दुर्लभ मानी गई है। कहा गया है कि उत्तम श्रवण भी मिल जाना संभव है किन्तु सत्य पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्योंकि संसार में मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत दिखाई देते हैं।

अतः मैं बोधि दुर्लभ भावना भाता हूं कि अनेक जन्मों के बाद महान् पुण्य के योग से मिले इस मनुष्य जन्म में जब तक शरीर निरोग है, वृद्धावस्था से जीर्ण–शीर्ण नहीं हुआ है और इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, तब तक मुझे धर्म प्राप्ति का पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये। यह अवसर अमूल्य है जो आसानी से फिर मिलने वाला नहीं है। इसलिये प्रमाद को छोड़ कर मुझे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर बन जाना चाहिये, वरना यही कहा जायगा कि दूल्हा विवाह का मुहूर्त आने पर सो गया और विवाह से वंचित रह गया।

धर्म की परमहितकारी भावना

जिस धर्म के प्रभाव से स्थावर और जंगम वस्तुओं वाले ये तीनों लोक विजयवन्त हैं और जो इहलोक व परलोक में प्राणियों का हित करने वाला तथा सभी कार्यों में सिद्धि देने वाला है, उस दयामय धर्म को मैं नित प्रति भाऊं और ध्याऊं, क्योंकि उस धर्म के तेजस्वी सामर्थ्य से अनर्थ जनित पीड़ाएं भी निष्फल हो जाती हैं। ऐसी है धर्म की परम हितकारी भावना।

मैं चिन्तन करता हूं कि धर्म है क्या ? आप्त वचन समाधान देते हैं कि अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्म चित्त में लगा हुआ है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि दस भेद रूप धर्म है। जीवों की रक्षा करना धर्म है और सम्यक् ज्ञान, सम्यक्

दर्शन, सम्यक् चारित्र, रूप रत्न त्रय धर्म है। दान, शील तप और भाव रूप भी धर्म है। यह धर्म सत्य है क्योंकि वीतराग देवों ने कहा है और प्राणियों के लिये परम हितकारी है। राग और द्वेष से रहित, स्वार्थ और मोह से दूर, पूर्ण ज्ञानी व लोक त्रय का हित चाहने वाले वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट धर्म के अन्यथा होने का कोई कारण नहीं है। धर्म चार पुरुषार्थ में प्रधान है तथा सबका मूल कारण है। इस धर्म की महिमा अपार है–चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष–इसके सेवक हैं। धर्म अपने भक्त को क्या नहीं देता ? समुद्र पृथ्वी को नहीं बहाता, मेघ सारी पृथ्वी को जलमय नहीं करते, पर्वत पृथ्वी को धारण करना नहीं छोड़ते, सूर्य और चन्द्र अपने नियम से विचलित नहीं होते–ये सभी मर्यादाएं धर्म से ही बनी हुई है।

इस प्रकार मैं धर्म भावना से अभिभूत होकर अनुभव करता हूं कि धर्म बान्धव रहित का बन्धु है, मित्र हीन का मित्र है, रोगी के लिये औषधि है, धनाभाव से दुःखी लोगों के लिये धन हैं, अनाथों का नाथ है और अशरण का शरण है। धर्म भावना के प्रभाव से मेरी आत्मा धर्म से च्युत नहीं होगी तथा निरन्तर धर्मानुष्ठान में तत्पर रहेगी।

भाव शुद्धि, आत्म शुद्धि, समदर्शिता

विषयों से मलिन तथा कषायों से विकृत बने अशुभ भावों के रूपान्तरण के पुरुषार्थ को मैं आधारगत रचनात्मक कार्य मानता हूं, क्योंकि भाव–शुद्धि के बिना आगे का कोई भी प्रगतिशील चरण नहीं उठाया जा सकता है। कोई भी भाव मन में उपजता है–वह कैसा भाव है–इसकी परख भी मन को ही करनी पड़ती है तथा मन को ही निश्चय करना पड़ता है कि उस भाव का प्रकटीकरण अथवा कार्यान्वयन किया जाय या नहीं। इस दृष्टि से मन निर्णायक का कार्य करता है। अब जो आत्मा जागरूक बन कर अपने विकास का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहती है, उसे सबसे पहले अपने मन को इस रूप में साधना पड़ता है कि वह सदासद का सम्यक् निर्णय कर सके।

जब मेरा 'मैं' भी सजग हो गया है और अपने विकास की महायात्रा को सफल बनाना चाहता है तो उसे पहले मन की गति में दिशा परिवर्तन लाना होगा। मैंने यह निश्चय किया है कि मैं अब मन के कहे मुताबिक नहीं चलूंगा, बल्कि मन को अपने आदेश पर चलाऊंगा और उसका यह अर्थ होगा कि मैं प्रतिपल मन के योग व्यापार को अपने नियंत्रण में रखूंगा और मन को अशुभता में भटकने नहीं दूंगा। इस प्रकार अपनी आत्मशुद्धि और भाव शुद्धि को अन्योन्याश्रित बना दूंगा, ताकि मन एकनिष्ठ और एकाग्र वन जाय।

विभिन्न प्रकार की शुभ भावनाओं के धरातल पर जब मन का नियमित चिन्तन चलेगा तो आत्मा और मन एकरूप बनने लगेंगे ताकि शुद्धता सुरक्षित हो जायगी।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि आत्म शुद्धि तथा भाव शुद्धि एक रूप होकर मेरी आत्मा में एक नई जागृति का संचार करेगी। शुद्धि और शुभता का मनोयोग निश्चित रूप से वचन योग एवं काम योग को शुद्ध और शुभ बना देगा। तब मन, वचन, काया की शुद्धता ही जीवन की शुद्धता के रूप में ढल जायगी। मेरे जीवन की शुद्धता प्रतिफलित होगी समभाव एवं समदृष्टि के विस्तार में। सभी आत्माएं मेरी आत्मा के समान है–यह समभाव मुझे अहिंसक आचरण प्रदान करेगा तो उससे निर्मित होने वाली समदृष्टि मुझे सत्य की दिशा में अग्रगामी बनायगी। सब प्राणियों के लिये समान भाव रखना तथा व्यवहार की दृष्टि से सबको एक समान देखना–यह आत्म विकास का उच्चतर सोपान होता है।

यही समदर्शिता का सोपान होता है। उस अवस्था में न राग रहता है और न द्वेष। न कोई प्रिय होता है, न कोई अप्रिय। सूक्ष्म प्राणी से लेकर मनुष्य और संसार की सभी आत्माएं उसकी आत्मीय हो जाती है। सबके संरक्षण का वह अभिलाषी होता है। यों कहें कि उस महान् आत्मा की करुणा का विस्तार सम्पूर्ण लोक तक फैल जाता है।

समदर्शिता से ज्योतिर्मयता

समदर्शिता आत्मा का मूल गुण है। ज्यों–ज्यों आत्मा अपने कर्मो के आवरणों को दूर करती हुई अपने मूल स्वरूप को प्रकट करती जाती है, त्यों–त्यों उसके भीतर छिपी हुई ज्ञान और दर्शन की ज्योति भी जगमगाने लगती है। समदर्शिता की परिपुष्टता के साथ यह ज्योतिर्मयता भी अधिकाधिक सुप्रकाशित होती हुई चली जाती है।

समदर्शी ज्योतिर्मय महापुरुषों का आदर्श ही मुझे अनुप्राणित करता है यह समझने के लिये कि मैं भी समदर्शी हूं ज्योतिर्मय हूं और यह पुरुषार्थ बताने के लिये कि मैं भी अपनी आत्मा में आवृत्त अपनी समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट कर सकता हूं। मैं समझ चुका हूं कि विषय–कषाय की वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ जब मन्दतर बनती जायगी तो उसके साथ–साथ संसार में भटकाने वाले मूल दोष–राग और द्वेष भी घटते जायेंगे। द्वेष के त्याग से भी राग का त्याग कठिनतर होता है अतः मैं भावना भाता हूं कि मैं द्वेष भी छोड़ूं और अन्ततोगत्वा राग को भी त्याग

दूं। जिस दिन मैं वीतराग भाव का वरण करूंगा, वह दिन मेरा धन्य होगा ऐसा मेरा मनोरथ चलता है। वीतराग भाव की अवाप्ति के साथ ही आत्मा की समदर्शिता एवं ज्योतिर्मयता अपनी पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। यह अरिहंत पद का स्वरूप होता है और आत्मा जब सिद्ध पद को प्राप्त होती है तब तो मात्र ज्योति में ज्योति स्वरूप रूपान्तरित हो जाती है। यही आत्म विकास की महायात्रा का गंतव्य है।

पांचवां सूत्र और मेरा संकल्प

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि मैं मूल रूप से समदर्शी हूं, ज्योतिर्मय हूं और यह आस्था ही मेरा सम्बल है कि मैं अपने सत्पुरुषार्थ की निरन्तर सक्रियता से कभी न कभी इस या आगामी जन्मों में अपने समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणों को प्राप्त कर सकूंगा।

अतः मैं संकल्प करता हूं कि अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिये आत्मीय गुणों के प्रकटीकरण स्वरूप विभिन्न चरणों को संयम पूर्वक स्वीकार करता हुआ सर्व प्रथम विषय कषायों से विश्रान्ति लेते हुए योग व्यापार की वृद्धिशील शुभता का वरण करूंगा। भाव शुद्धि के क्रमिक अभ्यास के साथ ही गुणों के उच्चतर स्थानों पर मैं आरूढ़ होता जाऊंगा, समभाव एवं समदृष्टि की पुष्टता से समता रस का आस्वादन करूंगा तथा एक दिन समदर्शी एवं ज्योतिर्मय बनूंगा। मेरे इस समुन्नत आत्म स्वरूप का मूलाधार मन, वचन, कर्म का शुभत्व होगा–इस दृष्टि से मेरा संकल्प होगा कि मैं भावनाभिभूत होकर शुभ योगधारी बनूंगा।

अध्याय सात

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 6

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूँ

और मुझे क्या करना चाहिये।

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप में सिद्धात्माओं जैसा ही है। मुझे देखना है और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ़ गया है ? अपने आन्तरिक स्वरूप एवं जागतिक वातावरण का द्रष्टा बनकर मैं आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊंगा, शुभ परिवर्तन का पराक्रम प्रकट करूँगा एवं अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमें समभाव जगाऊँगा।

सूत्र छठा

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ। मेरी आत्मा अपने मूल गुण की दृष्टि से अनन्त पराक्रम एवं अनन्त पुरुषार्थ को धारण करती है, भले ही उसकी यह धारणा–शक्ति वर्तमान में आच्छादित बनी हुई है। मैं उसे प्रकट कर सकता हूं और इसी पराक्रम एवं पुरुषार्थ के माध्यम से मैं अपनी आत्मा को इस मूल गुण से सुशोभित बना सकता हूं।

मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं। मेरा पराक्रम अटूट है और पुरुषार्थ अथक। मैं मेरे पराक्रम को अटूट इसलिये कहता हूं कि वह वज्र के समान हैं। जैसे वज्र कभी टूटता नहीं और अपुरुषार्थ पर गिरे, उसे तोड़े बिना रहता नहीं, वैसे ही मेरा पराक्रम स्वयं कभी खंडित नहीं होता और अपुरुषार्थ के प्रति वह प्रायोजित हो जाता है, उसे अखंडित रखता नहीं। (यह एक देशीय उपमा है।)

मैं पराक्रमी हूं क्योंकि मैं पुरुषार्थी हूं। मेरा पौरुष अपनी गति और प्रगति की कोई सीमाएं नहीं जानता। वह समतल भूमि पर ही चलने में समर्थ नहीं है, अपितु आकाश की अनन्त ऊंचाइयों पर और सागर की अतल गहराइयों में भी उसे वेग से बढ़ता चला जाता है। वह कभी हार नहीं मानता। मेरा पुरुषार्थ अपराजेय है।

मैं पुरुषार्थी हूं–पुरुषार्थ ही मेरा धर्म है, प्रमाद मेरा धर्म नहीं–स्वभाव नहीं, विभाव है। कषाय आत्मा से प्रमाद आता है तो मेरी ज्ञान आत्मा उसे पुरुषार्थ में नियोजित करने का आह्वान करती है और सम्यक् ज्ञान आत्मा दर्शन आत्मा चरित्र आत्मा आदि से जुड़ कर वह आत्मा विकास की महायात्रा में गतिशील बनता है और मानव जीवन को अपने गंतव्य के निकट पहुंचाता है।

मैं पुरुष हूं इसी कारण पुरुषार्थी हूं। यहाँ पुरुष शब्द लिंगवाचक नहीं, गुणवाचक है। जो भी पौरुष को धारण करता है, वह पुरुष होता है। लिंग के वाच्यार्थ से सोचें तो कोई पुरुष होकर भी पुरुष नहीं होता, जबकि कोई

पुरुष न होकर भी पुरुष बन सकता है। पुरुष का मूल गुण उसका पौरुष होता है। मैं पौरुष का धनी हूं, इसीलिये पुरुष हूं और पुरुष हूं तो पुरुषार्थ मेरा धर्म हैं।

पौरुष एक गुण होता है, एक शक्ति होती है। उस शक्ति का प्रयोग और उपयोग कहां और किस प्रयोजन हेतु किया जाय—यह सम्यक् ज्ञान, सुदृढ़ आस्था एवं सद्विवेक पर निर्भर है। जब आकाश में सूर्य चमक रहा हो तो उस जाज्वल्यमान प्रकाश में अपना छोटा—सा टिमटिमाता दिया लेकर चलने में कोई बुद्धिमानी नहीं। उस समय सूर्य के प्रकाश का उपयोग ही श्रेयस्कर होगा। वीतराग देवों ने पथ प्रशस्त कर रखा है कि आत्मा को अपना पुरुषार्थ किस दिशा में लगाना चाहिये ? मुझे उसी प्रशस्त पथ को अपनाना है तथा अपने पुरुषार्थ को उसी पथ पर गति करने में लगाना है। इस कारण मेरे पुरुषार्थ के सामने शंका या सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसे जागना है और इस पथ पर चल पड़ना है। इसीलिये मैं कहता हूं कि मैं पुरुषार्थी हूं—दिशाहीन पुरुषार्थी नहीं, सुदिशा में सम्यक् रीति से अग्रगामी बनने वाला पुरुषार्थी—अपने साध्य को साध लेने वाला पुरुषार्थी।

मैं पुरुषार्थी बनता हूं तभी तो पराक्रमी होता हूं—पुरुषार्थ का उत्कृष्ट स्वरूप ही तो पराक्रम में परिवर्तित होता है। पुरुषार्थ प्रारंभिक रूप होता है तो पराक्रम उसी का विकसित रूप। तब मेरा पराक्रम वज्र स्वरूपी बन जाता है। यह किसी भी शक्ति के तोड़े नहीं टूटता और अति सिष्ट पराक्रम से कर्म तोड़े जाने पर अखंडित नहीं बचते। मेरी आत्मा का और सभी भव्य आत्माओं में ऐसा ही अनन्त पराक्रम और अनन्त पुरुषार्थ होता है।

आत्मा का ऐसा पराक्रम और पुरुषार्थ सदा आत्मा के ही हित में प्रयुक्त होता है—चाहे वह मेरी स्वयं की आत्मा हो अथवा अन्य किसी की भी आत्मा। आत्म—हित ही प्रत्येक आत्मा का श्रेष्ठ पराक्रम और सत्पुरुषार्थ होता है, अतः स्व—पर कल्याण ही पराक्रम और पुरुषार्थ की सुदिशा होती है। मैं पुरुषार्थी हूं, इस कारण हर समय चिन्तन करता रहता हूं और जांचता—परखता रहता हूं कि मेरा पुरुषार्थ सुदिशा में प्रगति कर रहा है अथवा नहीं। मेरी यह जागरुकता मेरे पुरुषार्थ की जागरुकता बन जाती है।

मुझे एक रूपक याद आ रहा है। एक फक्कड़ बाबा थे। उनके दो भक्त थे। एक दिन उन्होंने अपने भक्तों से पूछा—क्या तुम्हारी मेरे में पूरी आस्था है ? दोनों ने हृदय से कहा—हमारी आप में पूर्ण आस्था है। आपके कथन को हम सदा सत्य मानते हैं। बाबा तब बोले—अच्छा, तो दोनों मेरे साथ चलो।

बाबा के साथ दोनों चल पड़े। चलते-चलते बाबा एक बीहड जंगल में पहुंच गये। फिर वे एक पहाड़ पर चढ़ने लगे। दोनों भक्त भी उनके साथ चढ़ने लगे। बाबा का वाक्य उनके लिये प्रमाण था।

पहाड़ की चोटी पर चढ़कर बाबा ठहर गये। उन्होंने दोनों को पहाड़ की दूसरी तरफ का दृश्य दिखाया। पहाड़ के नीचे ही बडे-बड़े गड्ढे और चौड़ी खाइयां थी। गड्ढों और खाइयों के आगे लोगों का बहुत बड़ा झुंड अस्त-व्यस्त अवस्था में दुःख-भाव से घूम रहा था। जमीनें के ऊबड़-खाबड़पन में उन्हें कहीं निवास-योग्य स्थान नजर नहीं आ रहा था। चारों ओर भांति-भांति की असुविधाएं मुंह बाये खड़ी थी। वे बोले-यह दृश्य देख रहे हो न ? दोनों ने हाँ, में उत्तर दिया तब बाबा ने ही पूछा-इसे देखकर तुम क्या सोचते हो ? दोनों ही लोगों के हृदय उस झुंड की व्यथा से द्रवित हो उठे थे, अतः कहने लगे-इन लोगों का दुःख दूर किया ही जाना चाहिये। बाबा प्रसन्न हो उठे, कहने लगे-लेकिन जानते हो, यह दुःख दूर कैसे होगा ? दोनों बाबा का आदेश सुनने के लिये मौन खड़े रहे।

बाबा तब अपनी पौरुषभरी आवाज में बोले-जिस पहाड़ की चोटी पर हम खड़े हैं, इस पूरे पहाड़ को खोद देना होगा और पास के गड्ढों व खाइयों को उससे पाट देना होगा ताकि सारी भूमि समतल बन जाय और इन लोगों के लिये निवास-योग्य हो जाय। तब दोनों भक्तों का उत्तर एक नहीं रहा। पहला बोला-महाराज, पहाड़ को खोद डालना आसान काम नहीं है किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी आसान काम करना नहीं चाहता। आसान काम तो किसी का भी पुरुषार्थ कर डालेगा, फिर मेरे पुरुषार्थ की क्या विशेषता ? मैं आपके आदेश का पालन करने के लिये तत्पर हूं और विश्वासपूर्वक निवेदन करना चाहता हूं कि चाहे जैसी बाधाएं मेरे बीच में आवे, मैं समूचे पहाड़ को खोद दूंगा, गड्ढों और खाइयो को पाट दूंगा और इन लोगों की निवास व्यवस्था में सहायता करूंगा। मेरी सफलता मेरे अथक पुरुषार्थ से मिलेगी और मेरा पुरुषार्थ मेरे भीतर के बढ़ते हुए आनन्द के साथ आगे बढ़ता रहेगा। बाबा का चेहरा खिल उठा।

तब बाबा ने दूसरे भक्त के चेहरे पर अपनी दृष्टि जमाई। वह कुछ नहीं बोला। बाबा ने ही पूछा-तुम चुप खड़े हो, क्या तुम्हें मेरे कथन में विश्वास नहीं है ? वह बाबा के चरणों में गिर पड़ा और रूंधे कंठ से बोला-मुझे आपके कथन में अटल विश्वास है, किन्तु....। यह 'किन्तु' क्या है ?- बाबा कड़के। वह कहने लगा-इतना बड़ा पहाड़ भला मैं कैसे खोद सकूंगा ? मेरे लिये यह

असंभव है। बाबा की ओजस्वी वाणी फूटी—तुम पुरुष होकर भी पुरुषार्थी नहीं हो। 'असंभव' शब्द पुरुषार्थी के शब्द कोष में होता ही नहीं है। पुरुषार्थी के लिये कोई भी दूरी अलंघ्य नहीं होती, कोई भी ऊंचाई या गहराई अभेद्य नहीं होती तथा कोई भी कार्य असंभव नहीं होता। हो सकता है कि कोई कार्य वह शरीर के माध्यम से न कर सके किन्तु उसकी भावना में असंभवता कहीं भी नहीं होती। क्या तुमने अपने साथी का उत्तर नहीं सुना ? कठिनाई से उसके मुंह से शब्द निकले—सुना है महाराज और मैं आज ही समझ पाया हूं कि हम दोनों की आन्तरिकता में कितना बड़ा अन्तर रह गया है ? मैं अब तक दोनों में समान विकास का ही अनुभव कर रहा था। मैं लज्जित हूं देव कि आज तो मैं इस पहाड़ को खोद डालने का विश्वास आपको नहीं दिला सकूंगा। मैं अपने सोये हुए पौरुष को जगाऊंगा और एक दिन आपके विश्वास को साकार बनाने का कठिन प्रयत्न करूंगा। बाबा का चेहरा खिला नहीं, लेकिन मुरझाया भी नहीं। वे इतना ही बोले—वत्स, यह तुम्हारी पुरुषार्थहीनता तुम्हारे प्रमाद के कारण है। प्रमाद को मिटाये बिना पुरुषार्थ नहीं जागता। पुरुषार्थ को जगाने के लिये निरन्तर यह सोचते रहना पड़ता है कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये ? और जब पुरुषार्थ जाग जाता है तो वह न कहीं भी थकता है और न कभी हारता है। वह असंभव को संभव बना देता है।

मैं सोचता हूं कि मैं फक्कड़ बाबा का कौनसा भक्त हूं ? पहला या दूसरा ? अथवा कोई भी नहीं ? क्या आज मैं अपने पुरुषार्थ को सजग और सक्रिय बनाये हुए हूं ? या अभी भी मुझे अपने पुरुषार्थ को जागृत करना शेष है ? अथवा क्या अभी तक मैं अपना भावनापूर्ण निश्चय ही नहीं कर पाया हूं कि मुझे अपने अथक पुरुषार्थ को जगाना है और प्रमाद की गहरी नींद में सोया हुआ हूं ? मुझे अपनी दशा और विदशा पर तीखी नजर डालनी है। मैं अगर बाबा के किसी भी भक्त के समान नहीं होऊं तो मेरे लिये अतीव लज्जापूर्ण अवस्था है, जिसे बदलने के लिये मुझे तत्काल सन्नद्ध हो जाना चाहिये। फिर तुरन्त बाबा का पहला भक्त न भी बन सकूं तो दूसरा भक्त तो हो ही जाऊं—स्व—पर कल्याण हेतु अपने पुरुषार्थ को जगाने का संकल्प तो ले ही डालूं।

चिन्तन, संशोधन एवं परिवर्तन की इस प्रकार की प्रक्रिया में मैं निरन्तर सोचता रहूं कि मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं—अटूट पराक्रम एवं अथक पुरुषार्थ का धनी।

ज्ञेय, हेय एवं उपादेय

मैं पुरुषार्थी हूं तो मैं अपने पुरुषार्थ के क्षेत्रों का सम्यक् ज्ञान करूंगा और यह जानूंगा कि किन–किन तत्त्वों एवं विषयों को मै समझूं, उन में से किन–किन तत्त्वों एवं विषयों का मैं त्याग करूं। तथा किन–किन तत्त्वों एवं विषयों को मैं ग्रहण करूं। यहाँ विषय का अर्थ है तत्त्वों का स्वरूप तथा यथार्थ वस्तु स्थिति। तत्त्वों एवं विषयों या यह स्वरूप ही श्रेय, हेय एवं उपादेय रूप में तीन प्रकार का कहा गया है। वीतराग देवों की आज्ञा है कि इस संसार में वर्तने वाले तत्त्वों को जानो और जाने गये तत्त्वों में से त्यागने लायक तत्त्वों को त्यागो तथा ग्रहण करने लायक तत्त्वों को ग्रहण करो। ज्ञेय, हेय एवं उपादेय का सम्यक् ज्ञान ही मुझे आत्मोद्धारक तत्त्वों को ग्रहण करने की प्रेरणा देगा।

यों तो संसार के सभी तत्त्व एवं वस्तु–विषय ज्ञेय हैं–जानने लायक हैं, फिर भी उनका इस रूप में वर्गीकरण किया गया है :

(1) कर्म–चेतन तत्त्व को जड़ तत्त्व से सम्बद्ध बनाये रखने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्‌गलों को कर्म कहते हैं और वस्तुतः इन्हें मनुष्य के कार्य रूप में ही देखें कि जिनके आधार पर कर्मों का बंधन होता है। जैसा कार्य, वैसे कर्म और जैसे कर्म वैसा फल। इस चक्र को जो समझ लेता है, वह अपने कार्यो के स्वरूप को भी समझने लग जाता है। प्रत्येक कार्य को करते समय मनुष्य की यह सावधानी बन जाती है कि उसका कार्य कैसा है–वह शुभ है या अशुभ ? दूसरों को सुख देने वाला है या दुःख देने वाला ? और उस के आधार पर वह समझ लेता है कि कौनसा कार्य उसे करना चाहिये और कौनसा कार्य उसे नहीं करना चाहिये ? उसके सामने कारण स्पष्ट हो जाता है कि जैसा कार्य वह करेगा, वैस ही कर्म उसकी आत्मा के साथ बंध जायेंगे और ये कर्म बिना अपना तदनुसार फल भुगताएं छूटेंगे नहीं।

(2) भाग्य–मनुष्य के सामने जो फल–भोग आता है, उसे ही भाग्य का नाम दिया गया है। भाग्य मनुष्य पर कोई भी अन्य शक्ति थोपती नहीं अथवा कोई भी शक्ति प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर उसके भाग्य का निर्माण करती नहीं। यह मनुष्य के स्वयं के ही पहले किये हुए कार्य होते हैं जो कर्म रूप में बंध कर उसे अच्छा या बुरा फल–भोग देते हैं। उस रूप में अपने भाग्य अथवा नियति का स्वयं आत्मा ही रचयिता होती है। आत्मा के साथ ही उसके कार्यो के परिणाम स्वरूप कर्मो का बंधन होता है, जो आत्मा के साथ ही जुड़ा रहता है जिसके कारण पिछले जन्म का फल भोग इस जीवन में

या आगे के जन्मों में उदय में आता रहता है। यही भाग्य–चक्र होता है जो भव भवान्तर तक चलता रहता है। शरीर अथवा अन्य साधन–सुविधाओं की प्राप्ति इसी भाग्य चक्र के अनुसार होती रहती है। मूल तत्त्व इस रूप में ज्ञेय है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता होता है और यदि वह चाहे कि उसे सौभाग्य प्राप्त हो तो शुभ कार्यों में उसे सदा प्रवृति करनी चाहिये तथा वह अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा तो उसे दुर्भाग्य भुगतना ही पड़ेगा। भाग्य के इस स्वरूप को समझ लेने पर अपने कार्यो के सम्बन्ध में मनुष्य का विवेक अवश्यमेव जागृत होगा।

(3) मन—यद्यपि मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य आत्मा से ही करता है, पर उसमें महत्त्वपूर्ण सहायक मन होता है मन द्वारा जिस प्रकार का विचार किया जाता है, उसी का रूपान्तरण उसके कार्यों में झलकता है। इस रूप में मनुष्य का बन्धन और उसका मोक्ष उसके स्वयं से ही उत्पन्न होता है। आवश्यकता है व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्यक् ज्ञान से अनुरंजित बनाकर मन के सहारे आत्माभिमुखी गति करे।

(4) भाषा—मनुष्य के कार्यो का विचार आत्मा द्वारा मूल मन में पैदा होता है तो उनका उच्चार भाषा के माध्यम से बाहर फूटता है। विचार का प्रहार दूसरे के अनुभव में उतने वेग से नहीं आता, जितना भाषा का प्रहार आता है। कहा जाता है कि कटु वचन तलवार की तेज धार से भी अधिक मारक होता है। तलवार से पड़ा हुआ घाव तो फिर भी समय गुजरने पर भर जाता है, मगर वचन का घाव बड़ी मुश्किल से ही भरता है। अतः भाषा का विवेक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(5) मृत्यु—जीवन में सतत जागृति के लिये मृत्यु का स्वरूप जान लेना परमावश्यक है। इस संसार में अपनी विकारपूर्ण कामनाओं को पूरी कर लेने की धुन में मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम छोर तक भी इस बेपरवाही से भागदौड़ करता है जैसे उसको इस संसार से कभी विदा ही नहीं होना ही—मरना ही नहीं है वह सरंजाम सौ बरस के करता है जबकि एक पल का भी पता नहीं होता कि वह किस पल यहाँ इस जीवन से उठ जायगा। मृत्यु को सदा ध्यान में रखते हुए मनुष्य विषय–कषायों से दूर हटे तथा संयम साधना में प्रवृत्त रहे—यह है मृत्यु के स्वरूप ज्ञान का एक पहलू। दूसरा पहलू यह होगा कि वह मृत्यु के ही संदर्भ से आत्मा की अमरता का ज्ञान करे। मृत्यु एक जीवन और उस जीवन में प्राप्त शरीर का अन्त करती है, आत्मा के अस्तित्व का नहीं। जीर्ण वस्त्र त्याग कर जैसे नया वस्त्र धारण किया जाता

है, वैसे ही यह आत्मा एक जीर्ण शरीर को छोडकर आयुष्य समाप्ति के बाद नया शरीर धारण कर लेती है। मृत्यु के इन दोनों पहलुओं का ज्ञान मनुष्य को सतत आत्म–जागृति तथा अपने अस्तित्व की निरन्तरता का बोध देता है।

(6) परिवार—मनुष्य गर्भावस्था में और अपने जन्म के साथ अपनी माता से लेकर अपने परिवार जनों के ही प्रथम सम्पर्क में आता है। यही कारण है कि अति विस्तृत मानव समाज में परिवार ही एक आधारभूत घटक माना गया है, सांसारिक परिस्थितियों के थपेड़ों में पड़ने के बाद मनुष्य तथा उसके परिवार जनों का पारस्परिक व्यवहार भी शुभता और अशुभता के रंगों में से होकर गुजरता है। इसमें जितना सद् विवेक सब में होता है। उतने ही परिवार में शुभ रंग खिलते हैं और पारिवारिक आत्मीयता से जुड़े हुए होने पर भी परिवार के सदस्य यदि स्वार्थ और कलह में डूब जाते हैं तो अशुभता के बदरंग भी साफ नजर में आ जाते हैं। यह परिवार का एक स्वरूप है किन्तु हमारी विकसित संस्कृति इसका दूसरा स्वरूप भी बताती है कि सारी वसुधा ही हमारा परिवार है अर्थात् सम्पूर्ण संसार के समस्त जीवों का परिवार ही हमारा परिवार है। यह आत्मा अनादिकाल से इस संसार में भव भ्रमण कर रही है और इस संसार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है जो इस आत्मा के जीवन सम्पर्क में न आया हो अथवा ऐसा कोई जीव भी नहीं होगा जिस के साथ किसी न किसी जन्म में इस आत्मा का सम्बन्ध न रहा हो अतः जन्म जन्मों का परिवार यह समूचा संसार है। वर्तमान परिवार तो मात्र इसी जन्म का परिवार है। अतः विशाल परिवार के प्रति मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये।

(7) मित्र–शत्रु—सामान्य परिभाषा के अनुसार जो सहायता करे वह मित्र और जो विरोध करे वह शत्रु कहलाता है। यह स्थूल परिभाषा है जबकि शत्रु–मित्र की सूक्ष्मता मनुष्य के अन्तर्मन की भावनाओं से सम्बद्ध रहती है। मैत्री की मूलाधार भावना होती है—सदाशयता और शत्रुत्व की स्वार्थ मूलक विद्वेषात्मक भावना। इस दृष्टि से शत्रु या मित्र दूसरा व्यक्ति नहीं होता बल्कि अमुक प्रकार की भावना से जुड़ने के कारण शत्रुत्व या मित्रत्व उसमें आता है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो व्यक्ति नहीं, अच्छी भावनाएं ही असल में मित्र और बुरी भावनाएं ही शत्रु होती हैं। अतः बुरी भावनाओं को परास्त करें तथा अच्छी भावनाओं को जीवन में स्थान दें। तब शत्रु कोई नहीं रहेगा और संसार के समस्त के समस्त जीव मित्र महसूस होंगे। जो बुरी भावनाओं के समस्त शत्रुओं को जीत लेता है, वही तो अरिहंत कहलाता है। अरिहंत बनना ही तो

भव्य आत्मा का साध्य है अतः मित्र–शत्रु भेद को सम्यक् रीति से समझ लेना उसके लिये अनिवार्य है।

(8) सबल–दुर्बल–यह भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने योग्य विषय है कि बल किसे कहते हैं और वह कहाँ रहता है ? बिना यथार्थ तत्त्व ज्ञान के मनुष्य झट से कह सकता है कि बल शरीर का होता है, धन का होता है, सत्ता और पद का होता है, परिवार या कुल का होता है अथवा राज्य और सेना का होता है किन्तु यह उसकी स्थूल विचारणा होती है। वह जब अपनी आत्मा को बली बना लेता है और आत्म बल की शक्ति का अनुभव करता है तब उसके सामने ये सारे बल तुच्छ हो जाते हैं। वह इनमें से या ऐसे किसी बल से भयभीत नहीं होता। अतः प्रमुख होता है आत्मबल और इस बल से जो संयुक्त है वह सबल तथा इस बल से हीन दुर्बल होगा। अन्य बलों से संयुक्त होने पर मनुष्य क्रूर बनता है किन्तु आत्म बल से सबल बनने पर वह दया का सागर हो जाता है।

(9) धनी–निर्धन–इसी प्रकार आत्म–जागरण ही सबसे बड़ा धन होता है और आत्म जागृत ही धनी तथा आत्म मूर्छित ही निर्धन होता है। अतः आत्मा का स्वरूप दर्शन ही अतुलनीय धन कहा गया है।

(10) भोजन–जीवन आत्मा एवं शरीर के संयोग से बनता है तथा जीवन चलाने के लिये भोजन अनिवार्य होता है। भोजन शरीर के लिये भी चाहिये और आत्मा के लिये भी चाहिये। शरीर का भोजन इस रूप में संयत और सन्तुलित हो कि वह धर्माराधना में कार्य रत बने। ऐसा कार्योद्दीपक नहीं कि वह उन्मार्ग पर इन्द्रिय सुख में भटकता फिरे। जब शरीर को सही भोजन दिया जाता है तब आत्मा को भी उस का सही भोजन मिलता है और यह भोजन होता है त्रिविध योग व्यापार का संयम एवं ज्ञानार्जन। इस प्रकार का भोजन जीवन को स्वस्थ और सुखद बनाता है।

(11) औषधि–भोजन के समान ही औषधि (दवा) का स्वरूप भी समझना चाहिये। औषधि शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने वाली तो भाव रूप औषधि आत्मा की स्वस्थता को बढ़ाने वाली होनी चाहिये।

(12) स्थावर–त्रस चलने फिरने वाले जीवों की जानकारी तो सामान्य रूप से हो जाती है किन्तु स्थावर जीवों (न चलने फिरने लायक) की जानकारी इस कारण ज्यादा जरूरी है कि उनकी रक्षा के प्रति मनुष्य की सावधानी रहे और उसकी दया उन तक विस्तृत बने।

(13) पशु–पक्षी–मनुष्य चूंकि अति विकसित शक्तियों का धनी होता है अतः उसे अबोले पशुपक्षियों के प्रति भी दयावान् होना चाहिये।

इन ज्ञेय तत्त्वों के सम्पर्क से ऐसे तत्त्वों का प्रकटीकरण होता है जिन्हें ग्रहण न करने या ग्रहण करने की अवधारणा बनानी चाहिये। पहले इस दृष्टि से हेय तत्त्वों का मुख्य विवरण दिया जा रहा है–

(1) काम–विषयेच्छा और इन्द्रिय–भोग सांसारिकता की जड़ें हैं। काम लिप्तता आत्मा को विकारी बनाती है क्योंकि काम से ही क्रोध व अन्य कषायों की उत्पत्ति होती है अतः काम का त्याग मूल त्याग बन जाता है जिसकी नींव पर सम्पूर्ण त्याग का भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

(2) क्रोध–क्रोध को क्रूर कर्मी चांडाल कहा गया है जो स्व–पर दाहक होता है। यह ऐसा दुर्गुण है जो खुद को पहले दुःखी बनाता है और फिर दूसरों को भी दुःखी करता हैं। क्रोध कषाय का मूल होता है जिसे उखाड़ने पर अन्य कषायों को समाप्त करना सरल हो जाता है।

(3) मान–आप्तवचन है कि जो क्रोध को देख लेता है, वह मान को भी देख लेता है इस रूप में ठीक मान से ही अधिकांशतः क्रोध की उत्पति होती है। मनुष्य को अपने मान की अवहेलना सहन नहीं होती और वह तुरन्त कुपित हो उठता है। इस कारण मनुष्य को मान की कठोरता का त्याग करके विनम्रता धारण करनी चाहिये।

(4) माया–संसार के दो बीज माने गये हैं–राग और द्वेष। मनोज्ञ वस्तु पर राग और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष। द्वेष से पैदा होता है क्रोध और मान तथा राग से उपजने वाली कषाय होती है माया और लोभ। माया का मतलब होता है कपटाई और धूर्तता। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति दूसरों को ठगकर करना चाहता है और उसका यह मायावी आचरण अति निकृष्ट होता है जिस का त्याग किया जाना चाहिये।

(5) लोभ–लोभ को पाप का मूल बताया गया है क्योंकि लोभ से लाभ कमाने के पागल पन में किसी कृत्य–अकृत्य का ध्यान नहीं रहता और लोभ से लाभ एवं लोभ का कुटिल चक्र चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ने से ही कषाय का चक्र टूट सकता है।

(6) मोह–आत्म स्वरूप पर जिस कर्म का बंधन रूप सर्वाधिक दुष्प्रभाव होता है, वह मोह कर्म ही होता है। मोह में पतित होने वाली आत्मा का विवेक समाप्त हो जाता है तथा वह अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियों के

कठिन जाल में उलझ कर अपने शुद्ध स्वरूप को क्षत विक्षत बना लेती है। अतः मोह को छोड़ना सबसे ज्यादा कठिन भी है तो उतना ही जरूरी भी।

(7) अज्ञान—काम भोगों और कषायों में आत्मा इसलिये भटकती है कि वह, अज्ञानग्रस्त होती है। अज्ञान के अंधेरे में वह देखना भी चाहे तो उसे सन्मार्ग दिखाई नहीं पड़ता है और अज्ञान युक्त धर्म क्रिया का भी इस कारण कोई महत्त्व नहीं होता अतः अज्ञान निवारण—यह आत्मा का पहला पुरुषार्थ होना चाहिये।

(8) पाप—अज्ञान, विषय, कषाय एवं प्रमाद से पैदा होने वाली मनुष्य की समस्त वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ पाप की परिभाषा में समाविष्ट होती है। अठारह प्रकार के पापों का जब आत्मा सेवन करती है तो वह अशुभ कर्मो का बंध करती हुई अपने स्वरूप को अति विकृत बना लेती है तथा दीर्घकालीन दुर्भाग्य को निमंत्रित करती है। अतः पाप पूर्ण वृत्ति और प्रवृत्ति का त्याग करते हुए आगे बढ़ना चाहिये।

(9) तृष्णा—यह एकदम ठीक उक्ति है कि मनुष्य-जीवन जर्जरित हो जाता है किन्तु उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं बनती है। ऐसा लालसामय अंधा रूप होता है तृष्णा का जिसके जाल में फंस कर मनुष्य मकड़ी की तरह छटपटाता है किन्तु आसानी से छूट नहीं पाता है। तृष्णा प्राप्त की नहीं, अप्राप्त की होती है और अप्राप्त की कोई सीमा नहीं होती, तृष्णा का भी अन्त नहीं आता। इसीलिये वेतरणी नदी के समान इस तृष्णा का त्याग करना ही श्रेयस्कर कहा गया है।

(10) बाल मरण—इसे भी एक हेय तत्त्व माना गया है जिसका जीवन सम्यक् सार पूर्ण रहा हो तो यह और भी अधिक आवश्यक है कि उसका मरण अति सारपूर्ण बने, क्योंकि मरण काल की आत्म जागृति विपुल रूप से सुफल दायक होती है। सारपूर्ण जीवन के अन्त में बाल (अज्ञान) मरण हो तो वह अर्जित सार भी कई बार असार बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि असारपूर्ण जीवन के अन्त में भी मरण बाल मरण न होकर पंडित मरण हो जाय तो असार जीवन भी सारपूर्ण बन सकता है। यह आपेक्षिक दृष्टि कोण है अतः बाल मरण की दुरावस्था से बचा जाना चाहिये।

(11) पर स्त्री गमन—परनारी को पैनी छूरी कहा है जो अंग अंग को छेद डालती है। इस दुर्गुण से मनुष्य स्वयं के चरित्र को बिगाड़ता है तो समाज के चरित्र को भी कलंकित बनाता है। दूसरे, वह इस भव और पर भव दोनों को बिगाड़ता है, इस कारण उसे इस दुर्गुण से दूर ही रहना चाहिये।

(12) राग द्वेष—संसार के इन बीजों की उर्वरा शक्ति को कुचल डालने पर ही सांसारिकता समाप्ति की जा सकती है। द्वेष को कुचलना अपेक्षाकृत आसान कहा गया है जबकि राग को कुचल डालना बहुत कठिन । इसी कारण द्वेष के बाद राग को भी समाप्त कर देने वाली महान् आत्माओं को वीतराग कहा जाता है। राग के सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर संसार भ्रमण समाप्त हो जाता है तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

इन हेय तत्त्वों को जानकर छोड़ देना चाहिये तथा उन तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिये जिन्हें उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य बताया गया है। ये उपादेय तत्त्व निम्नानुसार कहे गये हैं—

(1) धर्म—आत्मा का मूल स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है। अहिंसा, संयम और तप मय जो धर्म होता है, वही सर्वोत्कृष्ट मंगल कहलाता है। धर्म एक होता है अनेक नहीं। जो अनेक होते हैं, वे मत होते हैं और विवाद के मूल होते हैं। अपने धर्म को आत्मा तभी पहिचान पाती है जब वह अधर्ममय विषय कषाय का सेवन करना घटा दे और रोक दे। धर्म ही सबसे महान् शरण और त्राण होता है तथा धार्मिक क्रियाओं को करते हुए अन्तर्हृदय का आनन्द फूटता हुआ चला जाता है। सच पूछें तो इस दुर्लभ मानव तन का मूल अनुष्ठान ही धर्माचरण माना गया है। धर्म के चार द्वारों—क्षमा, सरलता, नम्रता व सन्तोष में जो अपनी आत्मा को प्रविष्ठ कराता रहता है वह जीवन में चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों नहीं आवे, सदा सत्य और नीति पर अडिग रहता है। धर्मज्ञ का मन, वचन और कर्म सदा सरल होता है और वह धर्म पर सुदृढ़ रहकर वीर बन जाता है।

(2) अहिंसा—'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली अहिंसा को परम धर्म कहा गया है क्योंकि अहिंसा के आचरण से व्यक्ति का जीवन संशुद्ध बनता है तो सामाजिक जीवन में पारस्परिक सहानुभूति एवं सहयोग की धारा प्रवाहित होती है। अहिंसा का निषेध रूप भी बहुत सूक्ष्म होता है तो उसका विधि रूप भी। प्रमत्त योग से प्राणी के दस प्राणों में से किसी भी प्राण को कष्टित करना हिंसा है तथा उस हिंसा से बचना अहिंसा का निषेध रूप होता है। कोरे वध से ही हिंसा का आचरण नहीं होता, बल्कि प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, आदि को कष्टित करना भी हिंसा रूप ही होता है अतः अहिंसा का निषेध रूप भी बड़ा व्यापक होता है और उससे भी अधिक व्यापक होता है उस का विधि रूप— जिसे रक्षा, दया, अनुकम्पा आदि नाम दिये गये हैं। संसार के समस्त जीवों के प्रति रक्षा एवं अनुकम्पा का भाव

रखना तथा उस रूप में अहिंसा का आचरण करना—यह समता का उत्कृष्ट स्वरूप होता है।

(3) सत्य—सत्य जीवन का साद्य है या यों कहें स्वयं ईश्वर है। सम्यक् विचार—समन्वय की प्रक्रिया से गुजर कर ही सत्यांश को पहिचाना जा सकता है तथा सबके विचारों के प्रति आदर भाव रखकर व सबकी सुनकर सत्याशों को एकत्रित करके पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। सत्य मन, वाणी और कार्य में समा जाना चाहिये। तथा उसे हितकारी और प्रियकारी होना चाहिये। असत्याचरण मनुष्य को अप्रतिष्ठित भी बनाता है तो अविश्वसनीय भी। असत्य के साथ जब कपटाचार जुड़ जाता है तो वह अत्यन्त घातक रूप ले लेता है। बोले गये शब्द तीर के समान होते हैं जो कभी वापस लौटकर नहीं आते अतः उन्हें तौल—तौल कर बोलना चाहिये ताकि वे सत्य भी हो एवं प्रियकारी और मधुर भी। जिसकी कथनी और करनी में जब सत्य समा जाता है तो वह सत्य के साक्षात्कार के निकट पहुंचने लगता है। सत्याचरण व्यक्ति को निर्भय, निर्लोभी, निर्विवाद एवं निर्मल बना देता है।

(4) अस्तेय—जो वस्तु प्राप्त नहीं है या नहीं दी गई है—ऐसी वस्तु को हस्तगत करना चौर्य कर्म है। चोरी में ठगाई और सीनाजोरी शामिल हो जाती है। जो लाभ श्रम के बल पर होता है, उसे जब पूंजी के बल पर हड़प लिया जाता है तो वह लाभांश भी चोरी ही कहा जायगा। अतः व्यक्ति की अर्जनशैली ही नहीं बल्कि समाज की आर्थिक नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें शोषण या चोरी की गुंजाइश नहीं हो। अस्तेय का एक अर्थ यही निकलता है संविभाग—अपने अर्जन को यथायोग्य यथा स्थान समान रूप से सबमें बांटो। इसका व्यापक अर्थ यह होगा कि समाज की अर्थ नीति को ही इस तरह ढ़ाले कि सत्ता और सम्पत्ति का एक या कुछ हाथों में संचय न हो सके तथा संविभाग का सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था में स्वयं ही साकार रूप ग्रहण कर ले।

(5) अपरिग्रह—अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना में अपरिग्रह व्रत की आराधना भी हो जाती है। मनुष्य स्वयं व्रत ले कि वह सत्ता और सम्पत्ति का संचय नहीं करेगा तथा परिग्रह प्राप्ति के लिये मूर्छित नहीं बनेगा। वह परिग्रह को अपनी आवश्यकता के अनुसार ही रखेगा तथा उपभोग—परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा भी ग्रहण करेगा। अपरिग्रह व्रत के प्रति निष्ठा पहले भाव रूप में जागनी चाहिये ताकि मूर्छा के अभाव में उसका द्रव्य रूप स्वतः ही सध जायगा। अपरिग्रही निर्ग्रंथ हो जाता है।

(6) सम्यक् दर्शन—दर्शन का अर्थ होता है देखना अतः सम्यक् रीति से देखने का नाम सम्यक् दर्शन है। दर्शन आस्था का आधार होता है अतः सम्यक् आस्था के साथ जो ज्ञानार्जन किया जाता है, वही सम्यक् ज्ञान का रूप लेता है। सम्यक् दर्शन से समभाव उमड़ता है, समदृष्टि बनती है तथा अन्ततोगत्वा जीवन के सम्पूर्ण आचरण में समता का समावेश हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता की पृष्ठभूमि पर ही ज्ञान की ज्योति जलती है तथा वही दर्शन परिपूर्ण बन कर क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप धारण करता है सम्यक् दर्शन के बिना आत्मा का पराक्रम शुद्ध नहीं बन सकता है। इसी कारण सम्यक् दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान कहा गया है जिस पर चढ़ कर आत्मा आगे के सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के सोपानों पर आरूढ़ होती है।

(7) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् आस्था युक्त ज्ञान सदा आचरण की प्रेरणा देता है। इसीलिये ज्ञान और क्रिया के सफल संयोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। सम्यक् आस्था के साथ सम्यक् ज्ञान की प्राप्त सरल बनती है। ज्ञानी आत्मा—यथा स्थान स्व—पर कल्याण को ही अपना परम उद्देश्य मानती है तथा सभी प्रकार की ऊंची नीची परिस्थितियों में समभाव रखने को उच्च आदर्श। ज्ञान से ही वस्तु का सत्य स्वरूप जाना जाता है तथा यथा दृष्टि से देखने का अभ्यास बनता है। सबके सब भावों को जानना ज्ञान का श्रेष्ठ कार्य कहा गया है क्योंकि उस से अहिंसामय आचरण ढलता है और चारित्र सहित ज्ञान जब परमोत्कृष्ट हो जाता है तो वह केवल ज्ञान होकर सम्पूर्ण लोकालोक को हस्तामलकवत् देखता है। ज्ञानी सदा सुखी रहता है और अज्ञानी सदा दुःखी। अतः स्वाध्याय में निरत रहकर सदा ज्ञानार्जन हेतु सचेष्ट रहना चाहिये।

(8) सम्यक् चरित्र—आस्था भी हो और ज्ञान भी, लेकिन यदि ये दोनों गुण आचरण में नहीं उतरे तो वे पूर्ण फल प्रदायी नहीं होती है। आचरण ऐसी कसौटी होती है जिस पर किसी की आस्था अथवा ज्ञान—गंभीरता का मूल्यांकन किया जा सकता है। मोक्ष भी ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोगी पुरुषार्थ से ही हो सकता है।

(9) श्रद्धा—धर्म सुन लें, समझ लें किन्तु उस पर यदि श्रद्धा—विश्वास न करें तो उस आत्मा का कभी भी उद्धार संभव नहीं है क्योंकि संशयात्मा, विनष्ट हो जाती है जो अपनी श्रद्धा को सम्यक् बना लेता है, वह अपने मार्ग पर कहीं रुकता नहीं है क्योंकि उसके मार्ग पर हमेशा उसके श्रद्धा पुरुष का प्रकाश छाया हुआ रहता है। ज्ञान दुर्लभ, तब श्रद्धा कठिन और उससे भी

कठिन होता है पुरुषार्थ–किन्तु यदि ये तीनों मिल जायं तो आत्म विकास में विलम्ब नहीं लगता।

(10) आत्मा–आत्मा अपने मूल गुणों के अनुसार सर्वशक्तिमान् होती है किन्तु उसकी यह शक्ति कर्म पुद्गलों से आच्छादित होकर धूमिल बनी हुई रहती है अतः कर्मों के संवर तथा निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा जब कर्मावरण समाप्त कर दिये जाते हैं तब यहीं बद्ध आत्मा बुद्ध और सिद्ध बन जाती है। संसार रूपी महासागर में यह आत्मा गोते खा रही है लेकिन यदि यह अपने शरीर को नौका बनाकर स्वयं कुशल नाविक हो जाय तो खेवापार हो सकता है। आत्मा स्वयं की स्वयं ही ज्ञाता और दृष्टा होती है तथा स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता होकर अपने स्वरूप के प्रति जागृत हो जाय तो उसके समान उसका अन्य कोई मित्र नहीं होता और जब तक वह विषय–कषायों के दल–दल में फंसी रहती है तब तक वह अपनी ही शत्रु बनी रहती है। अतः आत्मा जब स्वयं को ही जीतती है तब वह अपने आपको कर्म मुक्त कर लेती है।

(11) मोक्ष–आत्मा का उसके मूल स्वरूप में पूर्णतः कर्मावरणों से अनावृत्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है। आत्मा पौद्गलिक जड़ के साथ संयुक्त होने के कारण ही संसार में संसरण करती है और जब आसक्ति मूलक इस संयोग को सर्वथा समाप्त कर दिया जाता है तब उस आत्मा का मोक्ष हो जाता है। तब आत्मा सम्पूर्णतः स्व स्वरूप में स्थित होकर केवल ज्ञान स्वरूप हो जाती है। रत्न त्रय की साधना या ज्ञान क्रिया की आराधना ही आत्मा को मोक्षगामी बनाती है। और यह साधना व आराधना समता भाव की सम्पूर्ण अवाप्ति से ही सफल बनती है। जन्म मरण के बंधन से मुक्त होकर आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य में रमण करती है। सिद्धात्मा ज्योति में ज्योति स्वरूप एकीभूत होकर सदा काल के लिये आनन्दमय बनी रहती है। मोक्ष पद ही आत्म–विकास की इस महायात्रा का चरम गंतव्य होता है।

(12) तप–तप का अर्थ होता है तपना और तपने से मैल क्षय होता है व निर्मलता आती है। यह आत्मा संसार के विषय–कषायों में रमती हुई कर्मों का मैल अपने स्वरूप पर लेपती जाती है जिससे वह मलयुक्त बनी रहती है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण को अग्नि में तपाने से वह शुद्ध बनता है, उसी प्रकार आत्मा जब अपने आपको कठिन तपश्चरण की आग में तपाती है तब उसका कर्म रूपी मैल नष्ट होता जाता है तथा उसका निर्मल स्वरूप प्रकाशित होता

जाता है। तप कर्मों की निर्जरा करता है और आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है। तप की आराधना देह–मोह को नष्ट करती है और आत्मानन्द को प्रकट करती है। आत्मा के विकास में तपाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(13) संयम—तप करना यदि आग में तपना है तो संयम का अर्थ आत्म–मल का प्रक्षालन करना है। प्रक्षालन शान्त प्रक्रिया होती है तो तप एक कठिन प्रक्रिया। संयम का अर्थ है इच्छाओं का संशोधन ज्यों–ज्यों इच्छाओं के संशोधन का अभ्यास संयम के माध्यम से बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों विषय–कषायों का आवेग, राग द्वेष की तीव्रता तथा प्रमाद की उन्मत्तता घटती जाती है और जीवन के सभी क्रिया कलाप आत्माभिमुखी होने लगते हैं। एक बार समता के साथ दृढ़तापूर्वक जब यह आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेती है तो उसका पुरुषार्थ संयम के मार्ग पर सजग एवं सक्रिय बन जाता है। इसीलिये कहा है कि संयम पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान होता है, क्योंकि पल पल पर भटक जाने वाले मन तथा इन्द्रियों को संयमित करना होता है। संयम की साधना आत्मा की निर्मलता एवं तेजस्विता को प्रखर बनाती है।

(14) अभयवृत्ति—जो मनुष्य अपने साथियों तथा अन्य प्राणियों के मन में अपनी शक्तियों के दुष्प्रयोग से भय उपजाता है, वह भयभीत भी रहता है, इस कारण भय को बहुत बड़ा दुर्गुण माना गया है। भय के भाव को जीतना ही अभय व्रत है। इसका लक्षण है कि सबको अभय बनाओ अपने समभाव, अपनी समदृष्टि तथा अपने समतामय आचरण से और स्वयं भी अभय बन जाओ। अपने हृदय का समस्त स्नेह जो संसार के समस्त जीवों पर उडेल देता है और उन्हें सुखी बनाने के सच्चे पुरुषार्थ में जुट जाता है, वह अभय और निर्भय बन जाता है। जो आत्म बल को अभिवृद्ध बना लेता है, उसकी अभयता स्थायी और सुदृढ़ बन जाती है। आत्म बल के सिवाय अन्य सभी प्रकार के बल तुच्छ और भय प्रदायक होते हैं। आत्म बली ही अभय हो सकता है तो वही सभी को अभय दान भी दे सकता है।

(15) विनय—विनय, रूप तप और सद्‌गुण को धर्म का मूल कहा गया है। विनय गुण को अपनाये बिना धार्मिकता का आविर्भाव ही संभव नहीं बनता है। विनय मूल में होना चाहिये, तभी सभी आत्म–गुणों का विकास हो सकता है। अपने अभिमान को छोड़ने पर ही विनय प्रकट होता है। एक ओर अभिमान क्रोध आदि अन्य कषायों को उत्तेजित बनाता है तो दूसरी ओर अपने मद पोषण के लिये अपार सत्ता और सम्पत्ति का संचय करने में ऊंधा बन

जाता है। वहीं विनय गुण उस के आत्मिक अधःपतन की दिशा को ही बदल देता है और धर्म रूपी वृक्ष को हरा भरा बना देता है। विनय धर्म है, तप है और सम्पूर्ण आत्म–विकास का मूल है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, आदि सात प्रकार के विनय से आत्म स्वरूप में धृति, मृदुता और कान्ति का संचार हो जाता है।

(16) वैराग्य–संसार में राग भाव का होना ही आत्मा की कलुषितता का मुख्य कारण है। द्वेष तो राग की ही प्रतिक्रिया का रूप होता है। अतः राग से विरत होने की भावना का नाम ही वैराग्य है और यही वैराग्य जब अपनी सम्पूर्ण उत्कृष्टता के रूप में प्रतिफलित होता है तब वीतरागता की प्राप्ति संभव बन जाती है। जब आत्म–चिन्तन के क्षणों में सांसारिकता की दुरावस्था का भान होता है, सांसारिक सम्बन्धों एवं कामनाओं की तुच्छता अनुभव में आती है तथा विषय–कषाय जन्य कष्टों का सामना करना पड़ता है, तब वैराग्य की भावना उद्‌भूत होती है। वैराग्य की धारा में सांसारिकता की हेयता स्पष्ट हो जाती है। तब विरागी आत्मा संसार त्याग करके संयम के पुरुषार्थ में संयोजित हो जाती है। एकत्व आदि भावनाएं वैराग्य को प्रबल और प्रखर बनाती रहती है तथा आतमा को आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित बनाये रखती है। आत्मा को धर्म की चिर शरण में ले जाने वाला वैराग्य होता है।

(17) पुण्य–पुण्य यद्यपि कर्म बंधन है, फिर भी अपनी शुभता के कारण आत्म–विकास में एक सहयोगी की भूमिका निभाता है तथा संसारी आत्माओं को शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करने की सफल प्रेरणा देता रहता है। पुण्य को उस जहाज की उपमा दी गई है जिसमें सारी सुविधाओं के साथ बैठकर सरलतापूर्वक समुद्र पार किया जाता है। यह दूसरी बात है कि उस पार पहुंचने पर जहाज को भी छोड़ देना पड़ता है। संसार रूपी महासमुद्र को सरलता से पार कराने में पुण्य कर्म ऐसे ही जहाज का रूप बन कर आत्मा को उत्थान के चरम बिंदु तक पहुंचाता है। पुण्य कर्म के उदय में आने पर जिस प्रचुर मात्रा में सुख सुविधाएं प्राप्त होती है, उनके बीच में बैठकर आत्मा अगर मूर्छित हो जाय तो वह पाप पंक में डूब जाती है किन्तु उन्हीं सुविधाओं को यदि वह अपने उत्थान मार्ग के अनुकूल बना लेती है तो वह अपने गंतव्य तक भी पहुंच सकती है।

(18) सत्संग–एक कहावत है कि काले के पास गोरा बैठ जाय तो वह उसका वर्ण तो नहीं ले सकेगा मगर उसके 'लक्खण' जरूर ले लेगा।

इसका अर्थ है कि संगति कर जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। जैसी संगति में मनुष्य रहता है, वैसे ही गुण वह अपना लेता है। इस दृष्टि से प्रकृति के इस तथ्य को ही ले लीजिये कि स्वाति नक्षत्र में आकाश से बरसी बूंद सीप के मुंह में पहुंच कर अनमोल मोती बन जाती है तो वही बूंद सर्प के मुंह में गिर कर मारक विष का रूप ले लेती हैं। फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? इसलिये सत्संग की महिमा गाई गई है। दुर्जनों का संसर्ग मनुष्य के मन को दुर्गुणों से भर देता है तो सत्पुरुषों के सम्पर्क में रहकर मनुष्य अपने मन का संताप ही नहीं मिटाता बल्कि अपने आपको सद्धर्ममय व सद्गुण–सम्पन्न भी बना लेता है। स्वल्प सत्संग भी मनुष्य का उसी रूप में कल्याण करता है जिस रूप में स्वल्प लवण सम्पूर्ण भोजन को सुस्वादु बना देता है। सत्संग सद्धर्थ का प्रेरक होता है।

(19) क्षमा–क्षमा को वीरों का भूषण बताया है, कायरों का नहीं। जो स्वयं आत्मशक्ति से सम्पन्न होता है, वहीं दूसरों को क्षमादान दे सकता है। क्रोध और प्रतिशोध की अग्नि का शमन करके क्षमा रूपी शीतल जल का जो सर्वदा और सर्वत्र सिंचन करता है, वह स्वयं ही महात्मा नहीं बनता बल्कि जिन्हें क्षमादान देता है, उन्हें भी अपने साथ स्व–पर कल्याण के मार्ग पर अग्रगामी बना देता है। क्षमापना से आत्मा को अत्यन्त आह्लाद का अनुभव होता है और क्षमावान अन्य किसी के अपकार को नहीं, उपकार को ही स्मृति में रखता है। क्षमा का ही दूसरा नाम सहनशीलता है और सभी तरह के संकटों को जीत लेना एक क्षमावान के ही सामर्थ्य में होता है, मनुष्य का आभूषण सद्गुण है, सद्गुणों का आभूषण ज्ञान तो ज्ञान का आभूषण क्षमा धर्म है। एक क्षमावान सर्व जीवों से अपने अपराधों की निश्छल भाव से क्षमा चाहता है और वैसे ही उदार भाव से सभी को क्षमा करता है, क्योंकि वह समस्त प्राण, भूत सत्त्व और जीवों को अपने मित्र समझता है, किसी के भी प्रति तनिक भी वैरभाव नहीं रखता है।

(20) अप्रमत्तता–आत्म–विकास के विस्तृत मार्ग को एक वाक्यांश में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि एक समय (काल का सूक्ष्मतम घटक) के लिये भी प्रमाद मत करो। इससे प्रमाद का अति आत्मघातक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। विषय–कषाय के उग्र आवेश में रमण करते हुए आत्मा जिस मूर्छा एवं उन्मत्तता को प्राप्त होती है, वह दुरवस्था उसके प्रमाद की होती है। प्रमाद के वशीभूत होकर वह हिंसा भी करती है और असत्य, चौर्य, कुशील व परिग्रह का सेवन भी करती है। इस प्रकार प्रमाद उसके पतन का

महाद्वार बन जाता है। इसी दृष्टि से अप्रमत्तता को आत्म जागृति का रूपक कहा गया है। उन्माद हटे, तभी तो बुद्धि प्रकट हो सकती है और बुद्धि सुबुद्धि बनकर स्व–पर कल्याण के साध्य को साध सकती है। मद्य, निद्रा, विकथा, विषय और कषाय रूप प्रमाद जहां सुषुप्ति का कारण भूत होता है वहाँ अप्रमत्तता आत्मा को सदा जागृत रखती है और विकास के मार्ग पर सुरक्षा प्रदान करती है।

(21) समभाव—समभाव को समत्व योग कहिये जिसके सद्भाव में मनुष्य सम्पत्ति और विपत्ति में, मित्रता और शत्रुता में तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ में समान भाव रखता है तथा उसी प्रकार सभी छोटे बड़े या ऊंचे नीचे प्राणियों के प्रति भी अपने सकल व्यवहार में वह समानता बरतता है। समभाव की यह साधना आत्मदमन, जितेन्द्रिय तथा आचरण समता के कठिन अभ्यास से ही सफल बनती है। एक समभावी ही सुव्रती हो सकता है और सुव्रत से समता की उत्कृष्ट श्रेणियों में पहुंचा जा सकता है। समभाव का अड़तालीस मिनिट की सामायिक के रूप में प्रारंभ हुआ प्रशिक्षण सम्पूर्ण जीवन की सामायिक–साधुता में परिणत हो सकता है। समभाव ही भीतर बाहर की सारी गांठे खोल कर साधक को निर्ग्रंथ बना देता है। समत्व योगी की अभेद दृष्टि हो जाती है।

इस प्रकार ज्ञेय, हेय एवं उपादेय तत्त्वों का ज्ञान इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है कि सबको जानों बुरों को छोड़ो और अच्छों को अपना लो। किन्तु इसके साथ ही आत्मा में यह चेतना जागनी भी जरूरी है कि उसका अपना मूल स्वभाव क्या है, वह आवृत्त होकर विभाव कैसा ढल गया है तथा विभाव मिटाकर स्वभाव को प्रकट करने के सहयोगी तत्त्व कौन कौन से हो सकते हैं ?

आत्म-स्वभाव-विभाग चर्चा

मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं और समझिये कि मैंने ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान भी कर लिया है। किन्तु उपादेय तत्त्वों का सहयोग मेरी जागृत आत्मा ही ले सकती है। अतः मुझे आत्म स्वरूप का दर्शन करना होगा और यह अनुभव करना होगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वभाव क्या है और वर्तमान में वह कितने स्व–भाव में और कितने विपरीत भाव (विभाव) में रमण कर रही हैं ? फिर मुझे अपना पुरुषार्थ जगाना होगा कि मैं अपनी आत्मा को उपादेय तत्त्वों के ज्ञानाचरण के द्वारा विभाव से निकालूं और स्व–भाव में अधिकाधिक प्रतिष्ठित करूं।

अतः सर्वप्रथम मैं समझूं कि आत्मा का मूल स्वभाव क्या होता है और उसके विभाव का कैसा रूपक बनता है ? आत्म–स्वभाव–विभव की चर्चा से मैं आत्मा के वास्तविक विकास के मार्ग का सम्यक् प्रकारेण निर्धारण कर सकूंगा।

मेरा अनुभव यह है कि स्वभाव चाहे जितना दब जाय, छिप जाय अथवा विस्तृत हो जाय–वह कभी भी सही अपनी झलक दिखाना नहीं छोड़ता है। मैंने महसूस किया है कि जब मैं कोई ऐसा विचार मन में लाता हूं, ऐसा वचन बोलता हूं अथवा ऐसा कार्य करना शुरू करता हूं जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा नहीं चाहती–उसके विरुद्ध वह अपनी पहली आवाज जरूर उठाती है। यह दूसरी बात है कि मैं उस आवाज को अनसुनी कर दूं और अवांछित विचार, वचन या कार्य में प्रवृत्ति करता रहूं। यह पहली भीतरी आवाज आत्मा की आवाज होती है। इसी प्रकार ऐसे किसी विचार, वचन या कार्य में मेरी प्रवृत्ति होती है जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा को अच्छा लगता है तो भीतर से एक अनूठे आनन्द की धारा फूटती है जिसका अनुभव संसार में महसूसे जाने सुख के अनुभव से अलग और अनूठा ही होता है। इस रूप में 'ना' या 'हाँ' की संकेतक आत्मा की आवाज का अनुभव मुझे ही नहीं, सभी को अवश्य होता होगा। बुरी आदत यही बन जाती है कि अधिकतर लोग आत्मा की आवाज को कुचलते हुए उन्मार्ग पर आगे बढ़ते चले जाते हैं।

आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा–यह समझने–समझाने की अपेक्षा भी स्वानुभूति का विषय अधिक है। समझने–समझाने में तर्क–कुतर्क उठाये जा सकते हैं और केवल प्रमाणित करने की ही दृष्टि से अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा भी प्रमाणित किया जा सकता है किन्तु जब कोई एकाग्र जागरण के साथ भीतर झांकता और भीतर की आवाज को सुनता है तो सत्य उसके समक्ष प्रकाशित हुए बिना नहीं रहता। यों अच्छे–बुरे की जो लौकिक परिभाषाएं अथवा संवेदनाएं हैं, वे भी स्वानुभूति का धरातल बन सकती हैं। मैं सोचता हूं कि मैंने जब कभी किसी पीड़ा से कराहते हुए व्यक्ति को देखा होगा तो मेरे हृदय में करुणा और सहयोग का जो आवेग उठा होगा, उससे मुझे अवश्य ही अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव हुआ है। इसके विपरीत जब कभी मैंने अत्यन्त गुप्त रूप से भी किसी को कष्टित करने का कोई प्रपंच रचा होगा तो मेरी आत्मा ने पहले क्षण में मुझे धिक्कारा ही होगा। उस समय मेरे जागृत भाव रहे होंगे तो मैंने अपना हाथ उस प्रपंच से पीछे खींच लिया होगा अन्यथा उस आवाज को दबा कर मैं अपने उस कुकृत्य की दिशा में आगे बढ

गया होऊंगा। ऐसी मनोदशा से सभी प्राणी गुजरते हैं किन्तु अन्तर यही रहता है कि जागृत उस आवाज को सुनते हैं, उसका अनुसरण करते हैं तथा आत्मा को बलशाली बनाते रहते हैं, अन्यथा मोहग्रस्त उस आवाज को क्या कुचलता है कि अपने गुण सम्पन्न जीवन को ही कुचलता रहता है और अपने आत्मस्वरूप को अधिकाधिक कलंकित बनाता रहता है।

स्वानुभूति से मैं जान लेता हूं कि आत्मा का क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जो 'अच्छा' अच्छा लगता है वह उस का स्वभाव होता है और जो 'अच्छा' भी उसे बुरा लगने लग जाता है अथवा जो 'बुरा' भी उसे अच्छा लगने लग जाता है, वह उसका विभाव हो जाता है। स्वभाव को जहां तक आत्मा स्मृति में रखती है और उसमें स्थिर रहने का प्रयास करती है, वहां तक उसकी जागृत अवस्था ही समझी जानी चाहिये। इस जागृत अवस्था की न्यूनाधिक कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। जब मेरी आत्मा भीतर से अपनी आवाज उठाती है और वह सामर्थ्यवान होती है तो अपने मन और अपनी इन्द्रियों को वैसा अनिच्छित कार्य करने से रोक देती है। यदि उसका इस प्रकार से रोकना सफल होता रहता है तो वह स्थायी रूप से अशुभ कार्यों से दूर रह जाती है। किन्तु यदि उसकी नियंत्रण शक्ति ढीली होती है तो वह अपने मन व इन्द्रियों को रोक नहीं पाती है। ऐसी आत्मा अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों के पीछे घिसटती हुई चलने लगती है। उसकी ऐसी अनियंत्रित अवस्था ही उसकी सुप्राप्ति बन जाती है। तब उसका भटकना अपने विभाव में होता है। वह विभाव उसे कर्म बंधनों में बांधता रहता है और उसे भारी बनाता रहता है। फिर वह उस कर्म भार के कारण नीचे से नीचे गिरती रहती है और विभाव की सघन स्थिति में फंस जाती है।

मैं अनुभव करता हूं कि आत्मा मूल रूप में हलकी होती है और जब तक वह हलुकर्मी रहती है तब अपने स्वभाव के ऊपर तैरती रहती है किन्तु कर्मों के भार से जब वह भारी बनने लगती है तो फिर वह डूबने लगती है। विभाव की अतल गहराई में वहां कहां तक नीचे डूबती चली जाती है, वह उसकी प्रमाद अवस्था की सघनता पर निर्भर करता है। यह नियम भी नहीं है कि जब वह तैरती है तो तैरती ही रहती है अथवा डूबना शुरू करती है तो डूबती ही चली जाती है क्योंकि आत्मा का यह तैरना और डूबना उसकी भाव-सरणियों पर आधारित होता है। तैरते रहने की दशा में जब भावनाएं विकृत होती है तो वह डूबने लगती है। डूबते-डूबते भी जिस रूप में उसकी भावनाओं में संशोधन होने लगता है तो उस परिमाण में वह फिर ऊपर उठने

लगती है। यह तैरना और डूबना इस प्रकार निरन्तर चलता रहता है जो गतियों में परिलक्षित होता है। जैसे कि यह आत्मा के ऊपर उठ जाने का प्रमाण है कि मुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। यदि मैं इस उपलब्धि का सदुपयोग करूं और अपनी भावनाओं को शुभता के रूप में परिवर्तित करता हुआ चलूं तो मैं अपनी आत्मा को और ऊपर उठाता हुआ चल सकता हूं—यहां तक कि वह सतह तक पहुंच जाय और पूर्ण हलुकर्मी बन जाय। इसके विपरीत मैं आत्माभिमुखी न रहकर संसार के काम भोगों में लिप्त होता रहूं तो तैरने के प्राप्त स्तर को छोड़कर नीचे डूबता चला जाऊंगा और यह भी मेरी करणी पर निर्भर करेगा कि मैं कितना नीचे पहुंच जाऊं। इस जन्म के बाद उस दृष्टि से मैं आगामी जन्म में पशु योनि प्राप्त करलूं या नरक में ही पहुंच जाऊं। इसी प्रकार तिर्यंच या नरक गति में रहे हुए जीव भी अपनी भावनाओं का यत्किंचित परिष्कार करते हुए ऊपर की गतियों में आ सकते हैं। जब तक ऊपर उठने और नीचे जाने का आत्मा का यह क्रम बना रहता है तब तक उसका संसार में भव भ्रमण भी बना रहता है—स्वभाव और विभाव में आवागमन चलता रहता है। कभी स्वभाव में अधिक स्थिति हो जाती है तो कभी विभाव में भटकाव बढ़ जाता है। जब विभाव के घेरे से पूरी तरह निकल कर आत्मा स्वभाव में स्थित हो जाती है तभी उसकी विभाव से मुक्ति होती है।

अपने स्वभाव तथा विभाव में इधर उधर आने जाने की आत्मा की प्रक्रिया को एक दृष्टान्त से समझें। एक लकड़ी के टुकड़े का स्वभाव पानी की सतह पर तैरना होता है। उसे आप पानी में डालें तो वह पानी की सतह पर तैरने लगेगी। अब उसी लकड़ी के टुकड़े को हल्के टिन की डिबिया में बंद करके पानी में डालें तो वह कुछ कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे में बंद करके पानी में डालें तो वह कुछ—कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे में बन्द करके पानी में डालें तो वह डूब कर पुनः तले तक चला जायगा। इसी तरह उसे तले से उस डिब्बे से निकाल कर खुला छोड़ दें तो वह ठेठ ऊपर उठ आयगा। कहने का आशय यह है कि उस हल्के लकड़ी के टुकड़े के साथ जितना वचन बंधा होगा उसी परिमाण में वह पानी की गहराई में नीचे उतरेगा या ऊपर उठेगा। अब उस लकड़ी के टुकड़े का पानी की सतह पर तैरना स्वभाव है और उसके साथ डिबिया या डिब्बे का बंधन उसका विपरीत स्वभाव या विभाव होता है। वह टुकड़ा स्वभाव के कारण तैरता है और विभाव के कारण डूबता है। आत्मा की तुलना इसी लकड़ी के टुकड़े से कीजिये।

मूल स्वभाव से आत्मा संसार सागर की सतह पर पहुंचती है किन्तु विभाव में पड़ कर जितना कर्म–भार अपने साथ बांधती है, उसी परिमाण में वह डूबती हुई चली जाती है। जल की गहराई में भी उसका ऊपर उठना या नीचे उतरना इसी कर्म भार की न्यूनाधिकता के अनुसार चलता रहता है।

स्व-भाव ही धर्म होता है

किसी भी पदार्थ को उसका स्वभाव ही धारण करता है या यों कहें कि अपने अमुक स्वभाव के कारण ही अमुक पदार्थ उस रूप में जाना जाता है। जल का स्वभाव शीतल होता है इसी कारण उसे जल कहते हैं। अग्नि का स्वभाव जलाने का होता है तो उसे अग्नि कहते हैं। यह सामान्य समझ सबमें होती है। सब समझते हैं कि कहीं कुछ जल रहा हो तो उस पर पानी डाल दो ताकि शीतलता ऊष्णता को दबा देगी। शीतलता और ऊष्णता को जल और अग्नि का धर्म भी कह दिया जाता है।

जो यह सत्य वीतराग देवों ने उद्घाटित किया और घोषणा की कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। जल का धर्म शीतलता है और अग्नि का धर्म ऊष्णता है, इसी दृष्टि से आत्मा का धर्म क्या होगा–यह उपरोक्त विश्लेषण से सोचना होगा। एक शब्द में इसका उत्तर बतावें तो आत्मा का धर्म ज्ञाता दृष्टादि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता होगा–ऊपर उठने की अन्तिम ऊंचाई तक ऊपर उठ जाना और फिर सदा सर्वदा के लिये उस उच्चतम बिन्दु पर स्थित हो जाना। आत्मा का यह ऊर्ध्वगामिता का स्वभाव ही उसका धर्म कहलायेगा।

धर्म के सम्बन्ध में जो सामान्य समझ है–वह कहां तक सही है ? सामान्य रूप से धर्म समझा या कहा जाता है विभिन्न सिद्धान्तों को अथवा विभिन्न महापुरुषों के उपदेशों को। इसी रूप में धर्म की धारणा ली जाती है कि अमुक महापुरुष ने जो उपदेश दिये, वे उसके नाम से एक धर्म के रूप में प्रचलित हो गये। इस धारणा के आधार पर ही वैष्णव, इस्लाम या ईसाई आदि 'धर्म' कहलाते हैं। समय–प्रवाह में इन्हीं धर्मों के दायरों में अलग–अलग गुरुओं के उन्हीं उपदेशों के बारे में जब अलग–अलग अर्थ विन्यास हुए तो वे इसी धर्म में अलग–अलग मतों के नाम से जाने जाने लगे। यों कई धर्म और एक धर्म में कई मत आज जाने जाते हैं। वस्तुतः यह सामान्य समझ इस रूप में सही नहीं है। इस समझ के सही नहीं होने का ही सबूत है कि विभिन्न धर्मानुयायियों में पारस्परिक विवाद खडे होते हैं और आज ऐसे विवादों ने जटिल संघर्षों तथा दंगों तक का हिंसक रूप ले लिया है। धर्म के नाम पर

भी यदि लड़ना है तो फिर एक रहने की शिक्षा कौन देगा ? इसलिये धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की आज महती आवश्यकता है।

फिर धर्म क्या है ? वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और तदनुसार आत्मा का धर्म समभाव पूर्वक ज्ञाता दृष्टा आदि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता है। मनुष्य का धर्म आत्मा के धर्म में समाहित हो जाता है क्योंकि मनुष्य तन में भी उसकी आत्मा का निवास होता है। अतः मनुष्य का धर्म भी हुआ कि वह अपने स्वभाव की उच्चता पर स्थित हो। उच्चस्थ स्थिति ही उसका धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक स्थिति या अवस्था का नाम है, जहां इस विभावग्रस्त आत्मा को पहुंचना है।

अतः स्पष्ट तौर पर समझें कि धर्म उस विशुद्धावस्था का नाम है जहां पर आत्मा पूर्ण रूप से अपने स्वभाव में स्थिर हो जाती है। धर्म प्राप्ति के योग्य उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करना आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस रूप में यही उसका स्वभाव है एवं यही उसका धर्म है। वर्तमान में आत्मा चूंकि उसके स्वभाव में पूर्णतया रमण नहीं करती है या यों कहें कि वह जितनी विभाव में प्रगाढ़ रूप से विस्मृत बनी हुई है उतनी ही वह अपने स्वभाव से दूर है और उसी रूप में अपने धर्म से भी दूर है। अपने स्वाभाविक गुणों को वह जितने अंशों में ग्रहण करती जायगी, उतने ही अंशों में वह अपने धर्म के निकट पहुंचती जायगी। किन्तु उसने धर्म को प्राप्त कर लिया है—यह तभी कहा जायगा जब वह अपने विभाव को पूर्णतया समाप्त कर लेगी तथा सम्पूर्णतया अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जायेगी। यही उसकी सिद्धावस्था होगी।

इस दृष्टि से अपने धर्म को प्राप्त कर लेना—यह आत्मा का लक्ष्य है—साध्य है। धर्म ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होना है। संसारी आत्माओं को इस रूप में अपने धर्म को प्राप्त करना है क्योंकि वे अपने धर्म या स्वभाव से अभी तक दूर हैं। इस प्रकार धर्म साध्य है, साधन नहीं। आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने के लिये जिन साधनों को समझ कर अपनाने की आवश्यकता होती है, वे हैं महापुरुषों के उपदेश। इन उपदेशों के आधार पर आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर सकती है कि वह अपने धर्म के निकट पहुंचती चली जावे और एक दिन उसे प्राप्त कर ले।

विभाव मुक्ति अथवा स्वभाव प्राप्ति इस प्रकार आत्मा का धर्म हुआ जो कि उसका साध्य है। इसी प्रकार जो विविध उपदेश हैं, वे इस साध्य को प्राप्त कराने में आत्मा के लिये साधन रूप बन सकते हैं। पहली बात यह है

मूल स्वभाव से आत्मा संसार सागर की सतह पर पहुंचती है किन्तु विभाव में पड़ कर जितना कर्म-भार अपने साथ बांधती है, उसी परिमाण में वह डूबती हुई चली जाती है। जल की गहराई में भी उसका ऊपर उठना या नीचे उतरना इसी कर्म भार की न्यूनाधिकता के अनुसार चलता रहता है।

स्व-भाव ही धर्म होता है

किसी भी पदार्थ को उसका स्वभाव ही धारण करता है या यों कहें कि अपने अमुक स्वभाव के कारण ही अमुक पदार्थ उस रूप में जाना जाता है। जल का स्वभाव शीतल होता है इसी कारण उसे जल कहते हैं। अग्नि का स्वभाव जलाने का होता है तो उसे अग्नि कहते हैं। यह सामान्य समझ सबमें होती है। सब समझते हैं कि कहीं कुछ जल रहा हो तो उस पर पानी डाल दो ताकि शीतलता ऊष्णता को दबा देगी। शीतलता और ऊष्णता को जल और अग्नि का धर्म भी कह दिया जाता है।

जो यह सत्य वीतराग देवों ने उद्घाटित किया और घोषणा की कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। जल का धर्म शीतलता है और अग्नि का धर्म ऊष्णता है, इसी दृष्टि से आत्मा का धर्म क्या होगा-यह उपरोक्त विश्लेषण से सोचना होगा। एक शब्द में इसका उत्तर बतावें तो आत्मा का धर्म ज्ञाता दृष्टादि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता होगा-ऊपर उठने की अन्तिम ऊंचाई तक ऊपर उठ जाना और फिर सदा सर्वदा के लिये उस उच्चतम बिन्दु पर स्थित हो जाना। आत्मा का यह ऊर्ध्वगामिता का स्वभाव ही उसका धर्म कहलायेगा।

धर्म के सम्बन्ध में जो सामान्य समझ है-वह कहां तक सही है ? सामान्य रूप से धर्म समझा या कहा जाता है विभिन्न सिद्धान्तों को अथवा विभिन्न महापुरुषों के उपदेशों को। इसी रूप में धर्म की धारणा ली जाती है कि अमुक महापुरुष ने जो उपदेश दिये, वे उसके नाम से एक धर्म के रूप में प्रचलित हो गये। इस धारणा के आधार पर ही वैष्णव, इस्लाम या ईसाई आदि 'धर्म' कहलाते हैं। समय-प्रवाह में इन्हीं धर्मो के दायरों में अलग-अलग गुरुओं के उन्हीं उपदेशों के बारे में जब अलग-अलग अर्थ विन्यास हुए तो वे इसी धर्म में अलग-अलग मतों के नाम से जाने जाने लगे। यों कई धर्म और एक धर्म में कई मत आज जाने जाते हैं। वस्तुतः यह सामान्य समझ इस रूप में सही नहीं है। इस समझ के सही नहीं होने का ही सबूत है कि विभिन्न धर्मानुयायियों में पारस्परिक विवाद खड़े होते हैं और आज ऐसे विवादों ने जटिल संघर्षों तथा दंगों तक का हिंसक रूप ले लिया है। धर्म के नाम पर

भी यदि लड़ना है तो फिर एक रहने की शिक्षा कौन देगा ? इसलिये धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की आज महती आवश्यकता है।

फिर धर्म क्या है ? वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और तद्नुसार आत्मा का धर्म समभाव पूर्वक ज्ञाता दृष्टा आदि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता है। मनुष्य का धर्म आत्मा के धर्म में समाहित हो जाता है क्योंकि मनुष्य तन में भी उसकी आत्मा का निवास होता है। अतः मनुष्य का धर्म भी हुआ कि वह अपने स्वभाव की उच्चता पर स्थित हो। उच्चस्थ स्थिति ही उसका धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक स्थिति या अवस्था का नाम है, जहां इस विभावग्रस्त आत्मा को पहुंचना है।

अतः स्पष्ट तौर पर समझें कि धर्म उस विशुद्धावस्था का नाम है जहां पर आत्मा पूर्ण रूप से अपने स्वभाव में स्थिर हो जाती है। धर्म प्राप्ति के योग्य उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करना आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस रूप में यही उसका स्वभाव है एवं यही उसका धर्म है। वर्तमान में आत्मा चूंकि उसके स्वभाव में पूर्णतया रमण नहीं करती है या यों कहें कि वह जितनी विभाव में प्रगाढ़ रूप से विस्मृत बनी हुई है उतनी ही वह अपने स्वभाव से दूर है और उसी रूप में अपने धर्म से भी दूर है। अपने स्वाभाविक गुणों को वह जितने अंशों में ग्रहण करती जायगी, उतने ही अंशों में वह अपने धर्म के निकट पहुंचती जायगी। किन्तु उसने धर्म को प्राप्त कर लिया है—यह तभी कहा जायगा जब वह अपने विभाव को पूर्णतया समाप्त कर लेगी तथा सम्पूर्णतया अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जायेगी। यही उसकी सिद्धावस्था होगी।

इस दृष्टि से अपने धर्म को प्राप्त कर लेना—यह आत्मा का लक्ष्य है—साध्य है। धर्म ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होना है। संसारी आत्माओं को इस रूप में अपने धर्म को प्राप्त करना है क्योंकि वे अपने धर्म या स्वभाव से अभी तक दूर हैं। इस प्रकार धर्म साध्य है, साधन नहीं। आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने के लिये जिन साधनों को समझ कर अपनाने की आवश्यकता होती है, वे हैं महापुरुषों के उपदेश। इन उपदेशों के आधार पर आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर सकती है कि वह अपने धर्म के निकट पहुंचती चली जावे और एक दिन उसे प्राप्त कर ले।

विभाव मुक्ति अथवा स्वभाव प्राप्ति इस प्रकार आत्मा का धर्म हुआ जो कि उसका साध्य है। इसी प्रकार जो विविध उपदेश हैं, वे इस साध्य को प्राप्त कराने में आत्मा के लिये साधन रूप बन सकते हैं। पहली बात यह है

कि आत्मा के सामने अपना साध्य स्पष्ट हो जाना चाहिए। फिर वह अपने विवेक से अपने साध्य के अनुकूल साधनों का चयन करे जिन्हें सामान्यतया विभिन्न धर्मों के रूप में जाना जाता है, वे स्वयं धर्म नहीं है उन्हें धर्मनीतियों का नाम दिया जा सकता है जो आत्मा को धर्म तक पहुंचाने का दावा करती हैं। इन धर्मनीतियों की परीक्षा इसी कसौटी पर की जा सकती है कि वे किस रूप में आत्मा को उसके साध्य की ओर प्रगतिशील बनाने की क्षमता रखती हैं। एक ईश्वरत्व तक पहुंचने के ये भिन्न-भिन्न मार्गों के रूप में जानी जा सकती हैं यदि उनमें आत्म-धर्म प्राप्ति रूप साध्य की स्पष्टता विद्यमान हो।

धर्म और नीति समीक्षा

मन के स्वामी मनुष्य की प्रमुख शक्ति है विचार शक्ति। वह अपनी संस्कारिता, परम्परा या परिस्थितियों के अनुसार विचार करता है और निर्णय लेता है। उन विचारों और निर्णयों की वास्तविकता उसकी ज्ञान परिपक्वता पर आधारित होती है। यथार्थ का उसे जितना अधिक बोध होता है उतनी ही उसकी वैचारिकता और निर्णयशक्ति वास्तविक बनती है। सम्यक् ज्ञान और चरित्र के पुष्ट संयोग से विचारों का सम्यक्त्व अभिवृद्ध बनता है। अतः धर्म नीतियों की परख करते समय यह मानदंड सामने रखना होगा कि उनके उपदेशकों ने अपने जीवन की किस रूप में उच्चता प्राप्त की अथवा उनके जो दिये हुए उपदेश हमारे सामने हैं, वे आत्मोच्चता की किस स्थिति को प्रतिभासित करते है ? एक छोटी सी वस्तु भी जब क्रय की जाती है तो क्रेता उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार परीक्षा करता है और वह वस्तु उसकी परीक्षा में खरी उतरती है तभी उसका वह क्रय करता है। तो आत्मोत्थान जैसे महान् साध्य के लिये उपयुक्त साधनों का चयन तो एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है क्योंकि चयन में भ्रम या भूल रह जाय तो आत्म विकास की गति ही विगति बन जाती है तथा प्रगति का स्थान पतन ले लेता है। साधनों की परीक्षा बुद्धि-यह आत्मा की अपनी विशिष्टता होनी चाहिये। इसी विशिष्टता को आधार बना कर आत्मा सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्मनीति का चयन कर सकती है।

प्रधानतः धर्म रूप साध्य अपनी दृष्टि में स्पष्ट हो तो तदनुकूल साधनों का याने कि नीतियों का चयन अधिक कठिन नहीं रहता है। कई प्रकार की नीतियों में धर्म नीति भी एक प्रकार होती है किन्तु वह विशिष्ट प्रकार रूप होती है। अन्य नीतियों की बात बाद में करे, पहले धर्मनीतियों के झंडों के नीचे पलने वाले मत-मतान्तरों की थोड़ी-सी चर्चा करलें।

मैं यह मानकर ही चलता हूं कि प्रत्येक विवेकपूर्ण विचार में कुछ न कुछ सत्यांश होता है और इसी दृष्टि से प्रत्येक मत में कहीं न कहीं कुछ न कुछ सत्यांश होने की कल्पना करता हूं, अतः ऐसे प्रत्येक विचार का समादर करता हूं, और उसमें यदि कोई सत्यांश है तो उसे खोजने की चेष्टा करता हूं। किन्तु यह भी हो सकता है कि कई मत मात्र हठ, दुराग्रह या अपने मत को थोपने की कुचेष्टा से भी प्रचलित किये जाते हैं, ताकि ऐसे मत को थोपने वाले का सच्चा झूठा वर्चस्व बना रहे। ऐसे मतों की हठवादिता से ही पारस्परिक विवाद बढ़ते हैं। कई बार प्रारंभ में कोई विचार सदाशयी होता है किन्तु उसकी पकड़ बाद में अंधेपन से करादी जाती है जिससे भी कलहपूर्ण विवाद बढ़ते हैं। विशेष रूप से मत मतान्तर एकान्तवादिता के दुराग्रह के कारण भी पनपते हैं जो किसी दूसरे विचार को सहन करना ही नहीं चाहते, जिससे विद्वेष के आधार पर ही उनका पोषण होता है। इन सभी मतमतान्तरों के प्रति मेरा विचार है कि अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये ताकि विचार सामंजस्य का वातावरण बन सके और विचार–मंथन से विचार–सार प्राप्त किया जा सके।

विचार सामंजस्य का जहां तक प्रश्न है, मेरा मानना है कि विभिन्न प्रकार की तथाकथित धर्म–नीतियों में भी अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रयोग आवश्यक है। जब आत्मा का साध्य स्पष्ट न हो तो साधनों में विभिन्नता भी दोषपूर्ण ही कही जायगा। साध्य का एक ही सशक्त साधन होना चाहिए। नाम भेद भी वहां पर अनुपयुक्त होता है। सद्गुणों अथवा सत्सिद्धान्तों के स्वरूप में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं होता है, जो अन्तर होता है वह आराधना या उपासना की पद्धतियों में होता है। इस विभिन्नता में भी सद्विचार की सहायता से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

और यही विचार सामंजस्य धर्मनीतियों के अलावा अन्य प्रकार की सामाजिक नीतियों में भी स्थापित किया जा सकता है। सामाजिक नीतियों में राजनीति, अर्थनीति या ऐसी ही सामूहिक प्रभाव वाली नीतियों की गणना की जा सकती है। वस्तुतः इन नीतियों का उद्देश्य भी सामाजिकता को श्रेष्ठ बना कर प्रत्येक मनुष्य के भौतिक एवं तदनुरूप आध्यात्मिक विकास का मार्ग खोजना ही होता है। इस क्षेत्र में भी व्यक्ति (शासनस्थ या अन्य प्रकार से वर्चस्व रखने वाला) की हठवादिता, स्वार्थ–परता अथवा दुराग्रह की ही बाधाएं आती हैं जिन्हें विचार सामंजस्य के प्रयोग से दूर करने की अपेक्षा रहती है। राजनीति में भी शासन की कई पद्धतियाँ प्रचलित है और इसी

प्रकार अर्थनीति में भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं जो मनुष्य को स्वशासित बनाने का दावा करती हैं। इनमें सर्वाधिक विकसित लोकतंत्रीय पद्धति है जो राजनीति और अर्थनीति को समानता के सिद्धान्त पर चलाना चाहती है। प्रत्येक नागरिक को अपना शासन चलाने और अर्थनीति को समाजवादी ढंग से ढालने में यह लोकतंत्रीय पद्धति विश्वास रखती है। कई बार व्यक्ति अपनी विकास की प्रक्रिया में वस्तु विचार विभिन्नता लिये हुए रहते हैं और एक बिन्दु तक पहुंच जाने पर नई पद्धति का विकास करते हैं। अतः मूल प्रश्न निष्ठा का है। निष्ठा सही लक्ष्य की तरफ है तो विचार भेद भी विकास का श्रेष्ठ फल देते हैं। और यदि निष्ठा दूषित रही तो वह उस विचार भेद को मन भेद तक ले जाकर अच्छे विचार को भी विवाद का विषय बना देती है। अतः अच्छे व्यक्तियों की प्रभाव–वृद्धि सामाजिक स्वास्थ्य के लिये सदैव लाभप्रद होती है।

मेरी मान्यता है कि अच्छे व्यक्तियों का निर्माण मुख्यतः श्रेष्ठ धर्मनीति के माध्यम से ही किया जा सकेगा क्योंकि धर्म नीति सबसे पहले व्यक्ति के सद्ज्ञान एवं सदाचरण पर ही बल देती है। व्यक्ति को सुधारने के लिये चाहे व्यक्तिगत प्रयोग किये जायं अथवा सामाजिक प्रयोग– सर्वप्रथम उसकी स्वयं की जागरूकता आवश्यक होती है और पहले बिंदु पर उसकी जागरूकता उभारने के लिये उसके निजी विचार एवं आचार पर ही ध्यान देना पड़ेगा और यह कार्य पारिवारिक संस्कारिता के साथ धर्मनीति ही सफलतापूर्वक समपन्न कर सकती है।

मानव निर्माण की भूमिका

व्यक्ति चूंकि एकाकीवास नहीं करता, वह अपने साथियों के समूह के बीच में रहता है या यों कहें कि समाज में रहता है अतः वह सामाजिक शक्तियों से भी पूर्णतः प्रभावित होता है। और आज तो विविध वैज्ञानिक आविष्कारों एवं अनुसंधानों ने सामाजिकता का दायरा अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। जहाँ पहले व्यक्ति का एक छोटे से निकटस्थ समूह से ही विशेष सम्पर्क रहता था, वहां आज वह करीब–करीब परोक्ष रूप से सारे ज्ञात संसार से सम्पर्करत होता है। वास्तव में उसकी जानकारी का दायरा इतना ही फैल गया है और जब विस्तृत सम्पर्क का क्षेत्र है तो यों मानियें कि उस पर उतनी ही विस्तृत सामाजिकता का भी असर पड़ता है। एक दूसरे समूह की सभ्यता और संस्कृति समूचे वातावरण पर भी अपना प्रभाव छोड़ती है। इस दृष्टि से आज मानव में मानवता का विकास एक रूप में जटिल बना है तो दूसरे रूप

में सरल भी हुआ है। जटिल इस रूप में कि विविधताओं का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है जिसमें विचार सामंजस्य स्थापित कर एकरूप मानवता का विकास दुरूह बन गया है। और सरल इस रूप में कि अब व्यक्तिगत प्रयासों के साथ सामाजिक प्रयास इतने सशक्त बन गये हैं जिनका प्रभावशाली प्रयोग किया जाय तो उद्देश्य प्राप्ति अधिक समीप आ सकती है।

मानव में मानवता का निर्माण सभी को अभीष्ट है–धर्मोपदेशक भी यही कहता है तथा राजनेता अर्थवेता अथवा समाज सुधारक भी। निजी स्वार्थों में पड़ जाने से कथनी करनी का भेद अवश्य पैदा हो जाता है लेकिन उद्देश्य के प्रति एकरूपता है। मनुष्य जगेगा–मनुष्यता अपनायगा–तभी उसका विकास संभव है और साथ–साथ में समाज एवं समाज के विभिन्न संस्थानों का विकास भी संभव होता है। इस कथन में आपेक्षिक अनुसंधान आवश्यक है कि पहले व्यक्ति का विकास होगा, तभी समाज का विकास हो सकेगा, क्योंकि व्यक्ति और व्यक्ति से ही तो समाज की रचना होती है। किन्तु एक दृष्टि यह है कि व्यक्ति की अपनी शक्ति के अलावा भी सुव्यवस्था की दृष्टि से व्यक्ति द्वारा ही प्रदत्त शक्ति से एक सामाजिक शक्ति का अलग से विकास होता है और कई अर्थों में यह सामाजिक शक्ति भी व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण करती है। पारिवारिक शक्ति इसी सामाजिक शक्ति का प्रारंभिक रूप होता है जो मोहल्ला, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि के स्तरों पर विकसित होती हुई एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप ले लेती है।

मेरे कहने का आशय यह है कि मानव निर्माण के महत् कार्य में इस सामूहिक शक्ति का भी लाभ लिया जाना चाहिये और धर्म नीति एवं अन्य नीतियों के प्रयोग से ऐसा वातावरण रचा जाना चाहिये जो मानवता को उत्प्रेरित करे। धर्म नीति का प्रयोग जहां अधिकांशतः व्यक्तिपरक होता है, वहां विभिन्न सामाजिक शक्तियों का प्रयोग समूह–परक। यह समूह अपने–अपने क्षेत्र के अनुसार विशाल, विशालतर या विशालतम हो सकता है। अतः दोनों प्रकार की नीतियों का प्रयोग साथ–साथ किया जा सकता है। धर्मनीति व्यक्ति को सद्ज्ञानाचरण की प्रेरणा से शक्तिशाली बनायगी तो सामाजिक नीतियों के द्वारा समाज के वातावरण को इस रूप में अनुकूल बनाया जा सकेगा कि सदाशयी व्यक्तियों को मानवता–निर्माण के कार्य में सरलता हो सके और स्वयं वे भी निरबाध रूप से आगे बढ़ सके।

इस उभय पक्षी प्रयोग की महत्ता को इस प्रकार समझें कि एक व्यक्ति को चलना है। उसके सामने जहां चलना है उस भूमि की दो प्रकार की दशा

हो सकती है। एक तो यह हो कि कोई मार्ग बना हुआ नहीं है–भूमि कंटीली, पथरीली और ऊबड़–खाबड़, जहां पथिक को ही अपना मार्ग खोजना है और उस बीहड़ भूमि पर आगे से आगे चलना है। उस चलने में पैरों से कितना खून बहेगा, अंग अंग में किस तरह दर्द होगा और कितना पसीना बहाकर वह आगे बढ़ सकेगा– इसका उसे कोई अनुमान नहीं। इस तथ्य का भी वह अनुमान नहीं लगा सकेगा कि वह ऐसे भयावह धरातल पर कितनी दूरी तक आगे बढ़ सकेगा। दूसरी यह दशा हो सकती है कि भूमि चाहे जैसी है लेकिन उस पर पक्की सड़क बनी हुई है, संकेत चिह्न लगे हुए हैं कि यह सड़क कहां तक जायगी। और मार्ग में किसी प्रकार का भय भी नहीं है। अब कल्पना करें कि धरातल की दृष्टि से पथिक की यात्रा पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? समझ लें कि पथिक सुदृढ़ शारीरिक शक्ति एवं अटूट इच्छा शक्ति का धनी है, फिर भी हो सकता है कि पहली दशा वाले धरातल पए चलते–चलते कहीं न कहीं विकट स्थिति में उसका साहस छूट जाय या शरीर ही टूट जाय। यह भी मान लें कि वह उन सारी परिस्थितियों को जीतता हुआ ही आगे बढ़ जायगा लेकिन क्या सभी सामान्य पथिक ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों का सहज रूप से सामना कर सकेंगे ? इक्की टुक्की मीनारें इस वातावरण में खड़ी हो सकती हैं लेकिन अधिकांश भाग तो गड्ढ़ों वाला ही रह जायगा।

अब दूसरी दशा वाले धरातल की कल्पना करें। सड़क है, संकेत है और भय नहीं है तो सामान्य शक्ति वाले पथिक भी निश्चिंत होकर उस पर चल सकते हैं और निश्चित स्थान पर बेखटके पहुंच सकते हैं। तो सुगम धरातल के निर्माण का कार्य सामाजिक नीतियां करती है। धर्मनीति व्यक्ति में शक्ति का संचार करती है तो विविध सामाजिक नीतियाँ उसकी प्रगति के लिये श्रेष्ठ धरातल का निर्माण करती हैं।

इस रूप में सामाजिक नीतियों के प्रयोग को समझें। राजनीति में मानव को प्रमुखता देने वाली लोकतंत्रीय पद्धति का विकास हुआ है तो प्रत्येक नागरिक को मताधिकार मिला है। यह मताधिकार नागरिक की चेतना को जगाता है कि वह शासन चलाने में स्वयं भागीदार है और उसके लिये अपनी मनमर्जी के प्रतिनिधि का चुनाव कर सकता है। यह चेतना स्वयं उसे अपने महत्त्व का भान कराती है। इससे उसे अधिकार बोध भी होता है तो अपने कर्त्तव्यों का बोध भी। इसी प्रकार अर्थ नीति में समाजवाद का विकास प्रत्येक नागरिक को अर्जन के समान अवसर प्रदान करना चाहता है तो अधिक अर्जन पर प्रतिबंध लगाकर सामाजिक सम्पत्ति का संविभाग अथवा

समूह के लाभार्थ नियोजन करने की प्रणाली बनाता है। समाज–सुधार के कार्यक्रम भी कुरीतियों को समाप्त कर सबकी समानता को प्रोत्साहित करने वाली परम्पराओं को ढालना चाहते हैं। मूल में सभी नागरिकों के बीच समानता का वातावरण बनाने का सभी सामाजिक नीतियों का प्रयास कहा जाता है।

और समानता या समता का वातावरण ही वह प्रधान केन्द्र है जहां से मानवता का झरना फूटता है। इस समानता के लिये व्यक्ति के छोर से धर्मनीति कार्य करे और समूह के छोर से सामाजिक नीतियों का प्रयोग किया जाय तो समता के प्रसार तथा मानवता के निर्माण कार्य से सारपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

एक बात यह भी कि चाहे धर्मनीति का क्षेत्र हो या समाज नीतियों का क्षेत्र–वहां पर दोनों प्रकार की वृत्तियों वाले व्यक्ति मिलेंगे। सद् एवं असद् दोनों प्रकार की वृत्तियों के व्यक्ति, बल्कि असद् वृत्ति के व्यक्तियों का बाहुल्य ही होगा। अतः सर्वत्र सत्कार्य को उभारने और आगे बढ़ाने का बीड़ा तो सद् वृत्ति वाले प्रबुद्ध एवं सज्जन व्यक्तियों को ही उठाना पड़ेगा जो आत्म–भोग देकर भी स्व–पर कल्याण के योग्य वातावरण का सृजन करते हैं। सभी क्षेत्रों में सामान्य रूप से सत्प्रचार द्वारा ऐसा जनमत बनाया जाना चाहिये जो प्रबुद्ध व्यक्तियों को उनके सत्कार्य में सक्रिय या मौन सहयोग दे सके। मानव के मन में मानवता जागृत हो एवं स्थिर रूप ग्रहण करे–यह लक्ष्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट होना चाहिये।

आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ

आत्म स्वभाव एवं विभाव तथा धर्म एवं नीति सम्बन्धी विस्तृत विवरण को दृष्टिगत रखते हुए मैं सोचता हूं कि मुझे सबसे पहले अपने पुरुषार्थ को अपने ही आन्तरिक रूपान्तरण के लिये लगाना चाहिये। क्या होगा यह आन्तरिक रूपान्तरण ? अपने भीतर के रूप को बदलना। जब किसी रूप को बदला है तो यह जानना जरूरी है कि अभी वह रूप कैसा है और उसे बदल कर कैसा बनाना है ? यह रूप है आन्तरिक रूप मन–मानस की भीतरी विचारणा का रूप अर्थात् सामान्य रूप से सोच–विचार का रूप। जब सोच–विचार के रूप को भली प्रकार जानना चाहूंगा तो उसे बाहर के अपने क्रिया कलापों से जानना आसान रहेगा।

इस दृष्टि से मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये ? इस सोच में दो बिन्दु हैं। एक तो आन्तरिकता का वर्तमान रूप तथा दूसरा है रूपान्तरण क्या होना चाहिये ?

आन्तरिकता के वर्तमान रूप के लिये मुझे मेरे क्रिया कलापों का तथा क्रियाकलापों से अपनी वृत्तियों का लेखा जोखा लेना होगा, किन्तु इस लेखे जोखे के लिये, उसका आंकड़ा तैयार करने के लिये तथा रूपान्तरण का आध ाार सुनिश्चित करने के लिये मुझे योग्य मानदंड की आवश्यकता होगी। जिस क्रिया–कलाप को नामे की तरफ लिखूं, किसको जमा की तरफ और क्यों ? आंकड़े में भी क्या लाभ दिखाऊं और क्या हानि ? रूपान्तरण का भी वस्तु विषय चाहिये कि वर्तमान को बदलूं तो भविष्य की क्या रूपरेखा हो ?

मैंने ऊपर इसी मानदंड की ही विस्तृत चर्चा की है और यह मानदंड है आत्मा के स्वभाव तथा विभाव का। आत्मा में जहाँ तक निज स्वरूप की चेतना रहती है और जीवन की वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ जहां तक उस चेतना के अनुकूल चलती हैं, वे क्रियाकलाप आत्मा के स्वभावगत होंगे। किन्तु जहाँ आत्मिक चेतना की जागृति अत्यल्प है तथा उसका अनुशासन भी ढीला है, वहां मन तथा इन्द्रियों की अनियंत्रित गति उस आत्मा के विभाव स्वरूप को प्रकट करती है। वस्तुतः मेरा कौनसा कार्य मेरी आत्मा के स्वभाव में सम्मिलित किया जायगा तथा मेरा कौनसा कार्य उसके विभाव में गिना जायगा–इसका निर्णय किसी बाहरी आलोचना या चर्चा की अपेक्षा स्वानुभूति के क्षणों में ठोस होगा। जितनी भीतर बाहर की मानसगत बारीकियाँ अपने काम काज के बारे में मैं जानता हूं, दूसरा अपूर्ण व्यक्ति नहीं जान सकता तथा कोई कारणों से किसी भी अपने काम काज का पूरा स्वरूप मैं दूसरों को न समझा सकूं, लेकिन मैं स्वयं तो अपने काम काज पर एक समूची नजर डालकर उसके समग्र गुण दोषों का सही आकलन कर ही सकता हूं। अतः रूपान्तरण की निष्ठा के साथ मैं स्वानुभूति के क्षणों में अपनी आत्मा के स्वभाव एवं विभाव की तुला पर अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का चढाऊंगा और स्वभावगत सद् तथा विभावगत असद् की तुलना करूंगा। इस तुलना से प्रकट हो सकेगा कि मेरी तुला का कौनसा पलड़ा ज्यादा भारी है– सद् का याने आत्म स्वभाव का अथवा असद् का याने आत्म विभाव का ? आंकड़ा भी सदासद के जमाखर्च के मुताबिक ही बनेगा तथा रूपान्तरण का पुरुषार्थ भी इसी तथ्य पर चलाया जा सकेगा कि मेरी आत्मा में उसका अपना स्वभाव प्रबल है अथवा उसका विभाव ? और स्वभाव को प्रबल बनाना तथा विभाव को घटाते हुए समाप्त करना–यही मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का लक्ष्य होगा।

अब मैं अपने उस पुरुषार्थ पर विचार करूं जो मेरे आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बनादे और मेरा आत्मिक–स्वभाव प्रभावपूर्ण रीति से सुप्रकट हो जाय।

यह मैं समझ चुका हूं कि मेरा आत्म स्वरूप भी मूल रूप में सिद्धात्माओं के स्वरूप जैसा ही पूर्ण सत्यमय एवं निर्मल है, परन्तु यह स्वरूप वर्तमान में मेरी अपनी आत्मा की विभावगत स्थिति एवं असद् वृत्ति–प्रवृत्तियों से ढका हुआ है। इसलिये मुझे देखना और परखना यह है कि मेरी आत्मा ने अपने मूल स्वभाव को कितने अंशों में आच्छादित कर रखा है तथा कितने अंशों में विभाव को छोड़कर स्वभाव को अपनाने की तैयारी है ? मेरा मानना है कि जहाँ मैं अपने आन्तरिक रूपान्तरण का निश्चय करता हूं तथा उसके लिये अपना पुरुषार्थ प्रायोजित करना चाहता हूं, मेरे में आत्माभिमुखी होने की जागृति अवश्य जग गई है। अब मैं इस जागृति को बढ़ाता रहूं तथा प्रतिक्षण अपनी समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को जांचता–परखता रहूं– अपनी ही आत्मा के स्वभाव और विभाव की कसौटी पर तथा ज्यों ही किसी भी वृत्ति और उसके द्वारा उपजी प्रवृत्ति को विभाव की ओर मुड़ते हुए महसूस करूं, त्यों ही उसका निरोध कर डालूं। मैं दृढ़ निश्चय कर लूं कि आत्म–स्वभाव के विरुद्ध मैं मन और इन्द्रियों की एक नहीं चलने दूंगा और स्वभाव विरोधी वृत्ति या प्रवृत्ति को उपजने के बिन्दु पर ही निग्रहित कर दूंगा। मैं धार लूं कि मेरे जीवन में केवल वही विचार, वचन या कर्म सम्पन्न हो सकेगा, जिसकी अनुमति मेरी आत्मिक आन्तरिकता या सरल शब्द में आत्मा की आवाज देगी। मैं कहीं भी आत्मा की आवाज को तनिक भी नहीं कुचलूंगा, बल्कि अपने मन और इन्द्रियों को ऐसे आज्ञाकारी सेवक बना लूंगा कि आत्म शक्ति और आत्मानुशासन नितप्रति अभिवृद्ध ही बनता जायगा। मेरे इसी निश्चय पर आन्तरिक रूपान्तरण का सूत्रपात हो सकेगा और यही निश्चय मेरे अपने पुरुषार्थ को सदा व सर्वत्र सजग बनाये रखेगा कि विभावगत कोई भी वृत्ति या प्रवृत्ति मेरे निश्चय को कमजोर बनाने या उलटने का दुस्साहस न करे। मेरा पुरुषार्थ मेरी आत्मा को सजग रखेगा तो मेरे मन और इन्द्रियों को भी आत्मिक सजगता के क्षेत्र में सक्रिय, कि वे भौतिक सुखों की ओर प्रलुब्ध न हो तथा विषय–कषाय जन्य प्रमाद को एकत्रित करके विभाव गत दशा को अधिक प्रगाढ़ न बनावें। दूसरे सोपान पर मेरा पुरुषार्थ मेरी समस्त आत्मिक एवं शारीरिक शक्तियों को विभाव के क्षेत्र से हटाकर उन्हें स्वभाव के क्षेत्र में स्थापित करेगा कि वे पहले से भी अधिक वेग के साथ स्वभाव के क्षेत्र में क्रियाशील बनें।

मेरा पुरुषार्थ इस रूप में मेरी समूची आन्तरिकता को असद् से सद्, असत्य से सत्य तथा अंधकार से ज्योति की दिशा में आगे बढ़ायगा और वही मेरी आन्तरिकता का सच्चा रूपान्तरण होगा। तब भी मेरा पुरुषार्थ थमेगा

नहीं, उससे भी अधिक प्रबलता के साथ वह आत्मिक स्वभावगत स्थितियों को संपुष्ट बनाता रहेगा कि विभावगत दशा क्षीणतर बनती जाय। मेरा यही पुरुषार्थ संयम और तप की कठोर आराधना द्वारा समस्त कर्मो का मूलोच्छेद करने के समय पराक्रम का रूप धारण कर लेगा—ऐसा पराक्रम जो आत्मा के विभाव को समूचे रूप से विनष्ट करके पूर्णतया उसे अपने मूल स्वभाव में सदा काल के लिये प्रतिष्ठित कर देता है। क्योंकि आत्मा की विभावमुक्ति ही स्वभाव स्थिति होती है तथा उसकी सम्पूर्ण स्वभाव स्थिति ही उसकी धर्म प्राप्ति कही जायगी। यह धर्म प्राप्ति ही आत्मा का साध्य है, कारण अपने मूल स्वभाव में स्थिति ही उसकी मुक्ति है।

मेरे याने एक व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण का पूरे जागतिक एवं सामाजिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में कितना महत्त्व कूंता जायगा—उसका मूल्यांकन भी आवश्यक है।

जागतिक वातावरण पर प्रभाव

समझिये कि मैंने अपना आन्तरिक रूपान्तरण कर लिया है याने कि मैं अपने विचार तथा आचार में पूरी तरह से सतर्क हो गया हूं। मैं अपनी ओर से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को कष्ट नहीं पहुंचाने का प्रयास करता हूं, बल्कि कष्टित प्राणों को देखकर अनुकम्पित होता हूं और उसे सुख पहुंचाने का यत्न करता हूं। मैं उत्सुक भी रहता हूं कि जितना अधिक मैं कर सकूं, मैं अपनी समस्त आत्मिक शक्तियों को स्व—पर कल्याण में नियोजित रखूं। तो मेरी ऐसी अवस्था का क्या मूल्यांकन है ?

एक बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इस रूप में मेरा अपना जीवन स्तर समुन्नत हो रहा है तथा मेरी अपनी व्यक्तिगत निष्ठा और नीति तो अहिंसक स्वरूप ग्रहण कर रही है।

लेकिन प्रश्न है कि मेरा यह व्यक्तिगत विकास क्या मेरे ही लिये है अथवा उसका कोई मेरे से इतर लाभ भी है ? मैं यह प्रश्न इस विचार से उठा रहा हूं कि जब केवल आत्मकल्याण की बात की जाती है तो क्या वह केवल स्वार्थ की ही बात कही जायगी ? यह बात सही नहीं है। मैं इस संसार में हूं तो मैं भी इस संसार की गणना में सम्मिलित हूं और यदि मैंने अपने जीवन में विकास साधा है तो संसार के उतने भाग का कल्याण हुआ है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु इस आत्म—कल्याण का महत्त्व उससे भी कई गुना अधिक है।

मैं अकेला नहीं रहता, कई प्राणियों के बीच में रहता हूं तो मेरा आत्म विकास उन सभी को प्रभावित करेगा जो कम से कम किसी भी रूप में मेरे सम्पर्क में आते हैं। मेरे जीवन की संयमितता एवं सन्तुलितता से एक ओर तो उनकी जीवन समस्याएं सरल रूप से समाधान पायगी जो मेरे कारण उलझ जाती थी याने कि यदि मैं सदाशयी नहीं होता तो वे मेरे द्वारा कष्टित होकर जिन समस्याओं में गिरते, वे तो मिट गई। दूसरे, मैं उनके कष्टों में सहयोगी बना तो अन्यथा भी उत्पन्न उनकी समस्याओं के समाधान में मेरी सहायता उनको मिल गई। इस प्रकार मेरा अपना आत्म कल्याण बाह्य प्रभाव की दृष्टि से मुख्यतः लोकोपकारी हुआ। अतः मेरा आन्तरिक रूपान्तरण भीतर से जितना मुझे सुख पहुंचाने वाला बनता है, उससे भी अधिक मैं उस सुख को बाहर बांटने के प्रयास में तत्पर बनता हूं। यही आन्तरिक त्याग की प्रेरणा होती है।

एक फूल खिलकर सुवासित बनता है, एक आम्र वृक्ष सुमधुर फलों से लद जाता है या एक झरना अपने शीतल जल के साथ बहता है तो फूल, आम्रवृक्ष और झरने की ये उपलब्धियाँ क्या उनका अपना स्वार्थ होती हैं ? क्या फूल स्वयं सुवास ग्रहण करता है, क्या आम्रवृक्ष स्वयं अपना फल चखता है या क्या झरना स्वयं अपने शीतल जल का स्वाद लेता है ? सभी अनुभव करते हैं कि इन तीनों की उपलब्धियों का आनन्द तो दूसरे ही उठाते हैं। आनन्द उठाने के अलावा कोई उनको क्षति भी पहुंचाते हैं तो वे सब सह लेते हैं। इसी रूप में आत्म कल्याण का साधक भी यथार्थ दृष्टि से दूसरों को भी सुख पहुंचाता है। उसकी साधना जितने अंशों में समुन्नत बनती है, उतने ही अंशों में उसका त्याग भाव भी प्रखर बनता जाता है और वह तब पर–कल्याण या जगत् कल्याण के लिये सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने के लिये सन्नद्ध हो जाता है।

अतः मेरे अपने आत्म कल्याण का अर्थ है एक ऐसी ज्योति का जलाना, जिसके प्रकाश में सभी अपना सन्मार्ग खोज लेने में आतुर हो उठते हैं। इसे अधिक से अधिक सीधा जगत् कल्याण न भी मानें तब भी परोक्ष रूप से वह जगत् कल्याण ही होता है। यही परोक्ष जगत् कल्याण आत्म विसर्जन के महान् त्याग के साथ तब प्रत्यक्ष जगत् कल्याण हो जाता है। अतः आध्यात्मिक स्व कल्याण में सदा ही पर–कल्याण सन्निहित होता है।

अब मैं यह प्रश्न उठाना चाहता हूं कि इतने विशाल जागतिक वातावरण पर मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का कितना प्रभाव हो सकता है ?

हमारा इतिहास ऐसे अगणित उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब एक व्यक्तित्व की तेजस्विता ने सम्पूर्ण समाज को आन्दोलित कर दिया और उसे विकास की दिशा में आगे बढ़ने की सफल प्रेरणा दे दी। यही नहीं, एक व्यक्ति का आदर्श जीवन ऐसा ज्योतिर्स्तंभ बन गया कि वह युगों-युगों तक अपने आदर्श की प्रेरणा देता रहा है और आत्माभिमुखी व्यक्तियों में जीवन भरता रहा है। क्या वीतराग देवों की आत्म कल्याणक वाणी आज भी हमारे हृदयों में नहीं गूंजती है और हमें एक सद्ग्रहस्थ, सत्साधक और संयमाराधक बनने की उत्प्रेरणा नहीं देती है ? ताजा मिसाल महात्मा गांधी की लें कि क्या एक ही व्यक्ति ने पूरे भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति की बलिदान-भरी लगन नहीं जगादी ? इससे क्या स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक व्यक्ति का आन्तरिक रूपान्तरण एक देश तो क्या, सारे संसार को बदल सकता है। और यह परिवर्तन की धारा उसके अपने ही समय की सीमा में नहीं बंध जाती, अपितु उसके भौतिक जीवनान्त के पश्चात् भी युग युगों तक प्रवाहित होती रहती है तथा व्यापक रूप से वैसे महापुरुष का पुण्य स्मरण किया जाता रहता है। जागतिक वातावरण पर एक व्यक्ति के रूपान्तरण का कितना व्यापक और विस्तृत प्रभाव हो सकता है-इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। आत्म शक्ति के विकास की प्राभाविकता असीम होती है।

शुभ परिवर्तन का पराक्रम

मेरा आन्तरिक रूपान्तरण अर्थात् आत्म-शुद्धि का मेरा पुरुषार्थ फलित होता है शुभ परिवर्तन के पराक्रम के रूप में। मेरा यह पराक्रम जितनी उच्चता, गूढ़ता और दृढ़ता ग्रहण करता जाता है, उतना ही शुभ परिवर्तन का क्षेत्र भी विस्तृत और व्यापक होता चला जाता है। आत्म-पराक्रम से स्फुरित होने वाली शुभ परिवर्तन की प्रक्रिया देश और काल की सीमाओं से भी परे होती है। ऐसी असीम होती है इस पराक्रम की ओजस्विता।

शुभ परिवर्तन की क्या परिभाषा ? एक शिशु जब जन्म लेता है तो निश्छल और निष्पाप-हृदय होता है। तब उसकी प्रत्येक लीला सबको सुहाती है। कभी सोचा कि ऐसा क्यों होता है ? यह शुभता का प्रभाव होता है। बच्चा किसी का बुरा नहीं सोचता, बुरा नहीं बोलता और बुरा नहीं करता, इसलिये हमें सुहाता है। लेकिन चिन्तन करने लायक बात यह है कि यदि हम विवेकपूर्वक जीवन यापन करने लगें किसी का बुरा नहीं सोचें, बुरा नहीं बोले और बुरा नहीं करें, बल्कि हम सभी का भला सोचें, भला बोलें और भला करें तो सोचिये कि हमारी लोकप्रियता कैसी होगी ? क्या सुदूर क्षेत्र भी हमारी

लोकप्रियता से प्रभावित नहीं हो जायेंगे ? यह किसका प्रभाव होगा ? हमारी शुभता का ही न ? मन की शुभता वचन की शुभता और कार्य की शुभता की कसौटी यही है कि क्या वह अपने से अन्य को सुख पहुँचाती है ? उसके दुःख का हरण करती है ? लोग मेरी इस शुभता का आकलन उसके बाह्य प्रभाव से ही करेंगे। वैसे भी आन्तरिकता और बाह्यता को एकदम अलग करके नहीं देख सकते हैं। मेरी आन्तरिकता बाह्य–प्रभावी होती है तो वह बाह्य प्रभाव दूसरों की आन्तरिकता को प्रभावित बनाता है और इसी क्रम में शुभता का विस्तार होता है तो इसी क्रम में अशुभता भी फैलाती है। जहाँ अशुभता स्वयं के पतन के साथ बाहर भी विषय और कषाय की आग लगाकर दूसरों को जलाती है, वहाँ शुभता का प्रवाह भीतर–बाहर एक–सी शीतलता फैलाकर सबकी नैतिक उन्नति का पथ प्रशस्त करती है।

शुभता के स्वरूप की अनुभूति लेकर मैं सोचता हूं कि मेरा पराक्रम परिवर्तन का चक्र कैसे और किधर से घुमावे ?

मैं देखता हूँ कि वर्तमान जागतिक वातावरण में अशुभता ही बलवती बनी हुई है। शुभता के साधनों का भी अशुभता फैलाने में दुरुपयोग किया जा रहा है। विज्ञान विशेष ज्ञान को कहते हैं तथा भौतिक क्षेत्र में ही आज विज्ञान ने जो प्रगति की है और जो साधन व उपकरण उपलब्ध कराये हैं यदि उनका उपयोग जनहित में किया जाय तो निश्चय ही सार्वजनिक जीवन की कई विषम समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है तथा सबको समान भाई–चारे की राह पर आगे बढ़ाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान कर क्या रहा है या यों पूछें कि सत्ता और सम्पत्ति के पीछे बावला बना मनुष्य उस विज्ञान का किस कदर दुरुपयोग कर रहा है तथा उसे किस रूप में विश्व–विनाश का साधन बना रहा है ? क्या आवश्यकता है अणुबमों, प्रक्षेपास्त्रों आदि संहारक शस्त्रास्त्रों की ? यह प्रभाव की होड़ ही क्यों लगती है ? क्यों सम्प्रदायों, संगठनों या राष्ट्रों के नाम पर मतभेद और मनभेद की खाइयाँ खोदी जाती है ? ऐसी खाइयाँ कि साधारण जन आमने–सामने भी न हो सके। अधिकार–लिप्सा के पीछे महाविनाश की तैयारियाँ क्या मन, वचन एवं कर्म की घोर अशुभता का ही दुष्परिणाम नहीं है ?

मोटे कहलाने वालों की मोटी अशुभता की कालिमामय बाढ़ में छोटा कहलाने वाला भी कहाँ बचता है ? छोटा अपनी छोटी अशुभता को लेकर ही छोटी लिप्साओं को पूरी करना चाहता है। मोटी हिंसा और छोटी हिंसा में

बाहर का फर्क भले हो, लेकिन मन के भावों में घुटती रहने वाली हिंसा के गाढ़ेपन में एक-सी मारक शक्ति दिखाई देगी। चाहे समाज के क्षेत्र में हो या राजनीति अथवा अर्थनीति के क्षेत्र में, किसी भी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति निर्बलों को कुचलकर अपने ही स्वार्थ पूरे करना चाहता है। और तो और धार्मिक क्रिया-कलापों के वातावरण में भी कई बार कीर्ति लालसा अथवा वर्चस्व लिप्सा सर्व प्रकार की अशुभता को भड़का देती है। सभी ओर फैलती और बढ़ती हुई विविध विषमताओं से अशुभता की यह बाढ़ वेगवती बनती जा रही है। सामान्य जन सामान्य रूप से भेड़ चाल में चलते हैं और वातावरण का अनुकरण करते हुए अनजाने भी इस प्रकार की अशुभता से अपने को रंगते रहते हैं। इस प्रकार मन से उठ कर वचन में निकलती हुई यह अशुभता चहुं ओर लोगों के कार्यों में प्रकट हो रही है तथा निरन्तर वातावरण को अधिक अशुभ, अधिक आक्रामक और अधिक आतंककारी बना रही है।

जहाँ मैंने परिवर्तन का प्रश्न उठाया है, वह परिवर्तन लाना है अशत्रुता की इस बाढ़ में। इस परिवर्तन को मैं शुभ परिवर्तन इस दृष्टि से कहता हूँ कि जितना आज इस संसार में और जन-जीवन में अशुभता का विष घुल रहा है, वह मेरे और सबके पराक्रम से शुभता का अमृत बन जाय।

वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह बात ऐसी लगती है जैसी कि कोई उफनते हुए समुद्र की गरजती हुई लहरों और तूफान की अंधड़भरी आंधियों में छोटी-सी नाव लेकर समुद्र-विजय की बात कहे। एक अकेला व्यक्ति, छोटी नाव और छोटी-सी पतवार-जिनके सामने समुद्र का यह विकराल रूप क्या होगा यदि कोई ऐसा साहस कर बैठे ? क्या वह अपनी छोटी नाव-पतवार के साथ मृत्यु को ही प्राप्त होगा अथवा विजय की दुन्दुभी बजा देगा ? यह आन्तरिक रूपान्तरण की उच्चता का प्रश्न है। महासमुद्र तो क्या- सम्पूर्ण संसार का एक आत्मबली साहस के साथ सफल सामना ही नहीं करता, बल्कि वह अकेला ही सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। ऐसा हुआ है, होता है और होता रहेगा। आन्तरिकता की ओजस्विता के समक्ष सम्पूर्ण अशुभता ने सदा ही हार मानी है और समग्र शुभता ने उसके माथे पर विजय का सेहरा बांधा है। आत्मशुद्धि के पुरुषार्थ को सफल बनाकर व्यक्तित्व का ऐसा तेजस्वी पराक्रम सिद्ध किया जा सकता है कि वह लरजते-गरजते महासमुद्र को बांध दे, अलंघ्य पर्वतों के शिखरों को झुका दे और समस्त संसार में शुभ परिवर्तन का शंख गुंजा दे।

धर्म प्राप्ति के पथ पर

यह एक तथ्य है कि किसी भी क्षेत्र में विकृत मूल्यों को हटाने तथा स्वस्थ मूल्यों को संस्थापित करने का सत्कार्य कुछ प्रबुद्ध व्यक्तित्व ही प्रारंभ करते हैं क्योंकि प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह का डंका बजाना बड़ी हिम्मत का काम होता है।

यह भी एक तथ्यात्मक प्रक्रिया है कि जब कभी प्रबुद्ध व्यक्तित्वों के हाथों स्वस्थ मूल्यात्मक पद्धति स्थापित कर दी जाती है तब वह प्रारम्भिक जनोत्साह के कारण शुद्ध स्वरूप के साथ चलती है किन्तु काल प्रवाह में उस शुद्ध पद्धति के संचालन में धीरे–धीरे अशुद्धता प्रवेश करती जाती है और धीरे–धीरे ही उसमें अशुद्धता का अंश अधिक हो जाता है तथा शुद्धता कम रह जाती है। व्याख्यात्मक दृष्टि से उस शुद्ध पद्धति को वाद कह दिया गया है तो उसके अशुद्ध बन जाने पर उसका नाम प्रतिवाद दे दिया गया है। यह प्रतिवाद मूर्छात्मक अवस्था का प्रतीक हो जाता है। धीरे–धीरे इसके विरुद्ध असन्तोष और विक्षोभ जागता है, तब कुछ प्रबुद्ध–चेता व्यक्ति उस प्रतिवादात्मक स्थिति के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करते हैं। उनका संदेश होता है कि स्वस्थ मानवीय मूल्यों की पुनः स्थापना की जाय। यह विद्रोह बलिदानात्मक होता है और ऐसी क्रान्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उन का बलिदान कितना सघन होता है। अधिकांशतः ऐसे विद्रोह के प्रारंभ कर्त्ताओं को आभास होता है कि उनका बलिदान व्यर्थ जा रहा है क्योंकि उनके सम्पूर्ण प्रयत्नों के बाद भी उन्हें समाज में परिवर्तन आता हुआ नहीं दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। जैसे तपते हुए रेगिस्तान में वर्षा की पहली बूंदे भाप की तरह तुरन्त उड़ जाती है, किन्तु वे बूंदे बाद की बूदों की सफलता का मार्ग साफ कर जाती है। पहली बूंदें रेगिस्तानी रेत का ताप हरण करके भले अपना अस्तित्व तक मिटा देती हैं, लेकिन जब बाद की बूंदें बरसती है तो तापरहित रेत जल्दी ही गिली हो जाती है। यही अवस्था सामाजिक क्रान्ति की भी होती है। पहले पहल प्रबुद्धचेता व्यक्तित्वों का विद्रोह अप्रभावी जैसा दिखाई देता है और उन्हें आभास होता है कि वे अपने कार्य में विफल हो गये हैं। किन्तु वास्तव में उन्हीं का बुनियादी काम होता है। उनके काम से भीतर ही भीतर बदलाव फैलता है और जब बाद में विद्रोह का स्वर गहरा हो जाता है तब वह बदलाव बाहर प्रकट होने लगता है। अतः मानवीय मूल्यों की स्थापना के कार्य में लगने वाले प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वों को पूरे बलिदान के साथ कार्यरत होना चाहिये और निराशा का

भाव कभी भी नहीं लाना चाहिये। सामाजिक क्रान्तियों की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही जटिल होती हैं। प्रतिवाद के विरुद्ध विद्रोह तब बल पकड़ कर सारे विकारों को नष्ट कर देता है और पद्धति की अशुद्धता को धो डालता है। पुनः निखरा वह शुद्ध रूप समन्वयवाद कहलाता है जो वाद का रूप ही हो जाता है। शुद्धि और अशुद्धि तथा अशुद्धि से पुनः शुद्धि का यह क्रम बराब चलता ही रहता है। इस क्रम के अनुसार शुभ परिवर्तन के लिये सदा ही प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वों को आगे आकर अपना नेतृत्व प्रदान करना होता है।

मैं मानता हूँ कि इस दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सामाजिक क्षेत्र–सदा ही प्रबुद्ध व्यक्तित्वों के नेतृत्व की आवश्यकता होती है। और प्रबुद्ध व्यक्ति सदा काल रहते हैं क्योंकि धर्म नीति कभी भी प्रभाव शून्य नहीं होती है। सदा कुछ व्यक्ति तो सर्वत्र ऐसे मिलेंगे ही, जो अपने आन्तरिक रूपान्तरण के लिये पुरुषार्थ रत रहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति समय–समय पर अपने पराक्रम को प्रकट करते हैं और समाज में वांछित शुभ परिवर्तन का शंखनाद करते हैं।

अतः मेरी मान्यता में आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ सर्वाधिक एवं मूलतः महत्त्वपूर्ण है। यही आधार बनता है समग्र समाज की मूल क्रान्ति का। आन्तरिक रूपान्तरण का स्वरूप मेरे समक्ष स्पष्ट है कि मैं विविध विभावों में भटकती हुई अपनी आत्मा को मूल स्वभाव में प्रतिष्ठित करूं तथा उसकी इस प्रतिष्ठा को स्थिरता प्रदान करूं।

मेरे इस उद्देश्य की पूर्ति धर्मनीति पर चल कर ही श्रेष्ठ रीति से हो सकती है। मेरी आत्मा अपने मूल स्वभाव को ग्रहण करती हुई एक दिन उसके अपने धर्म को आत्मसात् कर ले इसके लिये मुझे धर्माराधना की भावनापूर्ण प्रक्रिया अपनानी होगी। धर्म प्राप्ति के पथ पर आगे से आगे बढ़ते रहने का ही नाम धर्माराधना है। धर्माराधना अर्थात् धर्म की आराधना करना कि वह धर्म–आत्मस्वभाव प्राप्त हो।

इस दिशा में मैं आप्त वचनों का पावन स्मरण करता हूँ जिनमें कहा गया है कि धर्म ही आत्मा के लिये उत्कृष्ट मंगल है–वह धर्म जो अहिंसा, संयम तथा तप की आराधना से प्राप्त होता है और जिसके मन में सदा ऐसे धर्म की आराधना बसती है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। अहिंसा, संयम एवं तप रूपी धर्माराधना की सफलता के लिये वीतराग देवों की आज्ञा है–हे समतादर्शी की आज्ञा को पालन करने की इच्छा रखने वाली बुद्धिशालिनी आत्मा, तू अनासक्त हो जा, अनुपम आत्मिक रूप को देख समझ कर अपने

कर्म शरीर को दूर हटा। अपने आप को नियंत्रित कर तथा अपने आपके ही मूल स्वरूप में घुलमिल जा। जैसे अग्नि जीर्ण लकड़ियों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपने मूल स्वभाव में लीन आत्मा अनासक्त बन कर राग–द्वेष को नष्ट कर देती है। जो संयमित नैत्रों के होते हुए भी इन्द्रियों के प्रवाह में आसक्त हो जाता है, वह अज्ञानी होता है। फलस्वरूप उसके कर्मबंधन बिना टूटे हुए रहते हैं और उसके विभाव संयोग बिना नष्ट हुए। ऐन्द्रिक विषयों में रमण करने के विभाव के वशीभूत होकर आत्मा इन्द्रियासक्ति के अंधकार के प्रति अनजान होती है, तब उसके लिये समतादर्शी वीतराग देवों के उपदेश तथा उनकी आज्ञा का भी कोई लाभ नहीं होता। किन्तु जो आत्मा प्रमादजन्य विषमता में नहीं गिरती है, वह समता की साधना में प्रगति करती हैं। अतः हे आत्मा, तू इस देह संगम को देख। यह देह किसी का पहले छूटता है और किसी बाद में, लेकिन छूटता अवश्य है क्योंकि उसका स्वभाव नश्वर है और तेरा स्वभाव अनश्वर, ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। मेरे द्वारा यह सुना गया है और मेरे द्वारा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया गया है कि बंध रूप अशान्ति तथा मोक्ष रूप शान्ति दोनों के कारण तेरे अपने ही मन में रहे हुए हैं। अतः समता धर्म की मानसिकता के साथ अपने कर्मो से युद्ध कर–बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने में कोई लाभ नहीं–तू विषमता से युद्ध करने में अपने को योग्य बना–जो निश्चय ही दुर्लभ है।

ऐसे हैं अनन्त प्रेरणा देने वाले आप्त वचन, जो आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने हेतु ललकारते हैं। ऐसे वचनों को हृदयस्थ करना, वीतराग देवों की आज्ञा में चलना तथा आत्म धर्म को प्राप्त करना मैं अपना पावन कर्त्तव्य मानता हूं। आत्म शुद्धि एवं विभाव मुक्ति के ये तीन सोपान हैं–अहिंसा, संयम और तप। पहले अहिंसा के सोपान पर आरूढ़ होने के लिये मुझे हिंसा से विरत होना पड़ेगा–स्थूल और तदनन्तर सूक्ष्म हिंसा से। मैंने ज्ञान पाया है कि कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं। मुझे हिंसा के इन सभी द्वारों को बंद कर देना होगा क्योंकि हिंसा के कटु फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। प्राणवध रूप हिंसा चंड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है–और महाभयंकर है। मैं जानता हूं कि जो भी कर्म बंधन एवं कर्म मुक्ति के विषय में गहरी शोध करने वाला होता है, वह अहिंसा का पालन करने वाला मेघावी क्षुद्ध बुद्धि वाला होता है। अपने स्वभाव में रमण करने

वाली आत्मा कर्म बंधन और कर्म मुक्ति के विकल्पों से परे हो जाती है। वह अपनी कुशल बुद्धि से जिस काम को भी करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको ही करें तथा जिस काम को वह बिल्कुल नहीं करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको बिल्कुल नहीं करे। अपने जीवन की समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में समूचे रूप से अहिंसा का आचरण करने के उपरान्त आत्मा को ऐसी जागरूक एवं कुशल बुद्धि की प्राप्ति होती है।

अहिंसा के आचरण के लिये यह आधारगत चिन्तन होना चाहिये कि सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है, वे सुख चाहते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं। उन्हें वध अप्रिय लगता है तथा जीवन प्रिय लगता है, अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हें दुःख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है। ऐसा जानकर अपनी आत्मा की उपमा से तुम्हें सभी प्राणियों पर आदर और उपयोग के साथ दया करनी चाहिये। यह जीव हिंसा की ग्रंथ (गांठ) और अष्ट कर्मों का बंध है। यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। अतः मैं अहिंसा के निषेध रूप से दूर रहकर उसके रक्षा और दया रूप विधि रूप का पूर्णतः पालन करूंगा, जिससे मेरा आचार–विचार अहिंसामय हो जायगा।

संयम अहिंसामय आचरण की पृष्ठ भूमि पर ही सुदृढ़ बनता है– ऐसी मेरी मान्यता है। सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार से निवृत्त होना संयम है। पांच आश्रव से निवृत्ति, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दंड से विरति संयम की साधना द्वारा ही संभव बनती है। संयम के सत्रह भेद कहे गये हैं–

(1) पृथ्वीकाय संयम– तीन करण तीन योग (मन, वचन काया से न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना) से पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना न करना।

(2) अपकाय संयम– अपकाय (पानी) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(3) तेजस्काय संयम– तेजस्काय (अग्नि) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(4) वायुकाय संयम– वायुकाय (हवा) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(5) वनस्पतिकाय संयम– वनस्पति काय (पेड़–पौधे आदि) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(6) द्वीन्द्रिय संयम– दो इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(7) त्रीन्द्रिय संयम– तीन इन्दियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(8) चतुरिन्द्रिय संयम– चार इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(9) पंचेन्द्रिय संयम– पांच इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(10) अजीव संयम– अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं को ग्रहण करने से असंयम होता है, उन्हें ग्रहण न करना अजीव संयम है। जैसे सोना, चांदी आदि धातुओं अथवा शस्त्रों को पास में नहीं रखना। पुस्तक, पत्र तथा संयम के दूसरे उपकरणों की प्रतिलेखना करते हुए यतनापूर्वक बिना ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रख़ना असंयम नहीं है। इसी तरह गृहीत वस्त्रादि का निरर्थक दुरुपयोग न करना अजीव संयम है।

(11) प्रेक्षा संयम– बीज, हरी घास, जीव–जन्तु आदि से रहित स्थान में अच्छी तरह देखभाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं करना प्रेक्षा संयम है।

(12) उत्प्रेक्षा सयंम– मनोज्ञ–अमनोज्ञ पदार्थो में या प्रसंगों में राग–द्वेष न करते हुए उपेक्षा भाव (माध्यस्थ भाव) रखना। अथवा–वस्तु को भली–भांति बार–बार देखना।

(13) प्रमार्जना संयम– स्थान तथा वस्त्र–पात्र आदि को पूंज कर काम में लाना प्रमार्जना संयम है।

(14) परिष्ठापना संयम– आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवों से रहित स्थान में यतनापूर्वक शास्त्र में बताई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना संयम है।

(15) मनः संयम– मन में ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि विकारी भाव न रखकर उसे धर्मध्यान में लगाना मनःसंयम है।

(16) वचन संयम– हिंसाकारी कठोर वचन को छोड़कर शुभ वचन में प्रवृत्ति करना वचन संयम है।

(17) काय संयम– गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यो में उपयोग पूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना काय संयम है।

ये ही संयम के सत्रह भेद अन्य प्रकार से भी बताये गये हैं–

(1–5) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पांच आश्रवों से विरति।

(6–10) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–इन पांच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हें वश में रखना।

(11–14) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना।

(15–17) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दंडों से विरति।

यों संक्षेप में संयम के चार रूप कहे गये हैं–(1) मन का संयम (2) वचन का संयम (3) शरीर का संयम तथा (4) उपधि सामग्री का संयम। अति संक्षिप्त व्याख्या यह है कि कर्म–बंधन कराने वाले कार्यों को छोड़ देना संयम है। मार्गणा स्थान में अवान्तर भेद से संयम के सात भेद बताये गये हैं–(1) सामायिक संयम (2) छेदोपस्थानीय संयम (3) परिहारविशुद्धि संयम, (4) सूक्ष्म सम्प्रराय संयम (5) यथाख्यात संयम (6) देश विरति तथा (7) अविरति।

पाप या दोषों के सेवन से संयम की विराधना होती है। इसे प्रतिसेवना कहते हैं, जो दस प्रकार की कही गई है–

(1) दर्प प्रतिसेवना– अहंकार या अभियान से होने वाली संयम की विराधना।

(2) प्रमाद–प्रतिसेवना– मद्य पान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा– इन पांच प्रमादों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना।

(3) अनाभोग प्रतिसेवना– अज्ञान से होने वाली संयम की विराधना।

(4) आतुर प्रतिसेवना– भूख, प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल हो जाने पर की जाने वाली संयम की विराधना।

(5) आपत्प्रतिसेवना– किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है–(अ) द्रव्यापत्–प्रासुक आदि निर्दोष आहार वगैरा न मिलना, (ब) क्षेत्रापत्–अटवी आदि भयानक जंगल में रहना पड़े, (स) कालापत्–दुर्भिक्ष आदि पड़ जाय और (द) भावापत्–बीमारी आदि से शरीर का अस्वस्थ हो जाना।

(6) संकीर्ण प्रतिसेवना– स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तंगी के कारण संयम का उल्लंघन करना अथवा ग्रहण योग्य आहार में किसी दोष की शंका हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(7) सहसाकार प्रतिसेवना– अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे–बूझे और प्रतिलेखना किये किसी काम को करना।

(8) भय प्रति सेवना– किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त होकर संयम की विराधना करना।

(9) प्रद्वेष प्रतिसेवना– किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से संयम की विराध ना करना। यहाँ प्रद्वेष शब्द में चारों कषाय सम्मिलित है।

(10) विमर्श प्रतिसेवना– शिष्य की परीक्षा आदि के लिये की गई संयम की विराधना।

संयम के साधक को सदैव इस रूप से जागृत रहना चाहिए कि विराधना या प्रतिसेवना का अवसर नहीं आवे।

मेरी इस मान्यता में अटल आस्था है कि अहिंसामय आचरण से पुष्ट बनी संयम साधना के द्वारा कर्म बंध के कारणों को मन्दतम बनाया जा सकता है। कर्मों का इससे आगमन अवरुद्ध हो जाता है। वैसी अवस्था में बद्ध कर्मो के क्षय की ही समस्या सामने रह जाती है, जिसका सफल उपाय है–तप।

तपश्चरण से कर्मो की निर्जरा होती है और तप महान् पुरुषार्थ और पराक्रम कहा गया है। अहिंसा, संयम और तप के तीन सोपानों को सफलतापूर्वक लांघ लेने के बाद आत्मा की विभाव मुक्ति या स्वभाव प्राप्ति अथवा धर्म प्राप्ति हो जाती है (तप के स्वरूप और भेदों का विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय में उपलब्ध है)। यह त्रिविध धर्माराधना साध्य तक पहुंचाने वाली होती है।

स्वाभाविक गुणों का विकास

सफल धर्म नीति वही कही जायगी, जिसका अनुसरण करते हुए आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास हो। इन स्वाभाविक गुणों में उन सभी मानवीय गुणों का समावेश हो जाता है जो एक मानव में मानवता के स्वरूप को दर्शाने वाले होते है। स्वाभाविक गुणों को प्रोत्साहित करने वाली धर्माराधना को निश्रेयस–कल्याण प्राप्ति की साधिका कहा गया है जो दो प्रकार से आराधी जाती है–

(1) श्रुत धर्म–अंग और उपांग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुत कहते हैं। श्रुत में ही वाचना, प्रच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकार भी समाहित माने गये हैं। श्रुत के भी दो भेद हैं–(अ) सूत्र श्रुत–अंग और उपांग रूप शास्त्रों के शब्द रूप मूल पाठ को सूत्र कहते हैं, व (ब) अर्थ श्रुत–शास्त्र–पाठों के अर्थ को अर्थ श्रुत कहते हैं।

(2) चारित्र धर्म– कर्मो को नाश करने की चेष्टा को चारित्र धर्म कहते हैं। मूल गुणों व उत्तर गुणों के समूह का नाम भी चारित्र धर्म ही है। एक शब्द में इसे क्रिया रूप धर्म कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं (अ) अगार चारित्र–अगारी–श्रावक के देश विरति धर्म को कहते हैं, व (ब) अनगार चारित्र–अनगार–साधु के सर्वविरति धर्म को कहते हैं। सर्वविरति रूप धर्म में तीन करण तीन योग से त्याग होता है।

एक अपेक्षा से धर्म के तीन भेद भी किये गये हैं– (1) श्रुत (2) चारित्र और (3) अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय आदि को अस्तिकाय कहते हैं।)।

एक अन्य अपेक्षा से धर्माराधना के चार प्रकार भी बताये गये हैं जो एक प्रकार से आत्मा के स्वाभाविक गुण ही हैं–

(1) दान–स्व और पर के उपकार के लिये अर्थात् आवश्यकता वाले जीव को जो उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाता है, उसको दान कहते हैं। दान कई प्रकार के होते हैं– धन–दान, वस्तुदान के अलावा अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि। श्रेष्ठ दान देने में मुक्त हस्तता रखना दान धर्म का पालन कहा जाता है। दान के दस प्रकार– (अ) अनुकम्पादान–किसी दुःखी, दीन, अनाथ प्राणी पर दया करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। (आ) संग्रह दान–संग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिये किसी को कुछ देना संग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता है, इसलिये मोक्ष का कारण नहीं होता। (3) भयदान–राजा, मंत्री, पदाधिकारी आदि के भय से अथवा राक्षस, पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान कहलाता है। (ई) कारुण्य दान–पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक आदि के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान कहलाता है। (उ) लज्जा दान– लज्जा के कारण दिया जाने वाला दान लज्जा दान है। जनसमूह के बीच में बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मांगने लगता है, उस समय मांगने वाले की बात रखने के लिये कुछ दे देने को लज्जादान कहते हैं। (ऊ) गौरव दान– यश कीर्ति या प्रशंसा प्राप्त करने के लिये गर्वपूर्वक दान देना। नट, नृत्यकार, पहलवान, सम्बन्धी या मित्र को यश प्राप्ति के लिये जो दान दिया जाता है, वह गौरव दान कहा जाता है। (ए) अधर्मदान– जो दान अधर्म की पुष्टि करने वाला होता है या जो अधर्म का कारण होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, परदारगमन और आरंभ–समारंभ रूप परिग्रह में आसक्त लोगों को जो कुछ दिया जाता

है, वह अधर्मदान है। (ऐ) धर्मदान– धर्म कार्यो मे दिया गया अथवा धर्म का कारणभूत दान धर्मदान कहलाता है। जिनके लिये तृण, मणि और मोती एक समान हैं, ऐसे वीतराग–वाणी पर स्थिर सुपात्रों का जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान होता है। ऐसा दान कभी व्यर्थ नहीं होता। इसके बराबर कोई दूसरा दान नहीं है। यह दान अनन्त सुख का कारण होता है। (ओ) करिष्यति दान– भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है, वह कारिष्यति–दान है। (औ) कृत दान– पहले किये हुए उपकार के बदले में जो कुछ दिया जाता है, वह कृत दान है। इसे प्रत्युपकार दान भी कहते हैं। इन दस प्रकारों में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के दान आ गये हैं। शुभ दान की दृष्टि से उसके चार प्रकार हैं : (अ) ज्ञानदान– ज्ञान पढ़ाना, पढ़ने और पढ़ाने वालों की सहायता करना आदि ज्ञानदान है। (ब) अभयदान– दुःखों से भयभीत जीवों को भय रहित करना अभयदान है। (स) धर्मोपकरण दान– छः काया के आरंभ से निवृत्त पंचमहाव्रतधारी साधु को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि धर्म सहायक उपकरण देना धर्मोपकरण दान है। (द) अनुकम्पादान–अनुकम्पा के पात्र दीन, अनाथ रोगी, संकटग्रस्त को अनुकम्पा भाव से दान देना अनुकम्पा दान है। वस्तुतः बदला पाने की आशा के बिना निःस्वार्थ बुद्धि एवं करुणा भावना से जो दान दिया जाता है, वही सच्चा दान होता है। ऐसे दाता भी दुर्लभ होते हैं तो निःस्पृहभाव से शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन यापन करने वाले भी विरले ही होते हैं। निःस्वार्थ भाव से दान देने वाले और निःस्पृह भाव से दान लेने वाले दोनों ही दान–गुण के श्रेष्ठ प्रतीक माने गये हैं।

(2) शील (ब्रह्मचर्य)—मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शील धर्म है। शील सर्व विरति एवं देश विरति रूप दो प्रकार का होता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वदार सन्तोष और परस्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य एकदेश शील है। मन, वचन और काया को सांसारिक वासनाओं से हटाकर आत्म चिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अट्ठारह भेद हैं– देव सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा उसका अनुमोदन नहीं करना– इस प्रकार नौ भेद तथा इसी प्रकार मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी भोगों के भी नौ भेद सो कुल अट्ठारह हुए। इन भोगों का सेवन करना अट्ठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य हो गया। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतों की आराधना सहज हो

जाती है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति– ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। ब्रह्मचारी इस लोक और परलोक में यश, कीर्ति और लोक विश्वास प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी को स्त्रियों को न रागपूर्वक देखना चाहिये न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी उन्हें नहीं करना चाहिये। सदा ब्रह्मचर्य व्रत में रमण करने वालों के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है एवं उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

(3) तप–जो आठ प्रकार के कर्मों एवं शरीर की सात धातुओं को जलाता है, वह तप है। तप बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। बाह्य के छः और आभ्यन्तर के छः इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं। तप का अर्थ है इच्छाओं को रोकना तथा कष्टों को सहन करना। जिस तालाब में नया पानी आना बन्द है, उसका पानी बाहर निकालने से तथा धूप से जैसे धीरे–धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर संयमी साधुओं के भव–भवान्तरों के संचित कर्म तपश्चरण के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। पराक्रम रूपी धनुष में तप रूपी बाण चढ़ाकर मुनि कर्म रूपी कवच का भेदन कर देता है और संग्राम से निवृत्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाता है। तप ऐसा करना चाहिये कि विचारों की पवित्रता बनी रहे, इन्द्रियों की शक्ति हीन न हो और साधु के दैनिक कर्त्तव्यों में शिथिलता न आने पावे। जो तपस्वी है, दुबला पतला है, इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, शरीर का रक्त और मांस जिसने सुखा दिया है, जो शुद्ध व्रत वाला है तथा जिसने कषाय को शान्त कर आत्म–शान्ति प्राप्त की है वही सिद्ध पद का अधिकारी है। तपश्चरण भीतर बाहर के सारे विकार को जला देता है। वह काया को ही कृश नहीं करता बल्कि माया को भी मार देता है। मन का मूर्छा भाव मिटे– यह तप का प्रधान उद्देश्य माना गया है अतः तपस्या का आचरण आन्तरिक विवेक के साथ होना चाहिये। जो आत्मशक्ति को तप में लगाता है, उसकी शक्ति पूर्णतः सार्थक बनती है। तप के माध्यम से ही उस शक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। यदि तपश्चरण अनशन आदि बाहरी क्रियाओं तक ही सीमित रह जाता है तो वह उतना हितावह नहीं बनता क्योंकि तप की तेजस्विता से विषय–कषायों से सम्बन्धित मन, वचन एवं काया का अशुभ योग व्यापार जलना ही चाहिये। तप की आराधना से ही आत्मा के अनेक स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं तथा प्रभावपूर्ण बनते हैं। (4) भाव (भावना)–मुमुक्षु आत्मा अशुभ भावों को दूर करके अपने आप को शुभ भावों में तल्लीन बनाने के लिये जो संसार की अनित्यता आदि का विचार करती है, वही भावना है। अनित्य, अशरण आदि बारह

भावनाएँ हैं। मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्था में भी चार भावनाएँ हैं। व्रतों को निर्मलता से पालन करने के लिये व्रतों की पृथक–पृथक भावनाएँ भी बतलाई गई हैं। मन को एकाग्र करके उसे इन शुभ भावनाओं में लगा देना ही भावनाधर्म है। आत्मा के स्वभावगत प्रत्येक गुण को द्विरूपी माना गया है– एक भाव रूप तथा दूसरा द्रव्य रूप। द्रव्य रूप वह जो उसका स्वरूप और प्रयोग बाहर दिखाई देता है, जबकि गुण का भाव रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि द्रव्य रूप स्वयं भाव रूप से उपजता है। गुण की आत्मा उसका भाव रूप तो उसका शरीर द्रव्य रूप होता है। चिन्तन, मनन एवं अनुशीलन से अमुक गुण का मर्म जो हृदय में जागता है उसी के प्रभाव से वाणी और कर्म में वह गुण उतरता है तथा आचरण में स्थायित्व पाता है।

इस प्रकार धर्माराधना की प्रक्रिया में ज्यों–ज्यों आत्मा का कलुष और विकार समाप्त होता है, त्यों–त्यों उसके स्वभावगत गुण प्रकट होकर खिल उठते हैं। जीवन में इससे एक ओर निर्मलता प्रतिभासित होती है तो दूसरी ओर स्वाभाविक गुणों का ओजपूर्ण विकास भीतर बाहर के क्षेत्रों में प्रभावी बनता है।

धर्म नीति का व्यापक स्वरूप

मैं इसे सही नहीं मानता कि धर्म नीति का प्रयोग क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित है। उस का व्यापक क्षेत्र भी है तो व्यापक स्वरूप भी। सामान्य रूप से धर्मनीति का अर्थ नीति और कर्त्तव्य से लिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति की नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा पर धर्माराधना बल देती है, उसी प्रकार ग्राम से लेकर नगर, राष्ट्र और संघ तक की नैतिकता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा पर धार्मिकता अपना अभिमत प्रकट करती है। अपने शुद्ध स्वरूप में धार्मिकता और नैतिकता एवं समूहगत दोनों प्रकार की जीवन पद्धतियों को सम्यक् रीति से संचालित करने में समर्थ मानी गई हैं।

कर्त्तव्य बोध की दृष्टि से धर्म के दस स्वरूप इस प्रकार वर्णित किये गये हैं :

(1) ग्राम धर्म—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, अतः जब उसका सम्पर्क अपने मूल परिवार के घटक के बाहर आरंभ होता है तब उसका परिचय कुछ विस्तृत समस्याओं तथा उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों से होता है। हरेक गाँव की अपनी परम्पराएँ होती हैं– अपने रीति–रिवाज होते हैं–उनकी सुव्यवस्था कैसे की जाय तथा प्रचलित व्यवस्था में क्या–क्या सुधार किये जायें– इस पर प्रत्येक ग्रामवासी को विचार करना होता है तथा अपनी

सम्मति देनी होती है ताकि सब सम्मतियों का समन्वय होकर ग्राम की उन्नति के लिये सुन्दर योजना का निर्माण हो सके। मुख्यतः समूह की दृष्टि से समाज के सबसे छोटे घटक परिवार के ऊपर ग्राम का क्रम आता है। जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार से संरक्षण प्राप्त करता है और उसकी उन्नति के लिये त्याग भी करता है, उसी प्रकार उसे ग्राम धर्म यह सिखाता है कि समस्त ग्राम को वह एक बड़े परिवार के रूप में देखें तथा ग्राम हित के लिये प्राथमिकता से ध्यान दे। ग्राम और ग्रामवासियों के पारस्परिक हितों की व्यवस्था इस रूप में हो कि एक ओर ग्राम सभी निवासियों को आगे बढ़ने के लिये सामूहिक संरक्षण प्रदान कर सके तो दूसरी ओर ग्रामवासी भी अपने स्वार्थों को ग्रामहित से ऊपर न उठने दें। इस सुव्यवस्था की छाया में धार्मिकता और नैतिकता समुन्नत बने–यह ग्राम धर्म का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

(2) नगर धर्म–नगर की निवास पद्धति को नगर धर्म कहते हैं जो प्रत्येक नगर के अनुसार भिन्न–भिन्न स्वरूप वाली हो सकती है। वैसे नगर भी ग्राम के ही समान परिवार से ऊपर का घटक होता है अतः ग्रामधर्म एवं नगर धर्म का स्वरूप तथा कर्त्तव्य प्रायः समान ही होते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि ग्राम की सीमा से नगर की सीमा विस्तृत होती है तथा आबादी भी बहुसंख्यक, जिसके कारण ग्राम की समस्याओं से नगर की समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और जटिल समस्याओं के समाधान के लिये नगरवासियों की कर्त्तव्य निष्ठा भी अधिक गहरी होनी चाहिये। नगर की परम्परागत गुणधर्मिता को संरक्षण मिले तथा प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन विकास के मुक्त अवसर–यह नगर धर्म की सफलता का परिचायक होता है।

(3) राष्ट्र धर्म–भौगोलिक दृष्टि से किसी देश की सीमाएँ निर्धारित होती हैं, किन्तु उसमें रहने वाले नागरिकों के मन में जो एकता एवं संयुक्तता का भाव होता है, वह उस देश की राष्ट्रीयता कहलाती है। राष्ट्रधर्म इसी भाव को विकसित करने वाला होता है ताकि उस देश में रहने वाले नागरिक भाषा, रीति–रिवाज या मान्यताओं की विविधता के उपरान्त भी राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट रह सकें। यों राष्ट्रीयता भी आक्रामक नहीं होनी चाहिये तथा उसका रुख अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व की दिशा में गतिशील रहना चाहिये। ऐसा राष्ट्रधर्म ही किसी भी राष्ट्र में वहाँ की व्यवस्था को नैतिक एवं धर्माधारित बनाये रखता है तथा वहाँ के नागरिकों में सहज वातावरण के प्रभाव से स्वाभाविक गुणों को उदात्त बनाता है।

(4) पाखण्ड धर्म—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। इसमें लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। पाखण्ड का एक अर्थ यह भी होता है जो पाप का खण्डन करता है वह पाखण्ड है, व्रत पाप से रक्षा करता है वृतराधन से पाप खण्डित निर्जरित होता है। ऐसे व्रत को जो स्वीकार करता है उसे व्रती या पाखण्डी कहा जाता है। व्यवहार में पाखण्ड को दम्भ अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु यहां उसे ग्रहण नहीं किया गया है।

(5) कुल धर्म—समाज का ही यह एक अन्य प्रकार का घटक होता है, जिसका फैलाव ग्राम—नगर से लेकर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र तक हो सकता है। गृहस्थों के कुलों का आचार कुलाचार कहलाता है तो साधुओं के गच्छों का आचार समाचारी कहलाती है। इन दोनों की गणना कुल धर्म में होती है। किसी कुल से सम्बन्ध रखने के नाते एक व्यक्ति का कर्त्तव्य अपने कुल की सुव्यवस्था एवं उन्नति के साथ भी सम्बन्धित होता है। अलग—अलग स्तरों पर एक ही व्यक्ति को अपने अलग—अलग धर्मो—कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। कुल भी समाज के अन्तर्गत एक प्रकार का समूह ही होता है जिसकी संस्कृति में एक प्रकार की समानता होती है किन्तु समय—प्रवाह में कुलों का स्वरूप भी बदलता रहता है।

(6) गणधर्म—कुलों का समूह गण कहलाता था और उस गण के आचार को गण धर्म का नाम दिया गया। यह प्राचीन युग का पारस्परिक शब्द है तथा इसी नाम से गणराज्य की नींव पड़ी थी जो आज के युग में भी अपना ली गई है। गण का प्रभुत्त्व उस समय की विशेषता थी क्योंकि तब तक राजतंत्र कर्त्तव्यहीन तथा अत्याचारी बन चुका था और जनता उससे विक्षुब्ध ा हो चुकी थी। उसी परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति शासन के विरुद्ध गणों का प्रभाव प्रतिष्ठित हुआ तथा गणराज्य के माध्यम से लोकशासन का स्वरूप विकसित हुआ। यों भी समाज ऐसे समूह का नाम होता है जिसमें भांति—भाति के समूह सक्रिय होते हैं। ये समूह कभी क्षेत्रीय तो कभी भाषायी, जातीय या संस्कृति पर आधारित होते हैं। किन्तु जब तक ये समूह अपनी सीमाओं में रहकर स्वाभाविक गुणों के विकास में यत्नशील रहते हैं तब तक ये हानिप्रद नहीं बनते।

(7) संघ धर्म—विचार एवं आचार की एकता के आधार पर जो नागरिक एकता—साध कर अपनी एक व्यवस्था बना लेते हैं, उसे संघ कहा जाता है तथा संघ की आचार पद्धति का नाम संघ धर्म है। उदाहरण के लिये

जैन संघ को लिया जा सकता है जिसका नाम चतुर्विध संघ दिया गया है क्योंकि इस संघ में चार प्रकार के सदस्यों ने एक व्यवस्था का रूप दे रखा है। ये सदस्य हैं– साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। संघ की दृष्टि से भी संघ सदस्यों को अपने गुणात्मक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है।

(8) श्रुत धर्म—शास्त्रीय आज्ञा पद्धति को सामने रखकर व्यक्ति को आत्माभिमुखी बना कर ऊपर उठाने वाला यह धर्म उसे आध्यात्मिकता की अमित ऊँचाई तक ले जाने में सक्षम है। आत्म विकास की महायात्रा का प्रारम्भ इसी धर्माराधना की सहायता से सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

(9) चारित्र धर्म—यह श्रुत का आचरणात्मक पक्ष है। संचित कर्मों को इस धर्माराधना से रिक्त कर दिया जाता है। जिससे आत्मा निर्मल स्वरूपी बन जाती है।

(10) अस्तिकाय धर्म—अस्ति अर्थात् प्रदेशों की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। ये पांच द्रव्य हैं– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इनके अपने–अपने स्वभाव को आस्तिकाय धर्म कहते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्गल को गति में सहायता देना है।

इस रूप में ये दस धर्म धर्मनीति के व्यापक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं जिनके क्षेत्र में पूरा मानव समाज समाहित हो जाता है। मानव समाज का व्यवहार सम्पूर्ण जीवों को प्रभावित करता है अतः विभिन्न स्तरों पर यदि मनुष्य अपने धर्म–कर्त्तव्य का निर्वाह निष्ठापूर्वक करने लगे तो एक समतापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सकता है। इस वातावरण की पुष्टि के साथ ही मानवता का नया स्वरूप भी प्रस्फुटित हो सकेगा।

मानवता की संरचना

मेरी दृष्टि में मूल प्रश्न यही है कि इस दुर्लभ मनुष्य तन में मनुष्यता का भी निवास हो। क्योंकि मानवताहीन मानव का कोई मूल्य नहीं रह जाता है न स्वयं उसके जीवन के लिये तथा न सामाजिक जीवन के लिये। एक मानव का जीवन मानवीय गुणों से रहित हो– यह एक बात लेकिन दूसरी बात उससे भी अधिक भयावह एवं घातक हो जाती है कि वह पशु बन जाय या उससे भी निकृष्ट राक्षस बन जाय। मनुष्य जीवन की ऐसी दुरावस्था में ही समाज का स्वरूप भी विकृत हो जाता है तथा वह मूल्य विहीन बनकर

सामूहिक यंत्रणा का कारण भूत हो जाता है। एक बांध में अणु जितना छेद भी जल्दी ही दरार का रूप ले लेता है और बांध को फोड़ देता है। मानवीय आचरण का भी यही हिसाब रहता है। बुराई बहुत जल्दी फैलती है और ज्यों–ज्यों एक से दूसरे मनुष्य के जीवन में पशुता व राक्षसी वृत्ति का विस्तार होता है, वह विस्तार पसरता ही जाता है। अतः मनुष्य के आचरण पर ऐसा नियंत्रण आवश्यक है कि पहले तो वह अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर आक्रामक न बने और बाद में उसे मानवीय सद्‌गुणों तथा मूल्यों के सांचे में ढाला जाय कि न सिर्फ वह मानवता से विभूषित बने बल्कि देवत्त्व की दिव्यता का वरण करने के लिये भी अग्रगामी हो।

इस रूप में मानवता की सरंचना एक व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक आवश्यकता भी है और इसी रूप में यह स्वयं सम्बन्धित मानव के साथ सम्पूर्ण समाज का दायित्व भी होगा। एक मानव अपने समुचित स्थान से तभी फिसलता है और अपने स्वाभाविक गुणों को भूलता व छोड़ता है जब उसके सामने अपने ही स्वार्थो को पूरा कर लेने का प्रलोभन होता है अथवा अपने प्राप्त स्वार्थों के कुचले जाने का भय। यों मनुष्य को सादगी से अपना जीवन–यापन करना बुरा नहीं लगता यदि वैसा समानता भरा अवसर सभी मनुष्यों के सामने हो, लेकिन जब सामाजिक परिस्थितियों में विषमता हो–कुछ लोग अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन जीते हों और अत्याचार करके अथाह सत्ता और अखूट सम्पत्ति संचित करते हों तथा बहुत लोग मूल निर्वाह आवश्यकताओं से भी वंचित रहकर कष्टपूर्ण जीवन बिताते हों तथा ऊपर वालों के अत्याचारों को निरीह बन कर सह लेने को विवश हों। ऐसी विषमता में दोनों ओर पशुता भी पनपती है तो राक्षसी वृत्ति भी राहू बनकर सबको ग्रसित करती है। अतः मानव के दुष्ट प्रयासों पर कड़ा सामाजिक नियंत्रण एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती हैं। सामूहिक अनुशासन ही उद्दंड मानव की उद्दाम इच्छाओं पर कड़ा प्रतिबंध लगा सकता है।

मानवता की संरचना के भगीरथ प्रयास में इन सभी परिस्थितियों का एक स्वस्थ आकलन होना चाहिये और सभी मोर्चों पर मानवता–विरोधी क्रिया–कलापों पर कड़ी रोक लगनी चाहिये। जैसे कर्म मुक्ति के लिये पहले आने वाले कर्मो पर रोक लगनी चाहिये, वैसे ही मानव समाज में पहले अमानवीय क्रिया–कलापों पर रोक लगनी चाहिये। संवर के बाद जैसे निर्जरा का क्रम लिया गया है, उसी रूप में फिर अस्तित्व में रहे हुए मानवताहीन मूल्यों से संघर्ष किया जाय और मानव की संशोधित वृत्तियों व प्रवृत्तियों तथा

कठोर सामाजिक अनुशासन के साथ नये मानव का उदय किया जाय। तब मानव मूल्यों की धीरे-धीरे स्थिर प्रतिष्ठा हो जायर्ग । इसी प्रकार मानवता की सरंचना संभव हो सकेगी।

मानवता की संरचना रूप शुभ परिवर्तन का पराक्रम मुझे भी दिखाना होगा और मेरे साथ सभी प्रबुद्ध चेताओं को भी दिखाना होगा। यह कार्य एक संयुक्त दायित्व का रूप ग्रहण कर लेगा जिसका अपने जीवन के प्रति भी निर्वाह करना होगा तथा दूसरों के जीवन-परिवर्तन के प्रति भी निर्वाह करना होगा। इस दृष्टि से समाज में रहने वाले मानवों के स्वभाव या विभावगत भिन्न-भिन्न प्रकारों को समझ लेने की जरूरत है कि किस प्रकार के मानव का जीवन परिवर्तित करने के लिये किस प्रकार के प्रायोगिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी ?

आप्त पुरुषों ने विभिन्न उपमाओं से मनुष्यों के वर्गीकरण इस रूप में किये हैं कि फूल की तरह मनुष्य चार प्रकार के होते हैं-

(1) सुन्दर किन्तु गंधहीन। मनुष्य के संदर्भ में सुन्दरता भौतिक सम्पत्ति को मानी है तथा आध्यात्मिक (नैतिक) उन्नति की उपमा सुगन्ध से दी है। तो पहले वर्ग के मनुष्य ऐसे होते हैं जो भौतिकता से सम्पन्न किन्तु उसी में लीन होते हैं। वे आध्यात्मिक या नैतिक चेतना से शून्य से ही बने रहते हैं।

(2) गंधयुक्त किन्तु सौन्दर्यहीन। दूसरे वर्ग के मनुष्य आध्यात्मिकता में चिन्तनशील तथा नैतिकता के आचरण वाले होते हैं किन्तु भौतिक सम्पत्ति से रहित होते हैं किन्तु उसके लिये वे खेद मग्न नहीं होते, आध्यात्मिक आल्हाद से उल्लासित बने रहते हैं।

(3) सुन्दर भी, सुगंधित भी। तीसरे वर्ग के मनुष्यों के पास भौतिक सम्पन्नता होती है तो उनकी ज्ञान चेतना आध्यात्मिकता से भी सम्पन्न होती है। वे महान् ऋद्धि-सिद्धि के अधिपति होते हुए भी उसमें आसक्त नहीं बनते हैं। उनके लिये उनकी सम्पत्ति ही लोष्ठवत् होती है।

(4) न सुन्दर, न गंधयुक्त। चौथे वर्ग के मनुष्य भौतिक सम्पत्ति से भी हीन होते हैं तो आध्यात्मिक चेतना से भी शून्य। दोनों क्षेत्रों का दारिद्र्य उन्हें घेरे रहते है।

मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों के विषय में भी ज्ञानप्रद वर्गीकरण बताये गये हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार है :

(1) घड़ों से मनुष्य की तुलना की गई है। घड़ा मनुष्य के हृदय को माना गया है तो ढक्कन उस की वाणी को। विचार और वाणी की एकरूपता या विभेदता की दृष्टि से यह उपमा है। (अ) मधु का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार और वाणी दोनों श्रेष्ठ। (ब) मधु का घडा और विष का ढक्कन याने विचार श्रेष्ठ किन्तु वाणी कटुताभरी। (स) विष का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार कलुषित और निकृष्ट, किन्तु उनका वाणी में मायाचार से भरा मीठा प्रकटीकरण। तथा (द) विष का घड़ा और विष का ढक्कन याने विचार और वाणी एक–सी निकृष्ट।

(2) कुछ व्यक्ति सेवा आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं किन्तु उसका अभिमान नहीं करते। कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नहीं करते । कुछ कार्य भी करते हैं और अभिमान भी करते हैं। कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान करते हैं।

(3) कुछ साधक सिंह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं और सिंह वृत्ति से ही रहते हैं। कुछ सिंह वृत्ति से आते हैं किन्तु बाद में श्रृंगाल वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ श्रृंगाल वृत्ति से आते हैं और बाद में सिंह वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ श्रृंगाल वृत्ति लिये आते हैं और श्रृंगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं।

(4) कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं। कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भी। कुछ न अपना भला करते हैं, न दूसरों का।

(5) कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य भी करते हैं। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प लेते हैं। किन्तु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं।

(6) फल की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते हैं अर्थात् कुछ मनुष्य कम उम्र में भी साधारण समझदार हो जाते हैं। (ब) कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं, याने कि लघु वय में भी बड़ी उम्र वालों की तरह पूरे समझदार हो जाते हैं। (स) कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं अर्थात् बड़ी उम्र में भी कम समझदारी रहती है। तथा (द) कुछ फल पके होने पर अति

होते हैं याने बड़ी उम्र में पूरी समझदारी आ जाती है।

(7) कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं। कुछ अपना दोष भी देखते हैं दूसरों का भी। कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का।

(8) कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता। कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नहीं। कुछ की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी। कुछ का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

(9) मेघ की तरह दानी मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ बोलते हैं, देते नहीं। (ब) कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं। (स) कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। तथा (द) कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

संख्या में न्यूनाधिकता होती है, किन्तु मनुष्यों में इस प्रकार के वर्ग प्रत्येक समय में मिलते हैं। इन वर्गों के परिप्रेक्ष्य में किसी भी समय की शुभता, अशुभता अथवा शुभाशुभता का निर्णय निकाला जा सकता है तथा ऐसे भिन्न–भिन्न उपाय भी निकाले जा सकते हैं जिनका प्रयोग भिन्न–भिन्न वर्गों के साथ सफलतापूर्वक किया जा सके तथा सभी वर्गों में संशोधन की एक–सी धारा प्रवाहित की जा सके।

मेरा मानना है कि उपरोक्त चार वर्गों में एक वर्ग इस प्रकृति का होता है, जो समाजहित को अपने स्वार्थों से ऊपर रखकर आवश्यकतानुसार त्याग के लिये भी तत्पर हो सकता है तो अपनी प्रबुद्धता एवं जागरूकता के आधार पर सामाजिक क्रान्ति का बीड़ा भी उठा सकता है। पहली जरूरत ऐसे ही वर्ग के मनुष्यों को संगठित करने की मानी जाने चाहिये जो स्वयं आदर्शजीवी हों तथा आदर्श के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देने के अभिलाषी भी। ऐसे वर्ग का संगठन अवश्य ही समाज को नवसर्जन की दिशा देकर मानव में मानवता की संरचना का पुण्य कार्य सम्पन्न कर सकता है।

सर्वत्र समभाव का जागरण

मानवता की संरचना एवं मानव–मूल्यों की संस्थापना के साथ ही मेरा विचार है कि सामाजिक क्षेत्र में सहयोगात्मक वातावरण का प्रसार होगा तथा संविभाग की भावना भी जन्म लेगी। इससे अर्जन एवं जीवन निर्वाह की पद्धति में भी शुभ परिवर्तन आयगा कि सत्ता या सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्त्व की लालसा घट जायगी और निर्वाह के स्तर में समानता का प्रवेश

होगा। यह परिवर्तन बाहरी सामाजिक नीतियों के प्रभाव से भी आयगा तो भीतरी वृत्तियों का भी परिणाम होगा, वल्कि बाहर से भीतर और भीतर से बाहर दोनों ओर से परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहेगी।

मेरा अनुमान है कि इस प्रक्रिया के बाद जब परिवर्तित वातावरण स्थिरता ग्रहण कर लेगा तो सामूहिक रूप से सारे समाज में एक नया ही भावनात्मक बदलाव दिखाई देगा और यह बदलाव होगा समभाव के पक्ष में। समान अवसर एवं समान स्तर की परिस्थिति में सबके बीच समभाव का जागरण भी अवश्यंभावी बन जायगा। यह समभाव जिस वेग से सर्वत्र फैलता जायगा, उसी वेग से मानवीय मूल्यों की प्रखरता भी प्रदीप्त होती जायगी।

मैं उस समाज की कल्पना करता हूँ जिसका मूलाधार समता पर टिका हुआ हो। व्यक्ति समभाव से आप्लावित होकर समदृष्टि बने तथा अपने समग्र आचरण को समता के पक्के सांचे में ढाल दे। सामाजिक शक्तियों की भी कार्य–दिशा यह हो कि वे उत्थानोन्मुख व्यक्ति को सुन्दर धरातल प्रदान करें और जब उसके चरण लड़खड़ाने लगें, उसको सदाशयता से सम्बल से पुनः गतिशील भी बना दें। इसी रूप में सर्वत्र समभाव का जागरण एक साकार रूप ले सकता है।

समभाव के गूढार्थ को हृदयंगम करते हुए मैं पुरुषार्थ करना चाहूंगा कि मैं सब प्राणियों के प्रति अपने समान विचार रखूं, अपने समान देखूं तथा अपने को प्रिय या अप्रिय लगे उसी प्रकार दूसरों को प्रिय लगने वाला व्यवहार उनके साथ करूं एवं अप्रिय लगने वाला व्यवहार न करूं। मैं अपने लिये प्रिय अथवा अप्रिय, सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दुःख दोनों प्रकार की स्थितियों में भेद नहीं करूं तथा समान भाव रखूं। किसी को भयभीत नहीं करूं तथा किसी से भय भी नहीं खाऊं। किसी वस्तु के लाभ पर न तो मैं गर्व करूं और न किसी हानि पर खेदग्रस्त बनूं। किसी भी संकट के सामने में विचलित नहीं होऊं और अपने समतामय आचरण को नहीं त्यागूं। समभाव की दृष्टि से मैं अपने अन्तर्हृदय को निरन्तर जांचता परखता रहूं और उस सम्बन्ध में किसी भी दोष को प्रविष्ट नहीं होने दूं। अपने ज्ञान, तप एवं आचरण की अभिवृद्धि के साथ मैं समभाव को परिपुष्ट करता रहूं। सुख–दुःख के अनुभवों में समभाव रखते हुए मैं राग द्वेष की कलुषितता से भी दूर रहूं और अपने मध्यस्थ भाव द्वारा दूसरों को भी समभाव की तरफ आकृष्ट अभिलाषाओं के आवेग में अथवा जीवन–मरण की कामना में भ कभी भी अपने मन, वचन तथा कर्म की साम्यता को आघात न

मैं विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊ तथा अपने उदाहरण के आदर्श से उनमें भी समभाव जगाऊं।

मैं मानता हूँ कि समभाव के इस जागरण के लिये त्याग भाव के विकास की अपेक्षा रहती हैं। त्याग स्व–कल्याण के लिये और त्याग पर–कल्याण के लिये। वास्तविक त्याग किसे कहते हैं ? वस्तुतः वही त्यागी कहलाता है जो मनोहर और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है याने कि छोड़ देता है। जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता। मूल बात यह कि यथार्थ रूप में त्याग के साथ त्याग की स्वतन्त्र एवं उच्च भावना भी होनी चाहिये। भावहीन त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं होता। त्याग–भाव के दृढ़ बनने पर सेवा और साधना की वृत्ति पनपेगी जिसका मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के सत्कार्य में सदुपयोग किया जा सकता है। एक साधक को सुख–सुविधा की भावना से निरपेक्ष रहकर उपशान्त एवं दंभरहित होकर कार्य क़रना चाहिये। उसका अपनी कामनाओं और इच्छाओं पर भी निरोध होना चाहिये। क्योंकि स्वयं ही दल–दल में फंसा रहेगा तो स्व–पर कल्याण कैसे साधेगा ?

साधना को लक्ष्य बनाकर मेरा चिन्तन भी चलता है कि मैं समभाव को केन्द्र में रखकर संयमपूर्ण साधना में निमग्न बनूं और मानवता की सरंचना में अपना योगदान दूं। मेरी साधना प्रभावशाली बन जाय, तब भी मैं पूजा प्रतिष्ठा के फेर में न पड़ूं, यश की भूख भी नहीं रखूं तथा मान–सम्मान के पीछे दौड़ता न फिरूं। अपनी साधना में जागृत रहकर प्रतिदिन रात्रि के प्रारंभ और अन्त में सम्यक् प्रकार से आत्म–निरीक्षण करता रहूं कि मैंने क्या सत्कर्म किया है तथा करणीय कर्म क्या नहीं किया है ? और वह कौनसा कार्य बाकी है जिसे मैं कर सकने में सक्षम होने पर भी नहीं कर रहा हूँ।

मैं इस प्रकार अपने पुरुषार्थ का प्रतिदिन लेखा–जोखा लेता रहूं तो मेरा विश्वास है कि मैं विपथगामी नहीं बन सकूंगा। इस लेखे–जोखे से मेरा पुरुषार्थ सक्रिय भी रहेगा तो सन्मार्ग नियोजित भी।

पुरुषार्थ का परम प्रयोग

सर्वोच्च प्रयोजन हित प्रायोजित मेरा पुरुषार्थ ज्यों–ज्यों उत्कृष्ट स्वरूप लेता जायगा, उसका प्रयोग भी परम बनने लगेगा। यह पुरुषार्थ का परम प्रयोग होगा, जो चार प्रकार से ऊर्ध्वगामी बनेगा–

(1) धर्म–जिससे सर्व प्रकारेण अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, उसे धर्म कहा जाता है। धर्म पुरुषार्थ ही अन्य सभी प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति का कारण होता है। धर्म से पुण्य कर्म का बंध तथा कर्मो की निर्जरा होती है। धर्माराधना से ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सर्वहितकारी प्रगति के दर्शन होते हैं। धार्मिक भावनाओं तथा क्रियाओं से पुण्य कर्म का बंध होता है तो पुण्य कर्म के फलस्वरूप अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। और जब धर्म के आधार पर प्राप्त अर्थ और काम का भोग भी धर्माराधना के साथ किया जाता है तो वह अर्थ और काम भी आत्मा को संसार के दल–दल में फंसाने वाला नहीं बनता, क्योंकि धर्म के प्रभाव से आत्मा का अर्थ व काम के भोग में आसक्ति भाव नहीं रहता। आसक्ति नहीं रहती तो मोह–ममत्त्व भी प्रगाढ़ रूप नहीं लेता और सामान्य मोह–ममत्त्व को आत्मा अपनी संयम साधना से जर्जरित बना लेती है तथा मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने लग जाती है। इसका कारण यह होता है कि आत्मा संयम के साथ कठोर तप का आचरण भी करती है जिससे कर्मो की निर्जरा हो जाती है। इस दृष्टि से मूल पुरुषार्थ धर्म का पुरुषार्थ होता है। अतः आत्मा–रूप पुरुष को अपने पौरुष का भान होना चाहिये तथा उसे अपना पुरुषार्थ धर्माराधना में लगाना चाहिये।

(2) अर्थ–जिससे सभी प्रकार के लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हो, वह अर्थ है। धर्म जिन के मन–मानस में रम जाता है, वैसे सद्गृहस्थ सदा अर्थ का उपार्जन न्याय और नीतिपूर्वक करते हैं। अर्थोपार्जन वे अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रमाण में ही करते हैं तथा उसका संचय भी नहीं करते। यदि किसी कारण से अतिरिक्त उपार्जन हो भी जाता है तो वे उसका तुरन्त संविभाग कर लेते हैं। वे स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, जुआ, चोरी आदि निन्दनीय उपायों का कतई आश्रय नहीं लेते हैं तथा अपनी जाति व कुल की मर्यादा एवं व्यापक जन समुदाय के हित को दृष्टि में रखते हुए नीतिपूर्वक अर्थ का अर्जन करते हैं। इस रूप में अर्जित अर्थ (धन) उनकी लालसाओं और कामनाओं को भड़काता नहीं है तथा सन्तोष की भावनाओं को स्थिर रूप से बनाये रखता है जिससे वे इस लोक में भी स्व–पर कल्याण साधते हैं तथा परलोक में भी सद्गति को प्राप्त करते हैं। न्याय और नीति से कमाया हुआ धन दो प्रकार से अर्जन करने वाले को लाभ पहुंचाता है। पहला तो यह कि उसकी उस प्रकार के धन में कोई आसक्ति नहीं होती जिसके कारण वह उसको अपने भोग विलास में खर्च करके पाप कर्म का बंध नहीं करता। दूसरे, धर्म भाव के साथ अर्जित किए हुए धन का व्यय भी

वह सदा सत्कार्यों में ही करना चाहता है जिसके परिणाम स्वरूप धर्म भाव की ही अभिवृद्धि होती है। जो गृहस्थ अन्याय और अनीति से अर्थोपार्जन करते हैं, वे धनलिप्सु बनकर क्रूरकर्मी भी बन जाते हैं। उनका धन अपने ही स्वार्थ पोषण में लगता है जिससे जीवन में विकृति बढ़ती है। कई बार तो धन–मोह इतना अंधा बन जाता है कि वह कृपण भाव से उसका अपने या अपनों के लिये भी व्यय नहीं कर पाता है। अतः धर्म– पुरुषार्थ को पहले सफल बनाया जाना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ–पुरुषार्थ भी सफलता प्राप्त करता है। वैसी अवस्था में यह अर्थ पुरुषार्थ स्व–पर कल्याण का कारण भूत बन जाता है तथा सामाजिक वातावरण में भी न्याय और नीति की अभिवृद्धि करके सभी प्राणियों में सदाशय एवं सौहार्द्र का संचार करता है।

(3) काम—मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति के द्वारा इन्द्रियों का तृप्त होना काम है। सांसारिक वातावरण में गहराई से देखा जाय तो अर्थ और काम के क्षेत्र में जितना अनर्थ होता है उतना कहीं और नहीं, क्योंकि अमर्यादित एवं स्वच्छन्द अर्थोपार्जन तथा कामाचार की वृत्ति–प्रवृत्ति के साथ ही विविध प्रकार के अन्याय एवं अत्याचार जन्म लेते हैं तथा हिंसक रूप ग्रहण करके मानवीय मूल्यों के विघातक बन जाते हैं। यों देखें तो अर्थ एवं काम सांसारिकता की मूल आवश्यकताएँ भी हैं और जिनका सब प्राणियों के लिये त्याग संभव नहीं है। ये शरीर की मुख्य संज्ञाएँ होती हैं। आवश्यक है तो यह कि अर्थ और काम के क्षेत्रों में ऐसी सुव्यवस्था की रचना की जाय कि व्यक्तिगत प्रलुब्धता बढ़ने न पावे और इन क्षेत्रों में आत्म–संयम का अटल अस्तित्व बन जाय। आज संसार की विषम समस्याओं का तलस्पर्शी ज्ञान लिया जाय तो प्रमुख रूप से रोटी और सेक्स की समस्याएँ ही अधिकांशतः दिखाई देगी। इन समस्याओं को सदा ही अनुभव किया जाता रहा है तथा सम्यक् समाधान भी निकाले जाते रहे हैं। अर्थ और काम स्वच्छन्द व अमर्यादित रूप न ले सकें–इसी दृष्टि से अर्थ और काम रूप पुरुषार्थों को विकासकारी बनाने के उद्देश्य से ही धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले रखा गया है। धर्म पुरुषार्थ के सफल होने का अभिप्राय यह लिया गया है कि मनुष्य की सकल वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में धार्मिकता एवं नैतिकता का सद्भाव फैल जायगा और तब अर्थ एवं काम के क्षेत्र में जो भी प्रवृत्तियाँ की जायगी, वे धर्म रंग में रंगी हुई होने के कारण पुरुषार्थ नाम से भी जानी जायगी और वे अर्थ व काम के सत्प्रयोजन से पुरुषार्थ की सफलता के रूप में भी सिद्ध हो जायगी। धर्म सहित अर्थ और धर्म सहित काम आत्मा को अधोगामी कभी नहीं बनायगा।

(4) मोक्ष—रागद्वेष द्वारा उपार्जित कर्मबंधन से आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये संवर और निर्जरा में उद्यम करना मोक्ष पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का परम प्रयोग मोक्ष प्राप्त करना है। इन चारों पुरुषार्थों में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया है। जो मोक्ष की परम उपादेयता स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रबलता के कारण उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते अथवा कर नहीं सकते, वे धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थों में अविरुद्ध रीति से उद्यम करते हैं, वे मध्यम पुरुष कहलाते हैं क्योंकि उच्च पुरुष वे होते हैं जो धर्म, अर्थ एवं काम के पुरुषार्थों को सफल बनाते हुए मोक्ष के परम पुरुषार्थ को सफल बनाने के लिये भी कठोर साधना करते हैं। किन्तु जो मोक्ष और धर्म रूप पुरुषार्थों की उपेक्षा करके केवल अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ में ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, वे अधम पुरुष कहलाते हैं। वे लोग बीज को ही खा जाने वाले किसान—परिवार के सामन होते हैं जो भविष्य में धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दुःख भोगते हैं।

पुरुषार्थ का अन्तदर्शन करते हुए मेरी मान्यता बनती है कि अर्थ और काम यदि सर्वदा और सर्वत्र धर्म और मोक्ष के बीच में रहें तो वे कभी भी इस संसार में अनर्थकारी नहीं बन सकते हैं। आज जो दुष्कृत्यों भरा वातावरण दिखाई दे रहा है, वह इस कारण है कि धर्म पुरुषार्थ के साथ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं किया जाता तथा मोक्ष पुरुषार्थ को विसार दिया जाता है। केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ को महत्त्व दे देने से ही ये सारी वर्तमान परिस्थितियाँ विषम एवं विश्रृंखल बनी हुई हैं। यह मूल में भूल हो रही है। धर्म पहले, फिर अर्थ और काम तथा उनका भी परम प्रयोजन मोक्ष सदा ध्यान में रहे तो वैसे अर्थ एवं काम पुरुषार्थ से भी सांसारिकता के क्षेत्र में सुव्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। अतः मेरा निश्चय है कि मैं सबसे पहले धर्म पुरुषार्थ में अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाऊं।

मैं सदा अपने पुरुषार्थ के परम प्रयोग हेतु यत्न करता रहूँ एवं मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का मनोरथ चिन्तता रहूं। मैं जानता हूँ कि मैं पुरुषार्थी हूँ, पराक्रमी हूँ। मेरा पुरुषार्थ कर्म क्षेत्र में आगे से आगे ही बढ़ना जानता है, पीछे हटना नहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि जो अपने पुरुषार्थ का परम प्रयोग करके उसको सफल बना लेता है, वही शूर पुरुष कहलाता है। मैं भी शूर पुरुष बनना चाहता हूँ ताकि मेरे पुरुषार्थ का भी अपूर्व शौर्य प्रकाशित हो सके।

आप्त वचनों के अनुसार शूर पुरुष चार प्रकार के होते हैं :

(1) क्षमाशूर—जो अपने प्रबलतम विरोधी को भी पूरी हार्दिकता से क्षमा कर देते हैं। ऐसे क्षमाशूर अरिहन्त होते हैं जिनकी अनन्त क्षमा की इस धारा युग युगों तक प्रवाहित होती रहकर आत्माभिमुखी पुरुषों को प्रबुद्ध बनाती है।

(2) तपशूर—तपशूर अनगार मुनिराज होते हैं जो अपने कठिन तप द्वारा अल्पतम समय में सचित कर्मो का अन्त कर देते हैं। वे अपने भाव शत्रु रूप कर्मों के लिये अपने आप को दृढ़ प्रहारी सिद्ध करते हैं।

(3) दानशूर—जो निरन्तर दान देने में ऐसी भव्य उदारता दिखाते हैं कि उनकी दान देने की प्रवृत्ति अन्तहीन दिखाई देती है। उनके हृदय के त्याग भाव का उत्कृष्ट रूप उनकी दानशूरता में प्रकट होता रहता है।

(4) युद्ध शूर—युद्ध शूर वे कहलाते हैं जो किसी भी प्रकार के धर्म युद्ध में अपूर्व शूरता का प्रदर्शन करते हुए विजयी बनाते हैं। वे अपने विकारों तथा संसार के विकारों के साथ समान रूप से युद्ध करते हैं।

मैं भी भावना भाता हूँ कि मैं क्षमा शूर, तप शूर, दान शूर और युद्ध शूर बनूंगा तथा अपने पुरुषार्थ के परम उत्कृष्ट स्वरूप को प्रकट करूंगा। मेरा यह पुरुषार्थ प्रयोग मेरे आत्म विकास के लिये भी होगा तथा अन्य प्राणियों के कल्याण के लिये भी क्योंकि सर्वहित से स्वहित सदा सम्बद्ध रहता है। समभाव सर्वहित का सफल संयोजक होता है अतः मेरा पुरुषार्थ सभी क्षेत्रों में सुखकारी सुव्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से समभाव से परिपूर्ण रहेगा। मैं अपनी आत्मा को विभाव क्षेत्र में से निकालने के अपने पुरुषार्थ के साथ यह प्रयत्न भी करता रहूंगा कि अन्य आत्माएँ भी अपने विभाव क्षेत्र के विकारों को समझें तथा वहाँ से बाहर निकलें। आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास मेरे भीतर और बाहर संसार में सर्वत्र हो—यह मेरा केन्द्रस्थ लक्ष्य होगा।

छठा सूत्र और मेरा संकल्प

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ, क्योंकि मेरी आत्मा पौरुषवती है, इसलिये मैं अपने सोये हुए पुरुषार्थ को जगाऊंगा और उसे धर्माराधना में इतनी प्रबलता के साथ प्रायोजित करूंगा कि मेरा वह पराक्रम और पुरुषार्थ मोक्षगामी बनकर अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्रभावान बनादे। मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं सदा अपने करणीय का चिन्तन करता रहूंगा—ज्ञेय को जानता रहूंगा तथा हेय को छोड़ते हुए उपादेय को ग्रहण करता रहूंगा। यह भी नित्यप्रति सोचता रहूंगा कि मैं क्या कर रहा हूँ और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा अबाध चिन्तन चलता रहेगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी सिद्धों जैसा ही है लेकिन अभी वह अपने ही विभावों के घेरे में फंसी हुई है जिस कारण उसका यह स्वभाव-धर्म कर्मों से आवृत्त बना हुआ है। इस आवृत्त को भेदना ही मेरे पुरुषार्थ का प्रधान लक्ष्य है। मूल स्वभाव की संस्मृति के साथ जब मेरी आत्मा अपने आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बना लेगी तो उसके स्वाभाविक गुणों का भी समुचित रीति से विकास होने लगेगा। तब वह अपने पुरुषार्थ-प्रयोग के प्रति अधिक निष्ठा एवं सक्रियता को धारण कर सकेगी। उसका संसार के वातावरण पर भी सम्यक् प्रभाव पडेगा तथा बाहरी परिस्थितियों में भी मानवीय मूल्यों की नई क्रान्ति जन्म लेगी। अतः मैं संकल्प बद्ध होता हूँ कि मैं अपने आत्म-स्वरूप तथा जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर आत्म शुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊंगा तथा शुभ परिवर्तन के समग्र रूप से प्रसार का पराक्रम प्रकट करूंगा। मेरा पुरुषार्थ अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म से आरंभ होकर मोक्ष तक अविचल गति से आगे बढता ही रहेगा और सर्वत्र समभाव को जगाता ही रहेगा।